पातञ्जलयोगसूत्र की संस्कृत-व्याख्याओं

का

एक आलोचनात्मक अध्ययन

[A Critical Study of Sanskrit Commentaries
on Pâtañjala Yoga-Sutras]

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फ़िल्० उपाधि के लिये शोध-प्रबन्ध)

शोधकर्त्री

नीलम श्रीवास्तव

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद



निर्देशक

डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव

रीडर, संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

अगस्त १९७३

पुरोवाक्

'संस्कृत' में दर्शन-वर्ग से एम०ए० करते समय मुझे शोध-कार्य के प्रति उत्साह और प्रेरणा प्रदान करने का श्रेय निश्चय ही संस्कृतविभागाध्यक्ष माननीय गुरुवर्य डा० आद्याप्रसाद जी मिश्र तथा श्रद्धेय डा० सुरेशचन्द्र जी श्रीवास्तव्य को है । घर की अनुकूल परिस्थिति तथा इन महानुभावों की सत्प्रेरणा से ही मैं इस शोध-कार्य के प्रति उन्मुख हुई और आज इन्हीं गुरुजनों के शुभाशीर्वाद के परिणाम स्वरूप इस कार्य को यथाकथंचित् पूरा भी कर सकी हूँ । इस शोध-कार्य में श्रद्धेय डा० श्री आद्याप्रसाद जी मिश्र ने समय-समय पर जो मधुर प्रेरणा प्रदान की है, एतदर्थ जितना कृतज्ञता-ज्ञापन करूँ वह कम ही होगा ।

पातञ्जलयोगदर्शन के प्रतिपाद्य विषयों के गूढ़ार्थ को समझने की आकाङ्क्षा से अनुप्रेरित होकर ही मैंने प्रस्तुत शोध-कार्य प्रारम्भ किया । इस शोध-कार्य के प्रारम्भ से समाप्ति तक मेरे निर्देशक गुरुवर्य डा० सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव्य जी ने जो सुझाव एवं साहाय्य प्रदान किया है उसी के फल स्वरूप यह कार्य पूरा होकर इस रूप में प्रस्तुत हो सका है । मैं अपने निर्देशक के स्नेहपूर्ण व्यवहार तथा निरलस सहायता के लिए आजीवन आभारी हूँ । उनकी उपकृति कृतज्ञता और आभार-मात्र से दुर्वह है ।

मैं उन सभी विद्वज्जनों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ जिनके ग्रन्थों से मैंने अर्थबोध, उद्धरण एवं प्रेरणाओं के रूप में सहायता ली है । उन सभी महानुभावों के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ। जिनकी सद्भावनाओं से मुझे सदैव शोध-कार्य में प्रबल उत्साह मिलता रहा है । अपने पूज्य परिवेश के प्रति भी मैं अपना श्रद्धा समन्वित नमन अर्पित करती हूँ जिनकी उत्साहपूर्ण प्रेरणाओं और जिनके असामान्य सहयोग से गृहस्थी की अनेक कठिनाइयों एवं बाधाओं को पार करते हुए मैं इस शोधकार्य को पूरा कर सकने में सफल हो सकी ।

अन्त में, मैं अपने टंकक महोदय के प्रति आभार प्रदर्शित करती हूँ जिन्होंने बड़ी लगन एवम् अतिशय मनोयोग के साथ टंकणकार्य सम्पन्न किया । टंकण प्रक्रिया में टंकणयन्त्र की असमर्थता के कारण पंचमाक्षर को अनुस्वारचिह्न के द्वारा ही प्रकट करना पड़ा है । विद्वज्जन इसके लिए क्षमा करेंगे ।

नीलम श्रीवास्तव

विषयानुक्रमणिका

****

संक्षिप्तीकरण - तालिका

ग्रन्थ का पूर्ण रूप	अपूर्ण रूप
तत्त्ववैशारदी	त०वै०
पातंजलयोगसूत्रवृत्ति	पा०यो०सू०वृ०
योगवार्त्तिक	यो०वा०
योगदीपिका	यो०दी०
योगसूत्रार्थबोधिनी	यो०सू०बो०
योगसिद्धान्तचन्द्रिका	यो०सि०च०
स्वामिनारायणभाष्य	स्वा०ना०भा०

— x —

विषयप्रवेश

सांख्यशास्त्र के आविष्कर्ता कपिल को योगभाष्य में ' आदिविद्वान् '[1] की संज्ञा दी गई है । योगशास्त्र के आदि प्रवर्तक के रूप में ' हिरण्यगर्भ '[2] की सुनिश्चित ख्याति है । इन कपिल और हिरण्यगर्भ की अभिन्नता महाभारत[3] काल में भी स्वीकृत थी । शंकराचार्य और वाचस्पतिमिश्र आदि विद्वानों ने भी हिरण्यगर्भ और कपिल इन दोनों नामों को एक ही ऋषि की दो संज्ञाएं स्वीकार किया है । इससे लगता है कि कपिल ने जो 'तन्त्र' अपने प्रमुख शिष्य आसुरि को सिखाया था वह जहाँ एक ओर परवर्ती सांख्य विचारधारा का मूल उत्स बना वहीं दूसरी ओर योग की प्रक्रियाओं तथा पद्धतियों के प्रचार-प्रसार का भी आदिम स्रोतिस्तम्भ बना रहा । वह तन्त्र मूल रूप में अनुपलब्ध ही है । उसकी सत्ता रही होगी – बस इतना भर निश्चित है । कपिल को सांख्य और योग दोनों का प्रवर्तक कहा गया है[4] । इससे यह तथ्य निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि कपिल प्रणीत 'तन्त्र' का सैद्धान्तिक अंश 'सांख्य ' और प्रयोगात्मक अंश 'योग ' नाम से प्रथित हुआ । इस प्रकार योग शास्त्र के सैद्धान्तिक आधार के रूप में सांख्यविचारधारा का स्वीकार होना भी उपपन्न होता है । योगभाष्यकार व्यास ने इसीलिए अपने योगभाष्य को 'सांख्यप्रवचन-भाष्य '[5] नाम दिया है ।

- -

1 - " आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच " इति ।

व्यासभाष्य (1/25) पृ0 77 ।

2 - " कपिलोऽग्रज इति पुराणवचनात् कपिलो हिरण्यगर्भो वा निर्दिश्यते "

श्वे0 उप0 शांकरभाष्य पृ0 217 ।

3 - " कपिलो नाम विष्णोरवतार विशेषः प्रसिद्धः स्वयम्भूः हिरण्यगर्भस्तस्यापि सांख्य योग प्राप्तिर्वेदे श्रूयते । स एवेश्वर आदि विद्वान् कपिलो विष्णुः स्वयम्भूरिति भावः " ।

त0 वै0 (1/25) पृ0 78 ।

4 - " कपिलं परमर्षिं यं प्राहुर्यतयः सदा ।
अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोग प्रवर्तकः । "

महाभारत ।

5 - " इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे समाधिपादः प्रथमः " ।

व्यासभाष्य पुष्पिका पृ0 132 ।

सांख्यसिद्धान्त पर आधारित इस योग प्रक्रिया का स्वरूप पहले ही उपनिषदों गीता और महाभारत आदि में यत्र-तत्र बिखरा हुआ मिलता है किन्तु इस सांख्य सम्मत योग प्रक्रिया के स्वरूप का व्यवस्थित एवं स्पष्ट विवेचन व्याख्यान और निर्धारण पतञ्जलि के पूर्व कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता । पतञ्जलि के पूर्व भी योगशास्त्र के अनेक ज्ञाता और उपदेष्टा कपिल या हिरण्यगर्भ के पश्चात् भारत में हो चुके थे, जिनमें से सिद्धार्थ गौतम को सांख्ययोग की शिक्षा देने वाले अलारकलाम ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध हैं । किन्तु इनमें से किसी ने योगप्रक्रिया को व्यवस्थित रूप में ग्रन्थबद्ध नहीं किया । यह श्रेय महर्षि पतञ्जलि को प्राप्त हुआ । पतञ्जलि के इस महनीय एवं युगप्रवर्तक ग्रन्थ को 'पातञ्जलयोगदर्शन' 'पातञ्जल योगशास्त्र' और 'पातञ्जल योग-सूत्र आदि नामों से जाना जाता है ।

योगसूत्र का स्वरूप

पातञ्जल योगसूत्र में कुल 195 सूत्र हैं, जिन्हें चारपादों में विभाजित करके प्रस्तुत किया गया है । प्रथमपाद में कुल 51 सूत्र हैं । विषय-विवेचन के आधार पर इसपाद का नाम 'समाधि-पाद' रखा गया है । इस पाद में अधोलिखित विषय प्रतिपादित किए गए हैं । योगशास्त्र का प्रारम्भ, योग का लक्षण एवं फल, चित्त-वृत्तियाँ, योग के उपाय अभ्यास और वैराग्य, सम्प्रज्ञात-समाधि, असम्प्रज्ञातसमाधि, समाधि-सिद्धि की आसन्नता, ईश्वरप्रणिधान, ईश्वर निरूपण, योग के अन्तराय, चित्त के परिकर्म, चतुर्विध समापत्तिवर्णन, निर्विचारासमापत्ति का उत्कर्ष, ऋतम्भराप्रज्ञा, ऋतम्भराप्रज्ञाजन्य संस्कार तथा निरोधसमाधि इत्यादि विषय क्रमशः सूचित किए गए हैं ।

द्वितीय-पाद का नाम साधन-पाद है । इसमें कुल 55 सूत्र हैं । पाद के प्रारम्भ में ही यह निर्देश किया गया है कि व्युत्थितचित्त वाले साधक भी योग प्राप्त कर सकते हैं । चूँकि उनकी चित्तवृत्ति चंचल होती है अतः उसके निरोध के लिए क्रियायोग का अनुष्ठान अतिरिक्त रूप से अपेक्षित है । इस पाद में क्रमशः अधोलिखित विषय संगृहीत हुए हैं ।

क्रियायोग, पञ्चक्लेशवर्णन, अविद्यालक्षण, अस्मितालक्षण, रागलक्षण, द्वेषलक्षण, अभिनिवेशलक्षण, क्लेशनिवारणस्वरूप, कर्माशयभेद, कर्मफलसिद्धान्त, दुःखवाद का विवेचन, हेयनिरूपण, हेयहेतुनिरूपण, दृश्यस्वरूप निरूपण, द्रष्टृस्वरूपनिरूपण, दृश्य की नित्यता का वर्णन, प्रकृतिपुरुषसंयोग का वर्णन, हान का स्वरूप, हानोपाय, योग के आठअंगों का निरूपण, यमों की सिद्धियाँ, नियमों की सिद्धियाँ, आसन और उसकी सिद्धियाँ प्राणायाम और उसकी सिद्धियाँ, प्रत्याहार और उसकी सिद्धि ।

तृतीयपाद का नाम 'विभूतिपाद' है । इस पाद में कुल 55 सूत्र हैं । इस पाद में प्रतिपादित मुख्य विषय यह हैं — धारणा, ध्यान, समाधि वर्णन, संयम का अन्तरंगत्व, त्रिविध चित्तपरिणाम, धर्मलक्षणावस्था परिणाम, धर्मी का स्वरूप, परिणामक्रम संयम की सिद्धियाँ, महाविदेहावृत्ति, भूतजय और उसकी सिद्धियाँ, इन्द्रियजय और उसकी सिद्धियाँ, सत्त्वपुरुषान्यताख्याति और सिद्धियाँ, देवताओं का निमन्त्रण, विवेकजज्ञान-निरूपण, कैवल्य-निर्वचन ।

चतुर्थ-पाद में केवल 34 सूत्र हैं[1] । इस पाद का नाम 'कैवल्यपाद' है । यद्यपि कैवल्य का निरूपण 'पातञ्जलयोगदर्शन' के चारों पादों में मिलता है, फिर भी कैवल्य-भागीय साधना कैवल्यानुकूलचित्त की अवस्थाओं और कैवल्य की दशा का प्रधान रूप से विवेचन इसी पाद में किया गया है । इस पाद में उपनिबद्ध विषयों में मुख्य विषय इस क्रम से हैं — पञ्चविधसिद्धियाँ, जात्यन्तर परिणाम, निर्माणचित्त, चतुर्विध कर्म-वासना, बाह्यपदार्थों की सत्ता, पुरुष में चित्तद्रष्टृत्व, जीवनमुक्त की मनोवृत्ति, धर्म-मेघसमाधि, परिणामक्रमसमाप्ति और कैवल्यस्वरूप व्यवस्था ।

- -

1.- चतुर्थपाद में सूत्रों की संख्या 34 मानने वाले आचार्य-विज्ञानभिक्षु, उनके अनुयायी तथा हरिहरानन्द आरण्य आदि हैं । भोजराज ने 16वें सूत्र को भाष्य का एक वाक्य मानते हुए इस पाद की कुल सूत्रसंख्या 33 ही स्वीकार की है । वाचस्पतिमिश्र भी इस 16वें सूत्र—'न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्'—को भाष्य के वाक्य के रूप में ही व्याख्यात किया है ।

इस प्रकार योगशास्त्र संबंधी विषयों का सैद्धान्तपूर्ण प्रतिपादन पतञ्जलिमुनि ने 195 सूत्रों में प्रतिपादित करके योगजिज्ञासु तथा योगाभिलाषी व्यक्तियों के लिए महनीय कार्य किया है। जिसके कारण युग-युग से महर्षि पतञ्जलि का नाम बड़े सम्मान तथा प्रतिष्ठा के साथ लिया जाता है।

योगसूत्र का रचनाकाल

स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि योगशास्त्र के इतिहास और अभिनव विचार प्रदान करने वाले इस ग्रन्थ का रचनाकाल क्या रहा होगा ? इसके रचयिता पतञ्जलि कौन थे, जिन्होंने अपनी सूक्ष्म व्यापक दृष्टि से इस लघुकाय सूत्र ग्रन्थ में 'योगपद्धति' को आने वाले सुदीर्घ भविष्य के लिए सर्वथा सुव्यवस्थित किया। योगसूत्रों का रचनाकाल भी भारतीय इतिहास के कालक्रम की एक दुर्बोध पहेली है। इसके कालक्रम का निर्णय करने में कतिपय पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों ने यथामति बड़ा परिश्रम किया है। इस संदर्भ में कतिपय प्रसिद्ध मतों का अनुशीलन करने के पश्चात् ही हम किसी निर्णीत तथ्य पर पहुँच सकते हैं।

दोनों पतञ्जलियों के भिन्नत्व का समर्थक मत --

इस प्रसंग में सबसे पहले जे०एच०वुड्स का मत प्रस्तुत किया जा रहा है। जे०एच०वुड्स महोदय के मत का सारांश यह है कि योगसूत्रकार पतञ्जलि और वैयाकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि दोनों पृथक्-पृथक् व्यक्ति थे। उनका कहना है कि 'द्रव्य' का लक्षण दोनों रचनाओं-योगसूत्र और महाभाष्य-में भिन्न-भिन्न मिलता है। अतः द्रव्य सिद्धान्त के आधार पर यह दोनों रचनाएँ एक ही व्यक्ति की नहीं हो सकतीं। दोनों रचनाओं के रचयिता भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व संपन्न दो भिन्न व्यक्ति ही हो सकते हैं। अपने इस विचार को तर्कसंगत सिद्ध करने के लिए वुड्स महोदय ने कुछ और तर्क भी प्रस्तुत किए हैं, जिनमें से प्रमुख यह है --

1 - जे०एच०वुड्स महोदय ने "योग सिस्टम ऑफ पतञ्जलि" नामक ग्रन्थ का प्रकाशन हार्वर्ड यूनिवर्सिटी (प्रथम संस्करण) में किया है, उसी की भूमिका में उनका यह मत उपलब्ध होता है।

1 - 'योगसूत्र' के चौथेपाद में वसुबन्धु के विज्ञानवाद का खण्डन मिलता है। अतः इस आधार पर योगसूत्रकार पतञ्जलि का जीवनकाल वसुबन्धु के पश्चात् मानना चाहिए। वसुबन्धु का जन्म विद्वानों के द्वारा चौथी श०ई० निश्चित किया गया है। अतः चौथी श०ई०के बाद ही योगसूत्रकार पतञ्जलि का जन्म माना जाना चाहिए। अतः द्वितीय श०ई०पू० में प्रामाणिक रूप से सिद्ध वैयाकरण पतञ्जलि से चौथी श०ई०के बाद के योगसूत्रकार पतञ्जलि अवश्य ही भिन्न थे।

2 - वाचस्पतिमिश्र ने भी यह स्वीकार किया है कि पातञ्जलयोगसूत्र के तृतीय और चतुर्थ अध्याय में "विज्ञानवादी विचारधारा" का खण्डन किया गया है। अतः यह मत निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लेना चाहिए कि पातञ्जल योगसूत्र की रचना विज्ञानवादीविचारक वसुबन्धु के जीवनकाल के पश्चात् हुई होगी। अर्थात् वाचस्पतिमिश्र के अनुसार भी योगसूत्रकार का समय चौथी शताब्दी ईसवी के पश्चात् का ही है।

3 - नागार्जुन के ग्रन्थों में योगसूत्रकार पतञ्जलिमुनि का कहीं भी निर्देश नहीं किया गया है अतः यही निर्णय स्वाभाविकप्रतीत होता है कि पतञ्जलिमुनि नागार्जुन के परवर्ती थे। क्योंकि यदि पूर्ववर्ती होते तो अवश्य कहीं न कहीं किसी न किसी ग्रन्थ में इनका उल्लेख नागार्जुन के द्वारा किया गया होता।

4 - जैन आचार्य उमास्वाती ने अपने ग्रन्थ 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' में योगसूत्र के तृतीय-पाद में से 22वें सूत्र का उल्लेख किया है। इस आधार पर योगसूत्रकार का जीवनकाल 'उमास्वाती' से पूर्व का मानना चाहिए। उमास्वाती का जीवनकाल छठीं शताब्दी के पूर्व में माना गया है। अतः इस आधार पर पतञ्जलिमुनि का जीवनकाल पाँचवीं शताब्दी के पूर्व में माना जाना चाहिए।

5 - श्चेर्बात्स्की ने योगसूत्रकारपतञ्जलि और वैयाकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि को भिन्न-भिन्न व्यक्ति माना है। इस सम्बन्ध में श्चेर्बात्स्की महोदय ने यह प्रमाण दिया है कि चूँकि दिङ्नाग ने अपने ग्रन्थों में ऐसा कुछ भी उल्लेख नहीं किया है जिससे दोनों रचनाओं के रचयिता की अभिन्नता सिद्ध हो। अतः दोनों पतञ्जलि को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानना ही उचित होगा।

6 - 'शिशुपालवध' में योगसूत्रों के प्रथम-अध्याय के 33वें सूत्र का उल्लेख प्राप्त है । इस आधार पर यह सुनिश्चित किया जाता है कि योगसूत्रों की रचना 'शिशुपालवध' की रचना के पूर्व हो चुकी थी । शिशुपालवध के रचयिता महाकवि माघ का जन्मकाल सातवीं शताब्दी में है अतः पतञ्जलि मुनि का जन्म निश्चय ही इनके पूर्व होना चाहिए ।

7 - योगसूत्रकार पतञ्जलि का जन्म गौड़पाद के पूर्व हुआ । इस विचार की प्रामाणिकता गौड़पाद के ग्रन्थ से सिद्ध होती है । गौड़पाद के सांख्यकारिका के भाष्य में योगसूत्र के द्वितीय पाद के 30, 32 सूत्रों का उल्लेख किया है । इससे यह सिद्ध होता है कि पतञ्जलि गौड़पाद के पूर्ववर्ती हैं और पातञ्जल योगसूत्रों की रचना गौड़पाद के पूर्व हो चुकी थी । गौड़पाद का समय 700 ई0 के आसपास का माना जाता है अतः इनके पूर्ववर्ती पतञ्जलिमुनि का जीवनकाल 700 ई0 के पूर्व का मानना चाहिए ।

इस प्रकार वुड्स महोदय के तर्कों के आधार पर 'योगसूत्रों' का रचना काल छठीं तथा पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व निर्धारित होता है ।

प्रो0जेकोबी, प्रो0कीथ इत्यादि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी महाभाष्यकार तथा योगसूत्रकार को दो भिन्न व्यक्ति माना है । इनके मतानुसार महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि, योगसूत्रकार पतञ्जलि से सर्वथा भिन्न हैं । इन विद्वानों ने योगसूत्रकार के जीवनकाल के संबन्ध में कोई विवेचन नहीं दिया है । केवल दोनों रचनाओं के रचयिताओं की भिन्नता मात्र का ही प्रतिपादन किया है । प्रो0जेकोबी ने पतञ्जलि द्वय की अभिन्नता का खण्डन जिन तर्कों के आधार पर किया है उनमें से कतिपय तर्क ये हैं ।-

1 - महाभाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रकार पतञ्जलि दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे, जिनका जन्म भिन्न-भिन्न शताब्दियों में हुआ था । पातञ्जलयोगसूत्रों के तृतीय अध्याय के सत्रहवें सूत्र में 'स्फोटवाद' के सिद्धान्त का संकेत मिलता है जिसका विस्तृत विवेचन व्यास-भाष्य में उपलब्ध है । योगसूत्रकार के पूर्व 'स्फोटवाद' का सिद्धान्त अख्यात था जिसके प्रवर्तनकर्ता महाभाष्यकार पतञ्जलि थे । इस आधार पर यह निर्णय किया गया है कि योगसूत्रकार पतञ्जलि महाभाष्यकार पतञ्जलि से भिन्न व्यक्ति थे और पर्याप्त पश्चाद्वर्ती थे ।

2 - . योगसूत्रों में अन्तःकरण के विभुत्व का स्वीकार तथा 'परमाणुओं' का विवेचन यह सिद्ध करता है कि योगसूत्रों की रचना वैशेषिक दर्शन के पश्चात् हुई। वैशेषिकदर्शन का विकास ईसा की प्रथम शताब्दी से तृतीयशताब्दी तक में हुआ। अतः योगसूत्र की रचना इसके बाद की हुई। इस प्रकार योगसूत्र के रचयिता पतञ्जलि महाभाष्यकार पतञ्जलि से कई सौ वर्ष बाद हुए होंगे।

3 - 'काल' की सत्ता को काल्पनिक और 'क्षणों' की सत्ता को वास्तविक मानना 'सौत्रान्तिक' मत का प्रभाव है। बौद्धों का सौत्रान्तिक सम्प्रदाय तक्षशिला के कुमारलात के द्वारा प्रवर्तित किया गया था। इनका समय महाभाष्यकार पतञ्जलि से बाद का है अतः योगसूत्रकार उनसे भी बाद के ठहरते हैं। इस प्रकार दोनों पतञ्जलियों का एक होना असम्भव है।

इन सब तर्कों एवं तथ्यों के आधार पर प्रो० जैकोबी ने योगसूत्रकार पतञ्जलि को महाभाष्यकार से भिन्न व्यक्ति सिद्ध किया है तथा महाभाष्यकार के पश्चात्वर्ती होने के कारण योगसूत्रकार का जीवनकाल तीसरी और चौथी शताब्दी ई० बताया है। ए०बी०कीथ महोदय भी इसी मत के समर्थक हैं।

<u>दोनों पतञ्जलियों के अभिन्नत्व का समर्थक मत—</u>

इस प्रकार की मान्यता का खण्डन करने वाले विद्वानों का अभिमत इससे भिन्न है। इन विद्वानों की दृष्टि में दोनों पतञ्जलि अभिन्न हैं। इन विद्वानों में सर्वप्रमुख नाम डा०एस०एन०दासगुप्त का है[1]। थोड़े हेरफेर के साथ डा०दासगुप्त के ही मतों का समर्थन श्री ज्वाला प्रसाद[2], रिचर्डगार्बे, श्री वी०लाबविद्या और मदकिथा शीलद[3] आदि विद्वानों ने किया है।

- -

1 - द्रष्टव्य – डा०एस०एन०दासगुप्त कृत 'योग फिलॉसफी'।
2 - द्रष्टव्य – श्री ज्वालाप्रसाद कृत 'इण्डियन एपिस्टेमोलोजी' की भूमिका।
3 - द्रष्टव्य – श्री एम०शीलदकृत 'इन्टेग्रेलिटी ऐण्ड प्रोब्लम' पृ० 37।

डा0दासगुप्त, श्री ज्वालाप्रसाद, रिचर्डगार्बे महोदय, श्री बी0लाइबिश और मरचिया आदि विद्वानों ने योगसूत्रकार और महाभाष्यकार पतञ्जलि को एक ही व्यक्ति स्वीकार किया है । इन विद्वानों के मतानुसार योगसूत्र का काल दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व सुनिश्चित हुआ है । ये विद्वान इस विचार को ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर इस प्रकार प्रमाणित करते हैं कि दोनों पतञ्जलि एक, अभिन्न व्यक्ति हैं । भाष्यकार पतञ्जलि शुंगवंशीय राजा पुष्यमित्र के समकालीन थे । अतः 'योगसूत्र' का भी समय पुष्यमित्र के समकालीन ही मानना उचित है ।

डा0दासगुप्त ने योगसूत्र के चतुर्थपाद को प्रक्षिप्त सिद्ध किया है । इनका कहना यह है कि 'योगसूत्रों' में विज्ञानवादी विचारधारा का कहीं भी खण्डन नहीं किया गया है । ग्रन्थ के जिस भाग में ऐसा खण्डन प्राप्त होता है उसे योगसूत्र के मूल भाग का अंश नहीं स्वीकार किया जा सकता । कैवल्यपाद में 14वें सूत्र[1] में विज्ञानवादी विचारधारा का खण्डन किया गया है । अतः चतुर्थपाद को मूलग्रन्थ का भाग न समझने का एक स्वरूपगत आधार भी है । वह यह है कि जब पहले, दूसरे और तीसरे पादों में 50 से ऊपर ही सूत्र हैं तो चौंतिस सूत्रों वाला यह पाद उस ग्रन्थ का भाग कैसे हो सकता है । दूसरा कारण इस पाद के प्रक्षिप्त होने का यह है कि जो विषय प्रथम द्वितीय और तृतीय-पादों में बताये गए हैं उन्हीं का पिष्टपेषण कर इस पाद में उपलब्ध होता है । इसलिए भी यह भाग मूलग्रन्थ का आवश्यक अंग नहीं प्रतीत होता । इस पाद की प्रक्षिप्तता को सिद्ध करने वाला एक अकाट्य तर्क यह भी है कि तृतीय पाद अर्थात् विभूतिपाद के अन्तिम सूत्र के अंत में 'इति' शब्द का प्रयोग हुआ है । जब कि पहले और दूसरे पाद के अन्तिम सूत्रों के अन्त में 'इति' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि तृतीय पाद के अन्त के साथ-साथ ग्रन्थ का अन्त योगसूत्रकार ने कर दिया है और चौथापाद बाद में लोगों ने जोड़ दिया । इसलिए विज्ञानवाद के खण्डन के आधार पर योगसूत्रकार पतञ्जलि को महाभाष्यकार पतञ्जलि से परवर्ती या भिन्न नहीं कहा जा सकता ।

- -

1 - ' न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् '

योगसूत्र 4/17 ।

श्री ज्वालाप्रसाद जी ने इस "विज्ञानवाद-खण्डन" वाली समस्या का एक दूसरा ही समाधान प्रस्तुत किया है । इनका कहना है कि चतुर्थपाद के प्रक्षिप्त न होने पर भी पतञ्जलि को विज्ञानवादियों के खण्डनकर्ता और उनके परवर्ती मानने की बाध्यता नहीं प्रस्तुत होती क्योंकि जिसे कैवल्यपाद का सोलहवाँ सूत्र माना जाता है वह सूत्र ही नहीं है प्रत्युत व्यासकृतभाष्य का एक वाक्यमात्र है । अतः मात्र उस पंक्ति को लेकर पूरे पाद को प्रक्षिप्त नहीं घोषित किया जाना चाहिए । उक्त पंक्ति को 'योगसूत्रों' की श्रेणी में रखा ही नहीं जा सकता । उसमें "सूत्रों" की स्वाभाविक विशेषताओं का सर्वथा अभाव है । पहले तो 'सूत्र' में क्रियापद का प्रयोग ही नहीं होता और न ही सूत्र प्रश्नोत्तरशैली में होते हैं । ये दोनों ही बातें प्रस्तुत वाक्य में विद्यमान हैं । अतः इसे योगसूत्र के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता ।

इस तथ्य की पुष्टि के लिए भोज की योगसूत्रों पर 'राजमार्तण्डवृत्ति' भी द्रष्टव्य है । यह वृत्ति योगसूत्रों पर ही है, अतः इससे ही योगसूत्रों की संख्या और प्रामाणिकता की सिद्धि हो सकती है । भोजवृत्ति में कैवल्यपाद के सोलहवें सूत्र को ग्रहण ही नहीं किया गया । इससे यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि यह वाक्य सूत्र नहीं है । भोजवृत्तिकार ने योगसूत्र के चारों पादों पर व्याख्या लिखी है । चतुर्थपाद में कुल तैंतिस सूत्रों पर व्याख्या लिखी है । उन्होंने चौंतिस के स्थान पर तैंतिस सूत्र ही स्वीकार किए हैं । चूँकि भोज ने चारों पादों पर वृत्तियाँ लिखी हैं अतः चारोंपाद मूल-ग्रंथ के अंग हैं । इस प्रकार चतुर्थपाद के प्रक्षिप्त न होने पर भी दोनों पतञ्जलियों की भिन्नता नहीं सिद्ध होती है ।

इस संबन्ध में दासगुप्त प्रभृति विद्वानों का कहना यह है कि यद्यपि नागार्जुन ने पतञ्जलिमुनि के नाम का उल्लेख नहीं किया है परन्तु 'योग' का उल्लेख दार्शनिक मतवाद के रूप में अवश्य किया है । इससे यह सिद्ध किया जा सकता है कि योगसूत्रों की रचना के पूर्व योग विषयक विचारधारायें चले ही रही हों किन्तु योग को दर्शनशास्त्र के रूप में पतञ्जलिमुनि ने ही प्रतिष्ठित किया था । अतः बहुत संभव है कि नागार्जुन ने 'योगसूत्रों' में प्रतिपादित 'योग' का ही उल्लेख किया हो । इस आधार पर यह कहना कि योगसूत्रकार पतञ्जलि नागार्जुन के परवर्ती थे हरगिज ठीक नहीं है ।

दिङ्नाग ने अपनी रचना में पतञ्जलि का उल्लेख नहीं किया है परन्तु इस आधार पर पतञ्जलि को दिङ्नाग का परवर्ती नहीं कहा जा सकता क्योंकि योगसूत्रकार पतञ्जलि एक तार्किक के रूप में प्रतिष्ठत न होकर एक क्रियात्मक साधना के व्यवस्थापक क्षेत्र में दार्शनिक जगत में प्रतिष्ठित थे इसलिए प्रतिपक्षी या मार्गदर्शी दोनों रूप में दिङ्नाग से साक्षात्सम्बन्ध न होने के कारण दिङ्नागकृत यह अनुल्लेख पतञ्जलि के कालनिर्णय में कोई भी प्रकाश डालने में सर्वथा असमर्थ है ।

योगसूत्रों में 'स्फोट' का स्पष्टतः उल्लेख नहीं है, इस लिए इस आधार पर पतञ्जलि का समय निश्चित नहीं किया जा सकता । व्यासकृतभाष्य में उपलब्ध स्फोटवाद के संकेत से यह निश्चित करना सर्वथा असंभव है कि योगसूत्रकारपतञ्जलि, वैयाकरण पतञ्जलि के परवर्ती थे । अन्तःकरण के विभुत्व के सिद्धान्त के बल पर योगसूत्रों को वैशेषिकदर्शन से प्रभावित नहीं माना जा सकता क्योंकि वैशेषिक-दर्शन में अन्तःकरण के विभुत्व का खण्डन किया गया है । इसी तरह परमाणुओं की मान्यता भी वैशेषिक प्रभाव को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है क्योंकि जैन और बौद्ध दर्शनों में भी परमाणु सिद्धान्त का विवेचन प्राप्त है । जैन और बौद्ध दर्शन का विकास महाभाष्यकार के आविर्भाव के बहुत पहले ही हो चुका था । अतः यह मानना आवश्यक नहीं है कि योगसूत्रकार ने परमाणु सिद्धान्त वैशेषिक-दर्शन से लिया हो । वस्तुतः विचार करने पर योगसूत्र के प्रथमपाद के चालिसवें सूत्र में 'परमाणु' शब्द के आ जाने से भी योगसूत्रों को परमाणु वादी कहना ठीक नहीं है । क्योंकि उक्त सूत्र में 'परमाणु' शब्द परम अणु परिमाण वाले तन्मात्रों का ही वाचक सिद्ध होता है । भाष्यकार व्यास ने पहले ही तन्मात्रों के अनन्तर 'परमाणु' का प्रवेश योग की सिद्धान्तप्रक्रिया में कर लिया है । किन्तु भाष्यकार की उक्तियों के बलपर सूत्रकार पतञ्जलि का कालक्रम निरूपण करना सर्वथा असंगत होगा ।

अब महाभाष्यकार और योगसूत्रकार को अभिन्न व्यक्ति सिद्ध करने के हेतु कुछ साधक प्रमाण दिए जा रहे हैं । छठी शताब्दी ईस्वी के वैयाकरण भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' नामक ग्रन्थ से यह स्पष्ट संकेत[1] उपलब्ध होता है कि 'वैद्यक'

- -

1. " कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समुपस्थिताः ।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ।। "
वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड 1/147 ।

"व्याकरण" और 'योग' के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं और वह हैं 'पतञ्जलिमुनि'। मुनि ने इन तीनों ग्रन्थों की रचना एक विशेषप्रयोजन से की थी। शारीरिक शुद्धि के लिए 'चरकसंहिता', वाचिक शुद्धि के लिए 'महाभाष्य' की और मानसिक शुद्धि के लिए योगसूत्रों की रचना की है। ग्रन्थों के नाम क्रम के आधार पर 'योगसूत्र' की रचना 'महाभाष्य' के बाद हुई ऐसा प्रतीत होता है।

यद्यपि पं0उदयवीरशास्त्री ने भर्तृहरि के उक्त श्लोक से ऐसा आशय निकालने का विरोध किया है। परन्तु अपने इस कथन को सिद्ध करने के लिए कोई तर्क या प्रमाण उन्होंने नहीं दिया है। भर्तृहरि के इस संभावित आशय की पुष्टि वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने भर्तृहरि की 'वाक्यपदीय' पर स्वोपज्ञ व्याख्या के इस वाक्य से की है। —

> 'यथैव हि शरीरे वाताधिक्ये दोषप्रकोपेषु च दोषप्रतीकारसामर्थ्यं बुद्ध्वा चिकित्साशास्त्रम् आरब्धम्, रागादौ च बुद्धेरप्यनवस्थानस्य नयुपघातहेतु शान्त्युपायभूतान्यध्यात्मशास्त्राणि उपनिबद्धानि, तथैवमपि साधूनाम् शब्द-संस्काराणां आपन्नार्थमपभ्रंशानां दोषप्रयातानां त्यागार्थं लक्षणमारब्धम्।"

योगसूत्र वृत्तिकार भोज ने भी महाभाष्यकार और योगसूत्रकार को अभिन्न व्यक्ति माना है। यह व्यक्ति मुनि पतञ्जलि हैं। वृत्तिकार भोज ने इस मत का निर्देश अपनी 'राजमार्तण्डवृत्ति' के प्रारम्भ में मंगलाचरण[1] में किया है।

'चरकसंहिता' के टीकाकार चक्रपाणि दत्त जो बारहवीं शताब्दी ई0 के हैं 'पतञ्जलि को ही इन तीनों ग्रन्थों का रचयिता स्वीकार किया है। उन्होंने पतञ्जलि की वन्दना करते समय उन्हें 'शेष' नाग का अवतार स्वीकार किया है और योगसूत्र, वैयाकरण महाभाष्य तथा चरकसंहिता का कर्ता स्वीकार किया है[2]।

- -

1 - "शब्दानामनुशासनं विदधता, पातञ्जले कुर्वता --
वृत्तिं राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके।
वाक्चेतोवपुषां मलः फणभृतां भर्त्रेव येनोद्धृत --
स्तस्य श्रीरणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः॥"

2 - "पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः।
मनोवाक्कायपापानां हन्त्रेऽहिपतये नमः॥"

रा0मा0वृ0मंगलाचरण।

सोलहवीं शताब्दी के प्रकाण्ड व्याकरणवेत्ता नागेशभट्ट ने अपनी 'वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा' में पतञ्जलि को ही उक्त तीनों ग्रन्थों का रचयिता स्वीकार किया है। वे लिखते हैं —

(क) " तदुक्तं चरके पतञ्जलिना सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम् "

(ख) " आप्तो नाम अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान्,
रागादिवशादपि नान्यथावादी यः सः " इति चरके पतञ्जलिः । "

वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा पृ0 12 ।

(ग) " योगसूत्रे पतञ्जलमुनेः "

महा0पस्पशा0उद्योत पृ0 58 ।

अठ्ठारहवीं शताब्दी के लेखक श्री रामभद्र दीक्षित ने अपनी रचना 'पतञ्जलिचरित' में पतञ्जलि की वन्दना इन शब्दों में की है —

" योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।।"

अर्थात् " योग द्वारा चित्त की अशुद्धि, पद से वाणी की अशुद्धि और वैद्यक शास्त्र द्वारा शरीर के मलों को दूर करने वाले मुनियों में श्रेष्ठ पतञ्जलि मुनि की वन्दना करता हूँ। " इस वन्दना के आधार पर यह प्रतीत होता है कि तीनों ग्रन्थों के रचयिता एक पतञ्जलि ही हैं।

डा0एस0एन0दासगुप्त[1] का कथन है कि उक्त तीनों ग्रन्थों की भाषशैली में पर्याप्त समानता है, अतः इस आधार पर यह स्वीकार्य है कि तीनों ग्रन्थों की रचना एक पतञ्जलि ने की होगी। महाभाष्य में कुछ स्थल ऐसे हैं जिनमें सांख्ययोग के दार्शनिक विषयों का विवेचन भरपूर मात्रा में किया गया है। इन विषयों में से कुछ विषयों के नाम ये हैं — महाभाष्य का गुणसिद्धान्त, सत्कार्यवाद, कालविषयक सिद्धान्त और बुद्धिपरिणामों का सिद्धान्त। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों के वर्ण्यविषय की समानता को

- -

1. " I have assured myself by an examination of the Mahabhasya that there is nothing in it which can warrant us in saying that the two Patanjalis can not be identified."

S.N.Das Gupta's Philosophy P.57.

देखते हुए यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि 'महाभाष्य' और 'सांख्ययोग' के रचयिता पतञ्जलि ही थे ।

भाष्यकारव्यास ने भी पतञ्जलि को ही दोनों ग्रन्थों का रचयिता माना है । इस निर्णय को सही सिद्ध करने के लिए इन्होंने दोनों ग्रन्थों की समानताओं का उल्लेख किया है । महाभाष्य का प्रारम्भ " अथ शब्दानुशासनम् " सूत्र से हुआ है । इसी तरह 'योगसूत्रों' का भी प्रारम्भिक सूत्र " अथ योगानुशासनम् " है । योगसूत्रकार पतञ्जलि को विविध भाषाओं का ज्ञान था । इनकी विद्वत्ता से ही प्रभावित होकर विद्वानों ने इन्हें सहस्रजिह्व अर्थात् शेषावतार नाम दिया होगा । इन्हें शेषावतार के अतिरिक्त फणिपति और अनन्त नाम भी विद्वानों ने ही दिया होगा । तेरहवीं शताब्दी के लेखक भीमनाथ ने योगशास्त्र को " पन्नगगवीगुम्फ" की संज्ञा दी है । पतञ्जलि नाम के यद्यपि अनेक व्यक्ति हो चुके हैं परन्तु शेषावतार रूप से प्रसिद्ध योगसूत्रकार और महाभाष्यकार पतञ्जलि ही हैं । इस तथ्य से भी योगसूत्रकार और महाभाष्यकार के रचयिता की अभिन्नता प्रमाणित होती है ।

इतना निश्चित हो जाने पर कि दोनों पतञ्जलि एक हैं हम योगसूत्रकार के जीवन के संबन्ध में निम्नलिखित बातें निर्विवाद रूप से कह सकते हैं । पतञ्जलि शुंगवंशीय राजा पुष्यमित्र के समकालीन थे क्योंकि पतञ्जलि के महाभाष्य में " पुष्यमित्रं यजामहे" । " पुष्यमित्रो राजयाजक " इत्यादि वाक्य मिलते हैं । जिनसे महाभाष्यकार पुष्यमित्र के समकालीन माने जाते हैं । पुष्यमित्र का जीवनकाल द्वितीय शताब्दी ईस्वी पूर्व है । अतः इनके समकालीन पतञ्जलि का भी समय द्वितीय शताब्दी ईस्वी पूर्व ही है ।

पतञ्जलि काश्मीर के निवासी थे । क्योंकि महाभाष्य में कुछ पंक्तियाँ ऐसी उल्लिखित हैं जिनसे यह विदित हो जाता है कि ये मूलतः काश्मीरी थे ।–

1) " काश्मीरान् गमिष्यामो देवदत्त । तत्र सक्तून् पास्यामः "
2) " अभिजानासि देवदत्त । यत् काश्मीरेषु वत्स्यामः । "

कुछ विद्वानों ने उन्हें 'गोनर्द' नामक स्थान का निवासी मान कर इन्हें 'गोनर्दीय' कहा है । किन्तु महाभाष्य का अनुशीलन, परिशीलन करने के उपरान्त

यह बात हो जाता है कि पतञ्जलि गोनर्दीय नहीं थे क्योंकि उन्होंने महाभाष्य में कई स्थानों पर गोनर्दीय आचार्य का खण्डन किया है[1]। ये कश्मीर के 'माथुर' जाति के ब्राह्मण कुल में पैदा हुए होंगे इसी लिए इनको 'शेषावतार' या 'नागराज' इत्यादि नाम कहा होगा ।

योगसूत्रकार पतञ्जलि के ही व्याकरण महाभाष्य का कर्ता होने का एक पोषक प्रमाण वैयाकरणों में आज भी प्रचलित एक परम्परा है जिसके अनुसार महाभाष्य-का पाठ प्रारम्भ करने के पूर्व निम्नलिखित मंगलपाठ किया जाता है और उस दिन तीनों मुनियों के लिए सरसों और दही की बलि दी जाती है[2]। मंगलपाठ का स्वरूप यह होता है :-

" वाक्यकारं वररुचिं भाष्यकारं पतञ्जलिम् ।
पाणिनिं सूत्रकारं च प्रणतोऽस्मि मुनित्रयम् ।।
योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि"।।

- -

1 - पातञ्जलमहाभाष्य में 'सति त्वन्यस्मिन्' वार्तिक पठित है, जिसमें 'गोनर्दीयस्त्वाह सत्यमेतत् सति तु अन्यस्मिन् इति " ।
पा०म० 1/1/29

2 - द्रष्टव्य - प्रो० एस० सुब्रह्मण्य शास्त्रीकृत "Lectures on Patanjali's Mahābhāṣya, Vol. I" — की भूमिका ।

योगसूत्र का स्वरूपगत वैशिष्ट्य

दर्शन-शास्त्र के व्यवस्थापक सूत्रग्रन्थों में पातञ्जलयोगसूत्र का एक महत्वपूर्ण स्थान है । इसका स्वरूप गत वैशिष्ट्य यह है कि यह उन सभी में छोटा है । इसमें कुल 195 सूत्र हैं । सूत्रों का आकार भी कुछ सूत्रों को छोड़कर काफी छोटा है । सूत्रों की भाषा भी अपेक्षाकृत सरल है तथा कठिन सामासिक विधियों की जटिलता से रहित है । इन सूत्रों में तर्क-वितर्क और खण्डन-मण्डन की प्रणाली का आश्रय बहुत कम लिया गया है । वैशेषिक में चित्त की स्वाभाविक एवं चित्तान्तर शून्यता आदि के प्रसंगों को छोड़कर पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष की क्लिष्टकल्पना एवं वस्तुस्थिति निर्धारण का उत्तरदायित्व अध्येताओं पर कदाचित् कहीं नहीं पड़ता । सीधी सी बात सीधे ढंग से संक्षिप्त शब्दों में कह दी जाती है । इसका बहुत कुछ श्रेय योग-दर्शन के रचनात्मक स्वभाव को है । योगदर्शन किसी मतवाद की सिद्धि के लिए अन्य दर्शनों की भांति बहुत संभ्रम के साथ नहीं प्रवृत्त होता है। अतः खण्डन-मण्डन का दायित्व उसे उतना नहीं ग्रहण करना पड़ता है उसका मुख्य लक्ष्य एक साधना पद्धति का व्यवस्थित निर्देश करना है, अतः पर्याप्त सरलता को अक्षुण्ण रखते हुए वह अपनी बात 'सूत्रशैली में प्रतिपादित करने में सर्वथा समर्थ बना रहता है । साधना क्रम के निर्वचन में एक भी तथ्य अनुक्त अथवा अनिर्दिष्ट न रहने देने के कारण योग-सूत्रों का दूसरा वैशिष्ट्य उनकी सर्वाङ्गीणता है । साधना क्रम में आने वाले सभी अंगों, उपाङ्गों तथा उनके लिए वांछित आधारों की संयोजना योगसूत्रों में अभूतपूर्व कौशल के साथ की गई है ।

इस प्रकार दुरूहता, जटिलता, संशय, भ्रान्ति, विरोधिता इत्यादि से सर्वथा अछूते तथा सर्वाङ्गपरिपूर्ण रचनात्मक अथवा क्रियात्मक पद्धति के अतिशय प्रामाणिक एवं पूर्वरूप से व्यवस्थापक इस लघुकाय किन्तु असाधु महत्वशाली दार्शनिक ग्रन्थरत्न में अपनी अद्वितीय महत्ता एवं सर्वाधिक उपादेयता के कारण भारतीय विद्वज्जगत् में अनुत्तम कीर्ति प्राप्त कर रखी है और इसी के परिणाम स्वरूप अनेक यशस्वी व्याख्याकारों एवं व्याख्याता आचार्यों के द्वारा समय-समय पर उदात्त रूप में व्याख्यान होता रहा है ।

योगसूत्र की व्याख्याओं का स्वरूप

योगसूत्र की व्याख्यायें

प्रत्येक सूत्र ग्रन्थ की व्याख्या समगत विषयों के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक होती हैं किन्तु ऐसे सूत्रों पर जो अपने प्रतिपाद्य विषय के सिद्धान्तात्मक स्वरूप के अतिरिक्त क्रियात्मक स्वरूप का भी प्रतिपादन करते हैं, व्याख्या की अनिवार्यता सर्वथा निश्चित है । योगसूत्र अपने प्रतिपाद्य विषय के क्रियात्मक स्वरूप का निर्वचन करता है अतएव योगसूत्रों पर अनेकानेक व्याख्याओं का समय-समय पर लिखा जाना अत्यन्त स्वाभाविक था । इन व्याख्यान्थों की शैली और व्याख्यापद्धति में भेद होने के कारण इनमें से कुछ को भाष्य कहा गया है, कुछ को टीका कहा गया है, कुछ वार्तिक नाम से प्रसिद्ध हुए और कुछ को वृत्ति तथा विवृति इत्यादि नाम तत् तत् व्याख्याकारों ने दिया है । इन सभी प्रकार की व्याख्याओं को सामान्य रूप से "<u>व्याख्या</u>" कहा जा सकता है । अतएव यहाँ योगसूत्रों पर उपलब्ध सभी संस्कृत व्याख्याओं के विषय में विवेचन करना समीचीन होगा । व्याख्यामात्र से इन सब का ग्रहण करने का एक ठोस आधार यह है कि व्याख्या का लक्षण यह माना जाता है :-

> " पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना ।
> आक्षेपस्य समाधानं व्याख्या पञ्चविधा स्मृता " ।।

शब्दों की व्युत्पत्ति, शब्दार्थ का कथन, समासों का विग्रह, वाक्यों का अन्वयन, और पूर्वपक्ष की उद्भावना सहित उत्तरपक्ष की स्थापना यही व्याख्या के पाँच लक्षण हैं । योगसूत्रों पर लिखे गए भाष्य, वार्तिक, वृत्ति और विवृति इत्यादि सभी व्याख्या न्यूनाधिकरूप में इन पाँचों लक्षणों से युक्त हैं, अतएव इन सभी व्याख्यानग्रन्थों को व्याख्या नाम से अभिहित किया जा सकता है । एक परम्परा के अनुसार इन सबको टीका भी कहा जा सकता है । जैसा कि राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में व्याख्याओं के प्रकारों का लक्षण बताते हुए टीका का लक्षण किया है -

> " यथासंभवमर्थस्य टीकनं टीका " ।

टीकृ धातु गत्यर्थक होती है, इसलिए 'अर्थप्रदीपनम्' का अर्थ हुआ अर्थबोध या अर्थगति कराना । सूत्र के अर्थों का बोध कराने के कारण भाष्यादि सभी व्याख्याओं को टीका शब्द से अभिहित किया जाता है । किन्तु वस्तुस्थिति संस्कृत वाङ्मय में यह रही है कि किसी भी शास्त्र के सूत्रों पर साक्षात् टीका नामकी व्याख्या कभी नहीं लिखी गयी । सूत्रों पर भाष्य लिखे जाते रहे हैं, वृत्तियाँ भी लिखी गई हैं किन्तु टीकायें भाष्यग्रन्थों, काव्यों और कारिकाओं इत्यादि पर ही प्रसिद्ध हैं-जैसे शबर के मीमांसा भाष्य के अन्तिम भाग पर कुमारिल की 'टुप्' टीका, वेदान्त के 'शांकरभाष्य' पर वाचस्पतिमिश्र की 'भामती' टीका, वैयाकरण महाभाष्य' पर वामन या जयादित्य की 'काशिका' टीका और सांख्यकारिकाओं पर वाचस्पतिमिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी या अज्ञातनामा किसी आचार्य की युक्तिदीपिका आदि टीकायें । वार्तिकों पर भी टीकाएँ लिखी गई हैं, जैसे – उद्योतकर के 'न्यायभाष्यवार्तिक' पर वाचस्पतिमिश्र की तात्पर्यटीका। इस परम्परा के अनुसार भाष्य, वार्तिक आदि ग्रन्थों को टीका शब्द से अभिहित करना उचित नहीं प्रतीत होता है।

संस्कृत भाषा में लिखी गयी योग-सूत्र की इन सभी व्याख्याओं में कुछ तो सीधे पातञ्जलसूत्र इन योग-सूत्रों के पदों का साक्षात् व्याख्यान करने वाली व्याख्यायें हैं और कुछ योगसूत्र की प्रथम व्याख्या व्यासकृत 'योगभाष्य' की व्याख्यायें होने के साथ साथ आनुषङ्गिक रूप से सूत्रगत पदों का भी व्याख्यान करती हैं । इन दो प्रकार की कृतियों में से पहले प्रकार की व्याख्याओं को 'योगसूत्र' की साक्षात्-व्याख्यायें और दूसरे प्रकार की व्याख्याओं को 'योगसूत्र' की 'परोक्ष-व्याख्यायें' कही जा सकती हैं क्योंकि इन व्याख्याओं में साक्षात् व्याख्यान तो योगभाष्य के पदों और वाक्यों का ही किया गया है ।

योगसूत्र की साक्षात्-व्याख्यायें –

योगसूत्र की साक्षात् व्याख्याओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या 'सांख्यप्रवचनभाष्य' है । यह भाष्य 'योगभाष्य' के भी नाम से प्रसिद्ध है । इसके रचयिता 'व्यास' अथवा 'व्यासदेव' नाम के कोई पुरातन मनीषी थे । इसीलिए इस भाष्य को कभी-कभी 'व्यासभाष्य' भी कहा जाता है । योगसूत्रों पर अन्य किसी

पुरातन आचार्य ने 'भाष्य' नामक व्याख्या नहीं लिखी । योगसूत्रपर दूसरी साक्षात् -व्याख्या भोजराज की 'राजमार्तण्ड' नामकवृत्ति है इसे 'भोजवृत्ति' भी कहते हैं[1]। भोजवृत्ति, योगभाष्य के समान विस्तृत तो नहीं है, किन्तु सूत्रगत पदों के स्पष्टीकरण में बड़ी सक्षम व्याख्या है । अनेक स्थलों पर योगभाष्य से भिन्न अर्थ प्रतिपादित करने के कारण योगसूत्रों के साक्षात् व्याख्यान के रूप में पतञ्जलि के मतों की सुनिश्चित रूप से बोधगम्य कराने में इसका बड़ा महत्व है ।

योगसूत्रों की साक्षात् व्याख्या के रूप में इन दो प्रसिद्ध व्याख्याओं के अनन्तर भावागणेश, नागोजीभट्ट और रामानन्दयति की वृत्तियों का नाम सामने आता है । भावागणेश की वृत्ति बहुत लघुकाय और संक्षिप्त है । इस वृत्ति की संज्ञा 'योगदीपिका'[2] है । नागोजीभट्ट के नाम से प्रचलित वृत्ति अत्यन्त संक्षिप्त और भावागणेशीय वृत्ति के शब्दों और भावार्थों का अनुकरण करने वाली है[3]। रामानन्दयति की 'मणिप्रभा' नाम की योगसूत्र वृत्ति बड़ी ही सुबोधपूर्ण एवं समीचीन शैली में लिखी गई व्याख्या है । इनके अतिरिक्त प्रसिद्ध योगसूत्र वृत्तियाँ हैं 'योगसिद्धान्तचन्द्रिका' और 'सूत्रार्थबोधिनी'[4]। इन दोनों व्याख्याओं के रचयिता नारायणतीर्थ हैं । नारायणतीर्थ ने एक ही ग्रन्थ की दो व्याख्याएँ और वह भी एक ही पद्धति में क्यों लिखी ? इस प्रश्न पर इसी अध्याय में आगे प्रकाश डाला जायेगा । अर्वाचीन संस्कृत व्याख्याओं में जो उल्लेखनीय योगसूत्र व्याख्या अध्ययन का विषय बनाने योग्य कही जा सकती है वह है 'श्रीकृष्णवल्लभाचार्य' के द्वारा विरचित 'स्वामिनारायणभाष्य'[5]।

- -

1 - श्री मथनलाल लक्ष्मी निवास चाँडक द्वारा अजमेर से 1961 में प्रकाशित ।

2 - " इति श्री भावागणेशभट्टकृतायां योगदीपिकायां पातञ्जलसूत्रवृत्तौ साधनपादो द्वितीयः "
पुष्पिका 'समाधिपाद'-महादेवगंगाधर बाके द्वारा
1917 ई० में सम्पादित 'निर्णयसागरप्रेस' बम्बई ।

3 - चौखम्बा संस्कृत सीरीज दामोदरलाल गोस्वामी द्वारा सन् 1903 में प्रकाशित ।

4 - चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से 1911 में प्रकाशित ।

5 - ज्योतिषप्रकाश विश्वेश्वरगंज, बनारस सिटी से 1939 ई० में प्रकाशित ।

योगसूत्र की तथाकथित परोक्ष-व्याख्याएँ -

इस कोटि की व्याख्याओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध व्याख्याएँ आचार्य वाचस्पतिमिश्र-कृत 'तत्त्ववैशारदी' नामक 'पातञ्जलभाष्य व्याख्या और आचार्य विज्ञानभिक्षुकृत 'योगभाष्यवार्तिक' नामक व्याख्या है । ये दोनों व्याख्याएँ योगशास्त्र के अध्ययन में अनन्य साहाय्य प्रदान करने वाली तथा योगसूत्र एवं योगभाष्य का अर्थबोध कराने में अतुल्य माहात्म्य वाली मानी जाती हैं । योगशास्त्र के दो प्रमुख वैचारिक-सम्प्रदायों का नेतृत्व भी यही दोनों व्याख्याएँ करती हैं । योगभाष्य के माध्यम से परम्परया योगसूत्र का अर्थबोध कराने के कारण भले ही इनका वर्गीकरण योगसूत्र की परोक्ष व्याख्याओं के रूप में किया जाय किन्तु इनके निरतिशय महत्त्व के कारण योगशास्त्र का कोई भी अध्ययन इन दो व्याख्याओं को अन्तर्भावित किए बिना अधूरा एवं विकलाङ्ग ही माना जायेगा ।

इस कोटि के व्याख्याग्रन्थों में शङ्करकृत 'पातञ्जलयोगसूत्रभाष्य विवरण' और अपेक्षाकृत पर्याप्त अर्वाचीन श्री हरिहरानन्द आरण्यकृत 'भास्वती' नाम की टीका भी बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं । इनमें से 'भास्वती' टीका तो पर्याप्त ख्यातिलब्ध और विद्वज्जनविदित है किन्तु 'विवरण' की प्रसिद्धि उतनी नहीं है । विवरण के रचयिता कोई 'आचार्यशंकर' थे किन्तु इन्हें 'शारीरकभाष्य' कर्ता आचार्य शंकर से अभिन्न मानना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है ।

- -

1. चौखम्भा संस्कृत सीरिज़ वाराणसी से 'सांख्ययोगदर्शनम्' नामक ग्रन्थ में अन्य कई व्याख्याओं सहित सन् 1934 ई0 में, और 'पातंजलयोगदर्शनम्' नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत योगसूत्र, व्यासभाष्य और 'योगवार्तिक सहित 'भारतीय विद्याप्रकाशन' वाराणसी से सन् 1971 में प्रकाशित । तत्त्ववैशारदी के और भी कई संस्करण अनेक स्थलों से प्रकाशित मिलते हैं ।

2. मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियण्टल सीरीज़ मद्रास से सन् 1952 में प्रकाशित ।

तथाकथित परोक्षव्याख्याओं की अपेक्षणीयता —

इन व्याख्याओं में यद्यपि भाष्य के पदों तथा वाक्यों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन हुआ है किन्तु फिर भी ये व्याख्याग्रन्थ सूत्र के पदों का अर्थबोध, सूत्र में प्रयुक्त पदों की संगति, उपयोगिता एवम् उपादेयता अलग से भी निरूपित करते हैं । इस तथ्य को तत्त्ववैशारदी योगवार्त्तिक, विवरण और भास्वती - इन चारों व्याख्याओं में प्रत्येक स्थल पर देखा जा सकता है । विशेषकर उन स्थलों पर जहाँ किसी सूत्र की स्पष्टार्थता के कारण या तो योगभाष्य है ही नहीं और यदि है भी तो अत्यन्त अल्पाक्षर । ऐसे सूत्र अधोलिखित हैं —

1) "प्रमाणविपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतयः ।" — समाधिपाद 6 ।

2) "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार —
धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।" — साधनपाद 29 ।

3) "अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।" - साधनपाद 30 ।

4) "सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ।" — साधनपाद 42 ।

इनमें से नं0 1 सूत्र की उत्थानिका तो भाष्यकार ने 'ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाः पञ्चधा वृत्तयः' रूप में दी है किन्तु इस सूत्र पर भाष्यकार ने व्याख्या नहीं की है, फिर भी 'तत्त्ववैशारदी'-कार ने इसकी व्याख्या की है —

" ताः स्वसंज्ञाभिरुद्दिशति - प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।
निर्देशो यथावचनं विग्रहः । चार्थे द्वन्द्वः समास इतरेतरयोगे - - - - ।
एतावत्य एव वृत्तयो नापराः सन्तीति संख्या भवति । "

त0वै0पृ0 28 ।

योगवार्त्तिककार भी इस सूत्र का व्याख्यान करते हैं —

" पूर्वसूत्रेण सह योजनार्थं ताः क्लिष्टाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तय' इति
पूरयित्वोत्तरं सूत्रं पठेत -प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।सुगमं सूत्रम् । '

यो0वा0पृ0 28

इस सूत्र का व्याख्यान करते हुए 'विवरण कार' और 'भास्वती'कार क्रमशः कहते हैं —

" काः पुनस्ताः क्लिष्टाक्लिष्टाः पंचप्रकारावृत्तय इत्याह — 'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय' इति । एतावत्य एव वृत्तयः । 'विवरण पृ० 18 ।

" प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः "इतिपंचवृत्तयः क्लिष्टा भवन्ति, अक्लिष्टा वा भवन्ति, चित्तस्य प्रवृत्तिनिवर्तकस्वभावात् यथा स्वर्ग क्लिष्ट' वा प्रमाणं क्लिष्टं रागद्वेष निवर्तकप्रमाणमक्लिष्टम् । "

इसी सूत्र की भाँति अन्य तीनों सूत्रों पर भी इन व्याख्याओं ने भाष्यनिरपेक्षरूप से पूरा अर्थनिर्वचन किया है । इतना ही नहीं समस्त सूत्रों पर भाष्य से अलग इन व्याख्याकारों ने व्याख्या की है । शैली यह अपनाई गई है कि पहले सूत्र का सप्रयोजन पाठ किया जाता है, फिर उसकी व्याख्या की जाती है । इसके अनन्तर 'व्याचष्टे' 'तद्व्याचष्टे' और 'विवृणोति' इत्यादि पदों के द्वारा भाष्य का अर्थनिर्वचन प्रारम्भ किया जाता है । उदाहरणार्थ एक-एक स्थल यहाँ स्थालीपुलाकन्याय से उद्धृत किए जाते हैं :—

तत्त्ववैशारदी —

" अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः' । प्रमाणादिभिरनुभूते विषये योऽसम्प्रमोषोऽस्तेयं सा स्मृतिः । संस्कारमात्रजन्यं हि ज्ञानस्य संस्कारकारणानुभवावभासितो विषय आत्मीयः, तदधिकविषयपरिग्रहस्तु संप्रमोषः स्तेयं । कस्मात् साधर्म्यात्, मुष स्तेये इत्यस्मात् प्रमोषपदव्युत्पत्तेः । एतदुक्तं भवति - - - - सोऽयं वृत्त्यन्तराद्विशेषः स्मृतेरिति । विवृणोति किं प्रत्ययस्येति । " पृ० 43 ।

योगवार्त्तिकम् —

" परिकर्मनिष्पत्तिफलमाह - 'परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः' । अथ परिकर्मितचेतसः परमं महत्त्वं येषां पुरुषादीनां ते परममहान्तः । व्याचष्टे सूक्ष्मेऽल्पपरिमाणे चित्तस्य निवेशनमवस्थानमभीप्सोरित्यर्थः । "

विवरणम् :-

" इदानीं विकल्पं सूत्रयति - शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः । शब्दस्य ज्ञानं शब्दज्ञानम्, वाच्यवाचकनियमेन शाब्दसाधुज्ञानम्, तदनुपतितुं शीलमस्येति शब्दज्ञानानुपाती । वस्तुशून्य इति । यथावाच्यार्थशून्यः, यथा शब्दस्य ज्ञानमनुपतति तथावाच्यस्य यथाभूतान्वियेन शून्य इति यावत् । यथाभूतार्थव्यतिरेकेण हि विकल्पनं विकल्पः । तथा हि शब्दज्ञानानुपातित्वादागमान्तः पातित्वं प्राप्तम्, अत आह । "

पृ० 35 ।

भास्वती –

" तत्र प्रारिप्सितस्य योगशास्त्रस्य प्रथमं सूत्रम् –
' अथयोगानुशासनमिति ' शिष्टस्य शासनमनुशासनम् । "

पृ० २.

इस विवेचन से योगसूत्र की इन चारों तथा-कथित परोक्ष व्याख्याओं की उपादेयता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । साथ ही यह भी स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि भले ही 'योगभाष्य' की व्याख्याओं के रूप में इनका ग्रहण किया जाए, तथापि 'योगसूत्र' की व्याख्याओं के रूप में भी अलग से इनका ग्रहण न किया जाना वस्तुस्थिति की उपेक्षा करना ही होगा । जब योगसूत्रों पर स्वतन्त्र रूप से इनमें व्याख्यान किया गया है, योगसूत्रों के अभिप्राय, प्रयोजन एवं प्रतिपाद्य का अलग से विवेचन किया गया है और योगसूत्र के पदों की यथोचित व्युत्पत्ति एवम् अर्थपरकता निरूपित की गई है तो इन्हें 'योगसूत्रों की 'परोक्षव्याख्या' का स्तर देना भी संगत नहीं प्रतीत होता अतः ये चारों भी योगसूत्रों की व्याख्या परम्परा में निर्विवाद रूप से परिगृहीत की जानी चाहिए । इस प्रकार पहले प्रकार की योगसूत्रव्याख्याओं से इनका अन्तर साक्षात् और परोक्ष होने का नहीं प्रत्युत योगसूत्रमात्र की व्याख्या और योगसूत्र की व्याख्या होने के साथ-साथ योगभाष्य की भी व्याख्या होने का है । निष्कर्षतः इन चारों व्याख्याओं का निरतिशय महत्त्व एवम् अनल्पउपादेयत्व दृष्टि में रखते हुए और योगसूत्रों के स्वतन्त्र व्याख्यानपरक होने से इनको भी 'योगसूत्रों' की संपूर्ण व्याख्याओं के रूप में समीचीन विवेचन किया गया है ।

उक्त सभी दृष्टियों से विचार करने पर योगसूत्रों की अधोलिखित व्याख्याएँ इस शोधनिबन्ध में यथायथ विवेचित की गयी हैं :-

1 - योगभाष्यम् - व्यासदेवकृतम् ।
2 - तत्त्ववैशारदी - वाचस्पतिमिश्रकृता ।
3 - राजमार्तण्डवृत्तिः - भोजराजकृता ।
4 - विवरणम् - शंकरकृतम् ।
5 - योगवार्तिकम् - विज्ञानभिक्षुकृतम् ।
6 - योगदीपिकावृत्तिः - भावागणेशकृता ।
7 - पातंजलयोगसूत्रवृत्तिः - नागोजीभट्टकृता ।
8 - मणिप्रभा - रामानन्दयतिकृता ।
9 - योगसिद्धान्तचन्द्रिका - नारायणतीर्थकृता ।
10 - योगसूत्रार्थबोधिनी - नारायणतीर्थकृता ।
11 - भास्वती - हरिहरानन्दआरण्यकृता ।
12 - स्वामिनारायणभाष्यम् - श्रीकृष्णवल्लभाचार्यकृतम् ।

योगसूत्रों पर कुछ अन्य छोटी-छोटी साधारण व्याख्याएँ आधुनिक काल में भी लिखी गयी हैं । अर्वाचीन पण्डितों की इन अप्रसिद्ध व्याख्याओं में से आफ्रेक्ट के 'केटालागस कैटालागोरम' में संकीर्तित (1) अनन्तकृत 'योगसूत्रार्थचन्द्रिका' (2) सदा-देवकृत 'पातंजलीयाभिनवभाष्य' (3) क्षेमदेवकृत 'योगसूत्रवृत्तिटिप्पण' (4) उमा-पतिकृत 'योगसूत्रवृत्ति' (5) ज्ञानानन्दकृत 'योगसूत्रार्थवृत्ति' (6) शिवशंकरकृत 'योगसूत्रवृत्ति' और (7) सदाशिवब्रह्मेन्द्रकृत 'पातंजलसूत्रवृत्ति' या 'योगसुधाकर' का उल्लेख किया जा सकता है । किन्तु इन व्याख्याओं में न तो अपेक्षित अर्थस्पष्टीकरण का यत्न किया गया है और न ही कोई नयी तात्त्विक जानकारी का ही आविष्करण हुआ है । कदाचित् इसी नगण्यता के परिणामस्वरूप और पाण्डुलिपियों की अनुपलब्धता तथा त्रुटिपूर्णता के हेतु से किसी ने इन्हें प्रकाशित कराने की भी चेष्टा नहीं की । इनमें से अनेक तो आफ्रेक्ट के द्वारा संकीर्तित मात्र हैं और सम्बन्धित पुस्तकालयों से सम्पर्क करने पर मुझे तो निराशा ही हाथ लगी , इनके अस्तित्व के संबन्ध में भी मुझे

कोई निर्णयात्मक उत्तर नहीं प्राप्त हो सका । अतः ऊपर समीक्षा श्रेणी में गिनाई गयी भाष्य एवं तत्त्ववैशारदी आदि बारह आकर व्याख्याओं की महत्ता एवं मौलिकता का विचार करते हुए प्रबन्ध के द्वारा इन संकलित अर्वाचीन टीका-टिप्पणियों की आलोचना प्रस्तुत निबन्ध में नहीं की जा सकी ।

योगसूत्र की व्याख्याओं का कर्तृत्वनिरूपण एवं कालनिर्धारण

योगभाष्यम् –

योगसूत्रों[1] के प्रथम व्याख्यान 'योगभाष्य' अथवा 'सांख्यप्रवचनभाष्य' के रचयिता 'व्यास' या 'व्यासदेव' हैं । ये व्यास कौन थे और कब थे– यह निर्णय करना कठिन है । भारतवर्ष में 'व्यास' नाम से सर्वाधिक प्रसिद्ध व्यक्तित्व 'वेदव्यास' का है जिन्होंने वेदों की व्यवस्थिति की, महाभारत की रचना की और वेद में उपनिबद्ध अर्थों का पुराणों में व्याख्यान किया है । ये व्यास वेदव्यास या कृष्णद्वैपायन व्यास कहे जाते हैं । देखना यह है कि क्या यही व्यास योगभाष्य के भी रचयिता हो सकते हैं ? तत्त्ववैशारदीकार वाचस्पतिमिश्र योगभाष्यकार व्यास को महाभारतकार कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ही मानकर मंगलाचरण में इस प्रकार की कल्पना करते हैं ।–

" नत्वा पतञ्जलिमृषिं वेदव्यासेन भाषिते ।
संक्षिप्त स्पष्टबहुर्था भाष्ये व्याख्या विधीयते ।।" [2]

परन्तु [3]संस्कृत साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने पर 'योगभाष्य' के रचयिता व्यास तथा 'महाभारत' के रचयिता वेदव्यास भिन्न - भिन्न व्यक्ति निर्धारित होते हैं । महाभारत की रचना योगसूत्रों से बहुत पूर्व की है । योगसूत्रों का रचनाकाल दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व निश्चित किया गया है । तृतीय-शताब्दी ईसवी पूर्व में सीलोन में गयी बौद्ध पुस्तकों में महाभारत का उल्लेख प्राप्त है । इसके आधार पर महाभारत का काल तृतीय शताब्दी ईसवी से पूर्व का ही निर्धारित किया गया है । इतना तो सर्वमान्य है कि महाभारत के रचयिता कृष्णद्वैपायन व्यास थे

---

1 - द्रष्टव्य - पुष्पिकाएं चारों पादों के भाष्य के अन्त में ।
2 - द्रष्टव्य - तत्त्ववैशारदी का मंगलाचरण श्लोक संख्या 2 ।
3 - द्रष्टव्य - संस्कृत साहित्य का इतिहास - बलदेव उपाध्याय ।
4 - द्रष्टव्य - "शतसाहस्त्री संहितायां वेदव्यासेनोक्तम्" ।

'महाभारत' और योगसूत्रों के रचनाकाल में अनेक शताब्दियों का अन्तर है । महाभारत के कम से कम 600 वर्ष बाद योगसूत्रों की रचना हुई और उसके बाद उसपर भाष्य लिखा गया अतः यही मानना तर्कसंगत एवं बुद्धिगम्य है । 'योगभाष्य' के रचयिता और 'महाभारत' के रचयिता सर्वथा भिन्न व्यक्ति थे । भले ही दोनों ग्रन्थकारों का नाम व्यास ही रहा हो ।

योगभाष्यकार कौन थे ? इस सम्बन्ध में विज्ञानभिक्षु का कहना है कि बादरायण व्यास ने ही 'योगभाष्य' की भी रचना की है किन्तु 'ब्रह्मसूत्रों' में आये हुए 'एतेनयोगः प्रत्युक्तः' सूत्र के द्वारा योगमत का खण्डन देखकर यह विश्वास नहीं होता कि योगशास्त्र को भ्रान्त समझने तथा भ्रान्त सिद्ध करने वाले बादरायणव्यास ने 'योगभाष्य' लिखा होगा । योगभाष्य में योग के प्रति महान आदर एवं उत्कृष्ट श्रद्धा भी " सांख्ययोगाचार्यमुख्यानाः । " और " तत्रभवान् योगिन एवं फलसन्यासादकृत्वा वानुपाकामात् । " इत्यादि अनेक वाक्यों से प्रकट होता है जिससे लगता है कि योगभाष्य के रचयिता व्यास और ब्रह्मसूत्र के कर्ता व्यास एक व्यक्ति नहीं हो सकते । सच तो यह है कि किसी दर्शन को प्रवर्तित करने वाले सूत्रग्रन्थ की रचना करने वाला कोई व्यक्ति किसी दूसरे दार्शनिक प्रस्थान पर सूत्र या भाष्य लिख ही नहीं सकता क्योंकि दो विरोधी दर्शनों की व्याख्या करना एक व्यक्ति के द्वारा तो संभव है परन्तु दो विरोधी दर्शन प्रवर्तित करना सर्वथा असम्भव है । इसलिए योगभाष्य के रचयिता व्यास को बिना किसी ज़ोरदार आन्तरिक साक्ष्य के ब्रह्मसूत्र के रचयिता बादरायणव्यास से अभिन्न नहीं माना जा सकता । इस संबन्ध में जैसे वाचस्पतिमिश्र का वाह्य साक्ष्य योगभाष्यकर्ता व्यास को कृष्णद्वैपायनव्यास सिद्ध करने में समर्थ नहीं है उसी प्रकार विज्ञानभिक्षु के द्वारा अभीष्ट योगभाष्य के रचयिता का बादरायणव्यास होना भी सर्वथा तर्कहीन एवं भिन्नमात्र बात है ।

फलतः यही स्वीकार करना निर्दोष प्रतीत होता है कि योगभाष्य के रचयिता वेदव्यास और बादरायणव्यास दोनों से भिन्न कोई अन्य व्यास थे । किन्हीं पाण्डुलिपियों में इन व्यास को व्यासदेव भी कहा गया है । बहुत संभव है कि यह 'देव' शब्द व्यास के प्रति आदरातिशय का द्योतक मात्र हो । अब प्रश्न यह उठता है कि यह व्यास कब हुए और कब इन्होंने अपने योगभाष्य की रचना की ।

इस विषय में प्रचलित सबसे प्रमुख मान्यतायें जे०एच०वुड्स महोदय के द्वारा अपने " योगसिस्टम ऑफ पतंजलि " नामक ग्रन्थ की भूमिका में इस प्रकार प्रस्तुत की गई है ।

जे०एच०वुड्स ने व्यासभाष्य का समय चौथी शताब्दी ईस्वी के पश्चात् मानते हुए यह कहा है कि व्यासभाष्य में वार्षगण्य के मतों का उल्लेख मिलता है । वार्षगण्य वसुबन्धु के समकालीन थे । वसुबन्धु का समय तीसरी - चौथी शताब्दी ईस्वी है । अतः उनके समकालीन वार्षगण्य के मतों का उल्लेख होने के कारण 'व्यास-भाष्य' का समय भी चौथी शताब्दी ईस्वी है अतः उनके समकालीन वार्षगण्य के मतों का उल्लेख होने के कारण 'व्यासभाष्य' का समय भी चौथी शताब्दी ईस्वी के बाद होना चाहिए । परन्तु वुड्स महोदय का यह विचार ठीक नहीं है क्योंकि वार्षगण्य महर्षिपाणिनि से भी प्राचीन आचार्य थे । क्योंकि पाणिनि ने "गर्गादि-भ्योयञ् " सूत्र के उदाहरण में 'वार्षगण्य' पद को उद्धृत किया है । पाणिनि का समय सातवीं ई०पूर्व है अतः वार्षगण्य का समय इससे भी पूर्व का निश्चित होना चाहिए । इस प्रकार 'वार्षगण्य' के उल्लेख के आधार पर व्यासभाष्य को वसुबन्धु के बाद का मानना सर्वथा अनुचित है ।

माघ के 'शिशुपालवध' में एक श्लोक ऐसा प्राप्त होता है जिसमें योगसूत्र 24वें पर लिखे भाष्य की पंक्तियों का प्रभाव दिखाई पड़ता है, अतः योग-भाष्य निश्चय ही माघ से बहुत पूर्व की रचना है । माघ का समय सातवीं शताब्दी ई० है अतः योगभाष्य की रचना सातवीं शताब्दी ई० से बहुत पूर्व की होनी चाहिए ।

योगभाष्य में अनेक स्थलों पर 'विज्ञानवाद' का खण्डन हुआ है । विज्ञान वाद तृतीय शताब्दी ई० में मैत्रेयनाथ के द्वारा प्रतिष्ठित एवं व्यवस्थित किया जा चुका है इसलिए तीसरी शताब्दी ई० के पहले योगभाष्य की रचना मानी ही नहीं जा सकती और न तो विज्ञानवाद के खण्डन के आधार पर योगभाष्य को 'वसुबन्धु' के बाद का मानना ही आवश्यक है क्योंकि वसुबन्धु विज्ञानवाद के पहले आचार्य नहीं थे।

योगभाष्य में आयी हुई पंक्ति - " यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चैकस्थाने । " (यो0भा0 3/13) से सूचित दशमलव पद्धति के प्रयोग के कारण 'योगभाष्य' को छठीं शताब्दी ई0 के बाद की रचना मानना भी जे0एच0 वुड्स महोदय की बड़ी भूल है, क्योंकि दशमलव पद्धति का प्रयोग और शून्य का उपयोग भारतवर्ष में ई0 की पहली शताब्दी में ही हो चुका था ।

तीसरी शताब्दी ई0 के आचार्य वात्स्यायन ने अपने न्यायसूत्रभाष्य (न्यायसूत्र 1, 2, 6 पर भाष्य) में योगभाष्य के एक वाक्य को उद्धृत किया है । " सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात् [1]अपेतोऽप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् । " यह पंक्ति यत्किञ्चित् अन्तर के साथ योगसूत्रभाष्य 3/13 की है । पाँचवीं शताब्दी ईस्वी के आचार्य दिङ्नाग ने अपने प्रमाणसमुच्चय नामक ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर वात्स्यायन भाष्य के अनेक अंशों की आलोचना तथा खण्डन किया है । इसलिए न्यायभाष्यकार वात्स्यायन का समय चौथी शताब्दी ई0 के बाद का नहीं माना जा सकता । फलतः योगभाष्यकार का समय अधिक से अधिक तीसरी शताब्दी ई0 के बाद का नहीं मानना चाहिए ।

- -

1 - द्रष्टव्य - " हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न " पृ0 432, 433 ।

तत्ववैशारदी

'योगभाष्य' के माध्यम से योगसूत्रों पर पहली व्याख्या 'तत्ववैशारदी' है । इसकी रचना वाचस्पतिमिश्र ने की है । वाचस्पतिमिश्र के संबन्ध में जिज्ञासा होती है कि ये वाचस्पतिमिश्र कौन थे ? भारतीयदर्शन साहित्य में वाचस्पतिमिश्र नाम के तीन व्याख्याकारों का नाम मिलता है । वाचस्पति द्वितीय श्री हर्ष से नवीन थे क्योंकि श्री हर्ष के 'खण्डनखण्डखाद्य' पर इन्होंने 'खण्डनोद्धार' नामक टीका लिखी है । इनकी कृतियों से इनका समय निर्धारित होता है । वाचस्पति तृतीय सबसे अर्वाचीन थे । इन्होंने 'विवादचिन्तामणि' 'व्यवहारचिन्तामणि' 'शुद्धिचिन्तामणि' 'तीर्थचिन्तामणि' इत्यादि ग्रन्थ लिखे हैं । प्रथम वाचस्पतिमिश्र का नाम भारतीयदर्शन में अत्यधिक आदर और सम्मान के साथ लिया जाता है । इन्होंने आस्तिक तथा नास्तिक सभी दर्शनों पर विवेचनात्मक टीकाएँ लिखी हैं और यही कारण है जिससे ये 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं । इनके लिखे हुए ग्रन्थों के नाम इस प्रकार है ।—

1 - न्यायकणिका ।

2 - तात्पर्यटीका ।

3 - तत्वबिन्दु ।

4 - भामती ।

5 - तत्ववैशारदी ।

वाचस्पतिमिश्र प्रथम के विद्यागुरु त्रिलोचन थे । त्रिलोचन का समय महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज जी ने नवीं शताब्दी ईसवी निर्धारित किया है । वाचस्पतिमिश्र के हृदय में अपने गुरु के प्रति असीम श्रद्धा थी । वाचस्पतिमिश्र प्रथम को ही वृद्धवाचस्पति की भी संज्ञा दी गयी है । इनके संबन्ध में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि महानुवार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने शांकरभाष्य पर टीका लिखने का निश्चय किया था परन्तु वे लिख नहीं सके और इस कार्य को किए बिना ही उनका देहावसान हो गया । अपनी इसी अतृप्त इच्छा को पूरा करने के लिए उन्होंने वाचस्पतिमिश्र प्रथम के रूप में जन्म लिया । किन्तु इस तथ्य का इतिहास से कोई संबन्ध नहीं हो सकता । वाचस्पतिमिश्र ने

अपने विषय में अधोलिखित श्लोक के अतिरिक्त कोई उल्लेख नहीं किया है ।

" न्यायसूची निबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे ।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे ॥

न्याय सूची निबन्ध ।

इस श्लोक के आधार पर इनका समय 898 विक्रम संवत् अर्थात् 841 ई0 के आसपास का माना जाता है । वाचस्पतिमिश्र का जन्म इनके अनुसार नवीं शताब्दी है और ' तत्त्ववैशारदी ' की रचना का काल भी नवीं शताब्दी ही निश्चित होता है । वाचस्पतिमिश्र मिथिला के रहने वाले थे 'तस्मिन् महीपे महनीय कीर्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः ।" इस वाक्य के आधार पर नृग नामक राजा के दरबार के विद्वद्रत्न थे ।

'तत्त्ववैशारदी' में योगशास्त्र सम्बन्धी सभी दार्शनिक विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है । जिन सूत्रों का स्पष्टीकरण योगभाष्य में नहीं प्राप्त होता है उनकी भी व्याख्या 'तत्त्ववैशारदी' में उपलब्ध होता है । संक्षेप में यह कहना अयुक्तिपूर्ण नहीं होगा कि 'तत्त्ववैशारदी' योगभाष्य के जटिल रहस्यों को उद्घाटित करने वाली अनुपम व्याख्या है ।

राजमार्तण्डवृत्ति

धारेश्वर भोजराज विरचित 'राजमार्तण्डवृत्ति' योगसूत्रों पर साक्षात् वृत्ति है। 'राजमार्तण्डवृत्ति ही 'भोजवृत्ति' के नाम से भी प्रसिद्ध है। भोज की जीवनी के संबन्ध में निर्णय करना बहुत दुष्कर नहीं है। यद्यपि[1] भारतीय इतिहास में अनेक वंशों में उत्पन्न अनेक 'भोज' वर्णित हुए हैं तथापि उनमें से 'योगसूत्रों' पर वृत्ति लिखने वाले भोज कौन थे और उनका जन्म कब हुआ था यह ज्ञातव्य है। प्रो०ए०बी०कीथ के अनुसार धारानरेश भोजदेव का समय 11वीं शताब्दी ईसवी का उत्तरार्ध हो सकता है[2]। भोज ने शृंगार प्रकाश तथा 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक ग्रन्थों की भी रचना की थी। एस०के०डे ने अपनी पुस्तक में धाराधीश भोज का समय 1010 ई० से 1055 ईसवी तक माना है[3]। डा०दास गुप्त ने इस वृत्ति का समय 10वीं शताब्दी बताया है। प्रो०विरियन्ना ने 'भोजवृत्ति' का समय 1000ई० निर्धारित किया है। प्रो०वुड्स की सूचना इस विषय में यह है कि यद्यपि अनेक भोजदेव हो चुके हैं, परन्तु धाराधीश जिनको उनकी विविध रचनाओं के कारण पतञ्जलि की समता प्राप्त हुई है वे ही 'राजमार्तण्ड' नामक वृत्ति के रचयिता हैं जिनका समय 10वीं शताब्दी ईसवी है[4]।

---

1 - उक्त निर्देश के लिए वी०वेस्टर्न हेमन की लिखी पुस्तक " दि भोजाज़ " पृ० 190 ।

2 - द्रष्टव्य - 'लौकिक संस्कृत साहित्य' — ए० बी०कीथ ।

3 - द्रष्टव्य - ' हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स " भाग 1 पृ० 147 ।

4 - वुड्सकृत 'योगसिस्टम् ऑफ पतंजलि ' पृ० 14

इस प्रकार धारेश्वरभोज का जीवन-काल दसवीं शताब्दी ईसवी को निर्धारित होता है । अतः भोजकृत 'राजमार्तण्डवृत्ति' का भी रचनाकाल दसवीं शताब्दी में ही माना जाना चाहिए । 'योगसूत्रों' पर की गई यह व्याख्या ग्रन्थ 'योगभाष्य' की तुलना में संक्षिप्त है परन्तु सूत्रों के अर्थ का स्पष्टीकरण करने में यह वृत्ति बड़ी सहायक है । इसीलिए विद्वानों के बीच इस वृत्ति का भी बहुत आदरणीय स्थान है ।

योगसूत्रभाष्यविवरण –

विवरणकार शंकर के जीवनकाल के बारे में कोई यद्यपि संकेत दुष्प्राप्य है, अतः यह किस शताब्दी के दार्शनिक है, यह कहना अत्यन्त दुष्कर कार्य है । हाँ इतना तो निश्चित है कि ये शंकर आठवीं शताब्दी के अद्वैत-वेदान्ती शंकराचार्य से सर्वथा भिन्न हैं । इस संबन्ध में कई ऐसे तथ्य मिलते हैं जिनसे यही विश्वास होता है कि दोनों शंकर भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व वाले थे । सर्व-प्रथम इन दोनों दार्शनिकों के चिन्तन का भेद दृष्टव्य है । अद्वैतवेदान्ती श्री शंकराचार्य ने 'अद्वैतवेदान्त' को ही अपनी वैचारिक साधना का केन्द्र बिन्दु बनाया था । वे सांख्ययोग और 'न्यायवैशेषिक' दर्शन के प्रबल विरोधी थे । जब कि दूसरे शंकर 'सांख्ययोग' और 'न्यायवैशेषिक' से पर्याप्त रूप से प्रभावित हैं । अद्वैतवेदान्ती शंकराचार्य को 'योगसूत्रभाष्यविवरण' का रचयिता न मानने के लिए अधोलिखित तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं :-

शारीरकभाष्यकार शंकराचार्य एकमात्र 'अद्वैतब्रह्म' के अनुयायी थे । उनके अनुसार अन्तिम सत्ता 'ब्रह्म' 'निर्गुण' 'निर्विकल्पक' तथा 'निर्विशेष' है । क्योंकि

अपनी किसी भी व्याख्या में किसी 'देवता' की स्तुति में कोई मंगलश्लोक नहीं लिखा है । इनके माण्डूक्यकारिकाभाष्य के प्रारम्भ में मिलने वाले मांगलिकश्लोक निर्गुण ब्रह्मपरक ही है, किसी भी वैदिक या स्मार्त देवी- देवता की वन्दना इन श्लोकों में भी नहीं है ।[1] इसके विपरीत 'विवरणकार' ने 'विवरण' में कृष्ण भगवान की वन्दना मांगलिकश्लोकों[2] के द्वारा की है । 'विवरण' के प्रारम्भ और अन्त दोनों स्थलों में कृष्ण भगवान की स्तुति की गई है । इस आधार पर यही मानना उचित प्रतीत होता है कि विवरणकार शंकर शारीरकभाष्यकार से सर्वथा भिन्न शंकर थे ।

- -

1 - " प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोकान् ।
भुक्त्वा भोगान्स्थविष्ठान्पुनरपि धिषणोद्भासितान्कामजन्यान् ॥
पीत्वा सर्वान्विशेषान्स्वपिति मधुरभुङ्मायया भोजयन्नो
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि" ॥ 1 ॥

योविश्वात्मा विधिजविषयान् प्राश्य भोगान्स्थविष्ठान् ।
पश्चाच्चान्यान्स्वमतिविभवान् ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान् ।
सर्वानेतान्पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा
हित्वा सर्वान्विशेषान्विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः ।"

माण्डूक्योपनिषद्, शांकरभाष्य पृ0-20 ।

2 - " यस्मिन्न स्तः कर्मविपाकौ यस शास्ता
क्लेशा यस्मै नालमलङ्घ्या निखिलानाम् ।
नावच्छिन्नः कालकृता यः कमलेश्या
लोकेशानं केटभारिं प्रणमामि ॥"

पातञ्जल योगसूत्रभाष्यविवरणम् पृ0 1 ।

" ओंकारो यस्य वक्त्रं समसुरत पदैः कर्म यस्मात्समेतं
निष्कर्मैकात्मको यद्युति सकलं यः फलेन क्रियाणाम् ।
संसाराम्भोनिधौ यः स्थितिलयविधानप्रक्रियाणां विधाता
व्याप्नोत्वः शुचिमानं व्यपनुदतु तरां कृष्णमानं स कृष्णः ॥"

वही - पृ0 370 ।

इस संबन्ध में तीसरा तर्क यह है कि 'विवरणकार' ने 'समवाय' संबन्ध को मान्य ठहराया है यथा-" तदा विशिष्ट एव संबन्धः समवायाख्यः संयोगाख्यश्चेति न युज्यते ॥" जब कि अद्वैतवेदान्ती शंकर ने शारीरकभाष्य में समवाय् को संबन्ध ही नहीं माना है और उसका नैयायिकाभिमत 'समवाय' का खण्डन किया है ।[1] इस विषय में योगसूत्र तृतीयपाद के 17वें सूत्र के विवरण में आए हुए स्फोटवाद के प्रसङ्ग से भी सहायता मिलती है । इस स्थल में 'स्फोटवाद' के सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है । यहाँ पर विवरणकार शंकर ने कुमारिलभट्ट[2] और साथ ही पार्थसारथिमिश्र[3] के भी विचारों का खण्डन किया है ।

- -

1 - " युतसिद्धयोः संबन्धः संयोगो युतसिद्धयोस्तु समवाय इत्ययमभ्युपगमो मृषैव तेषाम्, प्रसिद्धस्य कार्यकारणस्यायुतसिद्धत्वानुपपत्तेः ।"

ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य पृ0 428 ।

2 - " वर्णा वा ध्वनयो वापि स्फोटं न पदवाक्ययोः ।
व्यञ्जन्ति व्यञ्जकत्वेन यथा दीपप्रभादयः ॥
तस्मात् घटादिवच्चेति साधनानि यथास्थिति ।
लौकिकव्यतिरेकेण कल्पितेऽर्थे भवन्ति हि ॥
नार्थस्य वाचकः स्फोटो वर्णेभ्यो व्यतिरेकतः ।
घटादिवन्न दृष्टेन विरोधो वचसिद्धितः ॥
प्रतिषेधेत्तु यो वर्णास्तज्ज्ञानानन्तरोद्भवात् ।
दृष्टं भावो भवेत्तस्य शशिवत्कामिनेयवत् ॥
वर्णोत्था वाऽर्थधीरेषा तज्ज्ञानानन्तरोद्भवा ।
याहृशी सा तथा हि धूमादेरिव वह्निधीः ॥
दीपवद्वा गकारादिर्गत्वादेः प्रतिपादकः ।
पूर्वं प्रतीयमानत्वात्तत्पूर्वं प्रतिपादनात् ॥ "

3 - " ध्वनिमात्रोपादाने सर्वाभिव्यक्तीनां स्फोटाभिव्यञ्जकत्वस्य परैरनिष्टत्वादसिद्धसाध्यत्वं स्यात् । तथा भूमिति पदवाक्ययोरिति विशेषणम्, पदवाक्ययोर्वर्तमाना वर्णा ध्वनयो वा स्फोटं नाभिव्यञ्जयन्तीत्यन्वयः " ।
इति श्लोकवार्तिकव्याख्यायां न्यायरत्नाकरे पार्थसारथिमिश्रः ।

पार्थसारथि मिश्र[1] बारहवीं शताब्दी ई० के मीमांसा के आचार्य थे अतः विवरणकार को 12वीं शताब्दी के बाद का ही मानना पड़ेगा। इसलिए 8वीं शताब्दी के वेदान्ती शंकराचार्य से योगसूत्रभाष्यविवरणकार शंकर का सर्वथा अलग होना बिल्कुल निश्चित है।

'विवरण' के अन्त में " योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकं
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्राञ्जलिरानतोऽ

यह श्लोक 18वीं शताब्दी के लेखक श्री रामभद्रदीक्षित द्वारा लिखे गए पतंजलिचरित में उपलब्ध होता है। लेखक ने इस श्लोक में 'पतंजलि की वन्दना की है। इस श्लोक के आधार पर विवरणकार का समय 18वीं शताब्दी के बाद मानना त्रुटिपूर्ण होगा क्योंकि ग्रन्थकी शैली और भाषा इस प्रकार की मान्यता के अनुकूल नहीं है। लगता है ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैय्यार करने वाले किसी सज्जन ने पतंजलि के संबन्ध में प्रचलित प्रमाणवश इस श्लोक को ग्रन्थान्त में उपनिबद्ध कर दिया है।

विवरण के चारों पादों की पुष्पिकाओं के आधार पर विवरणकार शंकर का समय निश्चित कर सकना दुष्कर है। इन पुष्पिकाओं में 'विवरण' नामक कृति के रचयिता अद्वैतवेदान्ती शंकर को बताया गया है और उनके गुरु का नाम श्री गोविन्दभगवत्पाद बताया गया है[2]।

- -

1 - " तत्र पार्थसारथि मिश्रः द्वादशशतकभवो (12शत0) मिथिला-निवासी प्रकाण्डपण्डितश्च। "
कविराजश्रीमदाचार्यपण्डितविश्वेश्वरनाथ शास्त्रिभिः विरचित ' संस्कृतसाहित्य-विमर्श: " पृ0 23।

2 - इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्री शंकरभगवतः कृतौ
पातंजलयोगसूत्र (शास्त्र) भाष्य विवरणे
चतुर्थः कैवल्यपादः।

इस प्रकार उक्त विवेचन के आधार पर यह निर्धारित किया गया है कि विवरण के रचयिता शंकर 'अद्वैतवेदान्त' के महान विचारक शंकराचार्य से भिन्न शंकर थे। विवरणकार शंकर का समय 12वीं शताब्दी के बाद कभी का भी हो सकता है।

योगवार्त्तिकम्

'योगभाष्य' के माध्यम से योगसूत्रों की दूसरी व्याख्या 'योगवार्त्तिक' है। 'योगवार्त्तिक' की रचना विज्ञानभिक्षु ने की है। विज्ञानभिक्षु का जन्म ब्राह्मणकुल में हुआ था। उन्होंने संस्कृतसाहित्य, व्याकरण, वेद, वेदांग तथा अन्य भारतीय दर्शनों का गहन अध्ययन किया था। वे एक स्वतन्त्र विचारक थे। उन्होंने सांख्यसूत्रों पर 'सांख्यप्रवचनभाष्य' तथा 'ब्रह्मसूत्र' पर विज्ञानामृतभाष्य' उपनिषदों का भाष्य, 'ईश्वरगीताभाष्य' और 'योगसारसंग्रह' जैसे प्रौढ़ग्रन्थों की भी रचना की है।

विज्ञानभिक्षु का जन्म कब हुआ था ? इस संबन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार इस प्रकार हैं। प्रो0कीथ के अनुसार विज्ञानभिक्षु का समय 16वीं शताब्दी है। अपने दूसरे ग्रन्थ में इन्होंने विज्ञानभिक्षु का समय 17वीं शताब्दी में निर्धारित किया है। प्रो0कीथ द्वारा निर्धारित समय परस्पर विरोधी है। एक ही व्यक्ति का समय इन्होंने अपनी दो रचनाओं में भिन्न-भिन्न प्रतिपादित किया है जो उचित नहीं जान पड़ता है।

डा0पी0के0गोडे ने विज्ञानभिक्षु का समय 16वीं शताब्दी माना है। इस निर्णय का आधार विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश के द्वारा हस्ताक्षरित वाराणसी का एक निर्णयपत्र है। इस निर्णयपत्र पर शक सं0 1505 (1583ई0) अंकित है। इस पर उस समय के ब्राह्मणवर्ग के मुखियों का हस्ताक्षर है। इसी आधार पर गोडे महोदय ने विज्ञानभिक्षु का काल 16वीं शताब्दी ईसवी निश्चित किया है।

गोडे महोदय तर्कभाषा की टीका तत्त्वप्रबोधिनी के रचयिता गणेशदीक्षित को तथा भावागणेशदीक्षित को अभिन्न व्यक्ति मानते हैं। पं0उदयवीरशास्त्री ने 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ में गोडे का जबरदस्त खण्डन किया है। वे कहते हैं कि तत्त्वप्रबोधिनीकार गणेशदीक्षित तथा 'भावागणेशदीक्षित' दोनों अभिन्न

व्यक्ति नहीं हो सकते कारण दोनों के आता पिता भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे । इसके अतिरिक्त विज्ञानभिक्षु के शिष्य का नाम केवल भावागणेश है ऐसा उनकी पुस्तकों से मालूम होता है । दीक्षित पद भावागणेश के नाम के साथ नहीं लगा है । अतः भावागणेश और गणेश दीक्षित अभिन्न व्यक्ति नहीं हो सकते । हाल और आफ्रेट महोदय ने भी दोनों को भिन्न-भिन्न व्यक्ति ही स्वीकार किया है ।

पं0 उदयवीरशास्त्री ने गोडे महोदय द्वारा प्रस्तुत निर्णयपत्र पर हस्ताक्षर संबन्धित प्रमाण का भी खण्डन किया है । उनका कहना है कि उस पत्र पर जो हस्ताक्षर प्राप्त है वह विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश का हस्ताक्षर नहीं है क्योंकि निर्णय पत्र पर ~~निर्णय-पत्र-पर~~ 'भावये गणेश दीक्षित' नाम का हस्ताक्षर है । 'भावा' और 'भावये' दो भिन्न-भिन्न पद हैं । इन दोनों पदों की रचना भिन्न-भिन्न है, अतः निर्णयपत्र पर प्राप्त हस्ताक्षर से विज्ञानभिक्षु के समय का निर्णय नहीं हो सकता ।

पं0 उदयवीर शास्त्री विज्ञानभिक्षु को कश्मीर निवासी सदानन्दयति का पूर्ववर्ती मानते हैं । वे इस संबन्ध में तर्क देते हैं कि सदानन्दयति ने अपनी रचना में विज्ञानभिक्षु के नाम का उल्लेख किया है । इस आधार पर विज्ञानभिक्षु का समय सदानन्दयति से पूर्व का ही होना चाहिए । सदानन्दयति का जीवनकाल प्रो0ए0बी0कीथ ने 1500 ई0 निर्धारित किया है । अतः विज्ञानभिक्षु को 1500 ई0 के पूर्व का ही माना जाना चाहिए । इस प्रकार उन्होंने विज्ञानभिक्षु का समय 1350 ई0 के आस-पास माना है ।

किन्तु विज्ञानभिक्षु के समय के बारे में पं0 उदयवीर शास्त्री द्वारा दिए गए तर्क तथ्य से काफी दूर हैं, क्योंकि कश्मीर निवासी सदानन्दयति ने 'वेदान्तसार' की रचना नहीं की थी । 'वेदान्तसार' की रचना सदानन्दयोगीन्द्र ने की थी जो 15वीं शताब्दी के थे । ये सदानन्दयोगीन्द्र जिनका समय 1500 ई0 के कुछपूर्व का माना जाता है, विज्ञानभिक्षु के परवर्ती नहीं हो सकते ।

विज्ञानभिक्षु ने प्रथम सदानन्दयोगीन्द्र के 'वेदान्तसार' के एक प्रसंग का नामनिर्देश किए बिना[1] खण्डन भी किया है। अतः विज्ञानभिक्षु वेदान्तसार के रचयिता से तो पीछे के हैं। रही बात अद्वैतब्रह्मसिद्धिकार 'सदानन्दयति' की तो उनका समय विद्वानों ने 'रघुनाथशिरोमणि' का उल्लेख करने के कारण प्रमाणपूर्वक 17वीं शती सिद्ध किया है।[2] अतः विज्ञानभिक्षु का कालनिर्धारण इन दोनों सदानन्दों के बीच में तर्कसंगत रूप में किया जा सकता है। विज्ञानभिक्षु ने 14वीं शताब्दी के श्रीकण्ठ जिन्होंने वेदान्तसूत्रों पर शैवभाष्य लिखा है, का भी खण्डन किया है।[3] अतः विज्ञानभिक्षु के समय की पूर्वसीमा 15वीं शताब्दी ठहरती है। उनके समय की परवर्ती सीमा का निर्धारण करने के लिए 1583ई0 का भावागणेश नामक उनके शिष्य के हस्ताक्षर वाला वाराणसी का निर्णय पत्र और 'संवत् 1680 वि0(1623ई0) माघ सुदि को समाप्त की गई उनके ग्रन्थ 'सांख्यसार' की एक पाण्डुलिपि पर्याप्त है। इस प्रकार इनका जीवनकाल 16वीं शताब्दी का अन्तिम तीन चतुर्थांश स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं दृष्टिगोचर होती है।

- -

1 - "अयं च श्रुतिष्ट समष्टिभावो न सम्भवत् किंतु पितापुत्रवदेवा"
यो0वा0पृ0 213।

2 - द्रष्टव्य - डा0सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव कृत 'आचार्यविज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान' पृ0 39।

3 - "अतएव वैष्णवा शैवास्त्वाविशेषिणो चिन्मात्रव्यतिरिक्तं परमेश्वरमीश्वराणां ब्रह्ममीमांसाशास्त्रं विष्णवादिपरतया व्याचक्षते इति खण्डयम्।"
वि0भा0पृ0 139।

योगदीपिकावृत्ति।

भावागणेश तथा उनकी रचनाओं के समय का निर्धारण अपेक्षाकृत सरलता के साथ हो जाता है । यह सर्वविदित है कि ये विज्ञानभिक्षु के शिष्य थे तथा उन्हीं के समकालीन भी थे, अतः भावागणेश का समय भी यत्किंचित अन्तर के साथ वही है जो विज्ञानभिक्षु का है । भावागणेश के जीवनकाल के निर्णय के सम्बन्ध में सहायक प्रमाण पूर्ववर्णित तथा बनारस में प्राप्त 1583 ई0 का निर्णय-पत्र है । विज्ञानभिक्षु के जीवनकाल का निरूपण करते समय यह निश्चित हो चुका है कि इस निर्णय पत्र पर प्राप्त हस्ताक्षर भावागणेश का ही है । अतः इस निर्णय पत्र के आधार पर भावागणेश का जीवन काल 16वीं शताब्दी के उत्तरार्ध 17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सुविधा से माना जा सकता है । भावागणेश वाराणसी के रहने वाले 'दीक्षित' उपजाति के ब्राह्मण थे । इनके पिता का नाम विश्वनाथ और इनकी माता का नाम भवानी था । ये लोग कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे । इनके पिता ने स्वयं कई यज्ञ किए थे ।[1] इनकी वंशानुगत संज्ञा 'भावा' या 'भावे' थी ।

भावागणेश ने 'पातञ्जलयोगसूत्रों पर जो वृत्ति लिखी है वह 'योगदीपिका' के नाम से प्रख्यात है । व्याख्या का यह नाम 'योगदीपिका' के प्रथम पाद की पुष्पिका में उल्लिखित है । कुछ विद्वानों के अनुसार इस व्याख्या का नाम 'योगसूत्रदीपिका' भी है । 'योगदीपिका' एक संक्षिप्त व्याख्या है । इस व्याख्या को आफ्रेक्ट ने 'योगानुशासनसूत्रवृत्ति' संज्ञा दी है । भावागणेश के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं 'तत्त्वसमास-याथार्थ्यदीपन' और प्रबोधचन्द्रोदय की 'विवरणिका' टीका ।

- -

1 - द्रष्टव्य - अड्यार लायब्रेरी बुलेटिन, फरवरी 1944 ई0

2 - आसीद् भावोपनामा श्रुतिविदितधरा रामकृष्णो द्विजेन्द्रः
तत्तातृभार्या भिनोतीति विधिगुणनिधिर्विश्वनाथोऽग्रणीः ।
तस्मात्तस्यात्सकाशाद्विविधमखकृतः प्रादुरासीद् भवान्याम्
श्रीमत्यां यो गणेशो बुधविदितगुणस्तत्कृतविवरणिकास्तु ॥

विवरणिकाटीका प्रथम श्लोक ।

पातञ्जलयोगसूत्रवृत्तिः

नागेशभट्ट द्वारा रचित योगसूत्रों की व्याख्या 'पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति' के नाम से प्रचलित है । नागेशभट्ट हरिदीक्षित के शिष्य थे और हरिदीक्षित प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य भट्टोजिदीक्षित के पोते थे । हरिदीक्षित का समय 17वीं शताब्दी ईसवी में माना जाता है । इस आधार पर नागेश भट्ट का भी जीवनकाल 17वीं शताब्दी या 18वीं का पूर्वार्ध माना जाना चाहिए । नागोजिभट्ट का जन्म महाराष्ट्र के तासगाँव नामक स्थान में हुआ था । परन्तु अपने जीवन का अधिकांश भाग इन्होंने वाराणसी में ही व्यतीत किया । इन्होंने व्याकरणसाहित्य का गहन अध्ययन किया । इन्होंने संस्कृत व्याकरण पर अत्यन्त उच्चकोटि के अनेक ग्रन्थ लिखे । जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध वैयाकरणमंजूषा, लघुमंजूषा, परिभाषेन्दुशेखर, शब्देन्दुशेखर, लघुशब्देन्दुशेखर हैं । पतंजलि के महाभाष्य पर लिखी गई कैयट की 'प्रदीप' नामक टीका पर नागेशभट्ट ने 'उद्योत' नामक सुविस्तृत व्याख्या लिखी है ।

संस्कृत व्याकरण पर की गई इनकी व्याख्या की दृष्टि में रखकर कीलहोर्न महोदय ने इन्हें आधुनिक युग का सबसे बड़ा वैयाकरण माना है । साहित्यशास्त्र में भी इनका गौरवपूर्ण योगदान रहा है । इन्होंने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' पर लिखी गई गोविन्दठक्कुर की 'प्रदीप' टीका पर भी 'उद्योत' नाम की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखी है । इन्होंने वे अपनी रचनाओं में ही सन्तान की कल्पनाकर संतुष्ट थे । इन्होंने अपनी पत्नी की सन्ततिरहितता का दुःख दूर करते हुए कहा था :-

" शब्देन्दुशेखरः पुत्रः, मंजूषा दुहिता तव ।
एतयोः सन्निधाने हि कीदृशी मनसो रुजा ।।"

नागोजिभट्ट की कृतियों को हम सुविधा से[1] 17वीं शताब्दी के अन्त में और 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में रख सकते हैं ।

- -

1 - द्रष्टव्य - "Studies in Indian Literary History." Vol. III — Dr. P.K.Gode. P. 212.

मणिप्रभा

मणिप्रभा भी 'योगसूत्रों' पर ही साक्षात्-व्याख्या है । इसके लेखक 'रामानन्दयति' थे जिनके गुरू का नाम गोविन्दानन्द था । इनके बारे में ऐसा कुछ भी उल्लेख नहीं प्राप्त होता है कि ये कब और कहाँ पैदा हुए थे । 'मणिप्रभा' की भाषा-शैली और विचारों का अवलोकन करने से केवल इतना भर निश्चित हो पाता है कि ये विज्ञानभिक्षु के बाद के ही लेखक हैं । नारायणतीर्थ की व्याख्याओं में मणिप्रभा का बहुत अधिक उपयोग हुआ है, इससे भी यह संभावना बलवती होती है कि यह व्याख्या 16 वीं और 17वीं शताब्दी के बीच की रचना है ।

मणिप्रभाकार ने 'पातंजलयोगसूत्र' में आए हुए सूत्रों के पाठ को थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है । यथा प्रथमपाद के 26वें सूत्र में से 'स एषः' पद को छोड़कर केवल "पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" ही स्वीकार किया है । इसके अतिरिक्त इन्होंने विभूतिपादके 43वें और 44वें सूत्र को संयुक्त करके दोनों को एक ही सूत्र के रूप में स्वीकार किया है । यथा—

" बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः स्थूलस्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थ-वत्त्वसंयमाद्भूतजयः ।"

योगसूत्र पर यह व्याख्या न तो बहुत विस्तृत है न अतिसंक्षिप्त । विषय का विवेचन इसमें भली भाँति किया गया । इस पर भाष्य तथा तत्त्ववैशारदी का प्रभाव पूरी तरह से दृष्टिगोचर होता है ।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका - योगसूत्रार्थबोधिनी

इन दोनों व्याख्याओं के रचयिता नारायणतीर्थ हैं । इन्होंने 'सांख्य-कारिकाओं' पर सांख्यचन्द्रिका' नामक व्याख्या लिखी है । यह व्याख्या वाचस्पतिमिश्रकृत 'सांख्य-तत्त्वकौमुदी' की तुलना में बहुत संक्षिप्त है परन्तु संक्षिप्त होने पर भी इसमें अर्थबोध की क्षमता पर्याप्त मात्रा में है । इन्होंने इसके अतिरिक्त भक्तिचन्द्रिका, भाष्याधिकरणमाला, तत्त्वचन्द्रिका, न्यायकुसुमाञ्जलिव्याख्या, सिद्धान्तबिन्दुमहव्याख्या तथा वेदान्तसूत्रटीका 'विभावना' इत्यादि ग्रन्थों की रचना की है । नारायणतीर्थ ने 'भक्तिचन्द्रिका' के भाग एक के 28वें पृष्ठ पर भक्ति की ग्यारह भूमिकाओं का नामनिर्देश 'भक्तिरसायन' के तीन श्लोकों के द्वारा किया है । इससे यह प्रतीत होता है कि नारायणतीर्थ मधुसूदन सरस्वती के परवर्ती थे । मधुसूदन सरस्वती का समय ईसा की 16वीं शताब्दी है । अतः नारायण तीर्थ का समय 16वीं शताब्दी ई0 के काफी बाद में होना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त अनन्तदेव द्वितीय ने अपने ग्रन्थ 'भक्तिनिर्णय' में नारायण-तीर्थ द्वारा रचित 'भक्तिचन्द्रिका' में से भक्तिबोधक पंक्तियों को उसी रूप में उद्धृत किया है । नारायणतीर्थ अनन्तदेव के पूर्ववर्ती थे । अनन्तदेव द्वितीय के आश्रयदाता बाजबहादुरचन्द्रदेव थे । उनके एक दानपत्र के आधार पर उनका समय 1767ई0 निर्धारित हुआ है । अतः इनका समय इनसे पूर्व का ही होना चाहिए । इसलिए नारायणतीर्थ को 17वीं शताब्दी ईसवी में मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है ।

भास्वती -

स्वामी हरिहरानन्द आरण्य 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तथा 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के मध्य सांख्ययोग-दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। स्वामी हरिहरानन्द आरण्य एक साधक योगी थे। उन्होंने अपने जीवन का अन्तिम भाग 'कापिलगुहा' में व्यतीत किया था। सन् 1926 से 1947 तक वह उसी 'गुहा' में रहे और अन्त में वहीं उन्होंने अपने पार्थिव शरीर का त्याग किया।

उन्होंने दर्शन संबन्धी अनेक पुस्तकें लिखीं, जिनमें से प्रमुख यह हैं — 'सांख्यतत्त्वालोक', 'भास्वती', (योग दर्शन के व्यासभाष्य की टीका) पंचशिखाचार्यमत सांख्य-सूत्रम् (सभाष्यम्) योगकारिका, धर्मपदम् (पालीधम्म पद का संस्कृत अनुवाद)। ये सभी ग्रन्थ स्वामी हरिहरानन्द जी की प्रखर प्रतिभा के द्योतक हैं।

'स्वामिनारायणभाष्य' के रचयिता श्री कृष्णवल्लभाचार्य का जन्म पश्चिमी-भारत के सौराष्ट्र (गुजरात) प्रान्तमें रैवताद्रिपर्वत के निकट स्थित किसी राजघराने में हुआ था। इनके पिता का नाम 'गोपाल' देव था और माता का नाम 'कमरावती' देवी था। इसी प्रसिद्ध राजकुल में सं0 1961 विक्रमी अश्विनीशुक्लपञ्चमी को उनका जन्म हुआ था।[1] 14 वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने गुरु श्री स्वामिनारायण से दीक्षा प्राप्त की और दीक्षोपरान्त काशीनगरी में आकर शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन किया।

इन्होंने सांख्ययोग, वेदान्त और न्याय आदि दर्शनों का सम्यक् अध्ययन किया और बाद में इन्हीं दार्शनिक ग्रन्थों पर इन्होंने कई व्याख्याएँ लिखीं। इन व्याख्याओं के नाम इस प्रकार हैं :- संवत् 1986 में 'सांख्यकारिकाभाष्यम्', संवत् 1987 ई0 में योगसूत्र पर 'स्वामिनारायणभाष्यम्' सं0 1988 में 'श्रीस्वामिनारायण वेदान्तसार' " संवत् 1990 में 'तर्कसंग्रह दीपिकाकिरणावली' सं0 1992 में सांख्यतत्त्वकौमुदीकिरणावली और सं0 1993 में न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' पर 'किरणावली'। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थों की भी रचना इन्होंने की है यथा 'मेजवृत्ति' पर 'किरण' नामक व्याख्या तथा 'सांख्यकारिकागौडपादभाष्यकिरणम्' आदि

इन अनेक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना के कारण विद्वानों ने उन्हें छहों दर्शनों का आचार्य स्वीकार किया है और इन्हें 'दार्शनिकपंचानन-षड्दर्शनाचार्य-नव्यन्यायाचार्य-सांख्ययोगवेदान्तमीमांसाचार्य पण्डित' की उत्कृष्ट उपाधि से विभूषित

---

1. " भारते पश्चिमे प्रान्ते पुण्ये सागरसंगते। 'रैवताद्रि' समाधारे 'श्रीसौराष्ट्र' विश्रुते। --- श्रीमद् 'गोपाल' देवाभिकस्य पुण्यवतो गृहे। धर्मपत्न्यां श्री 'कमरावती' देव्यां तृतीयकः। वैक्रमे सम्प्रतिनिधिभूमिते 1961 वत्सरे शुभे। आश्विनशुक्लपंचम्यां पुत्रो यो जन्म लब्धवान्। "

सां0सि0मु0किरणावली पृ0 500।

किया है । इनकी रचनाओं में 'सांख्यकारिकाभाष्यम्' के बाद 'योगसूत्र' पर लिखी गई व्याख्या 'स्वामिनारायणभाष्य' का ही स्थान है ।

इस प्रकार यह भाष्य 'योगसूत्रों' की 20वीं शताब्दी ई० की व्याख्याओं का प्रामाणिक प्रतिनिधिग्रन्थ कहा जा सकता है ।

व्याख्याओं की भाषा-शैली

व्यासभाष्य

पातंजलयोग सूत्र पर व्यासमुनि द्वारा विरचित भाष्य अत्यन्त समादृत है । पातंजलयोगसूत्रों को सही रूप से समझने के लिए व्यासभाष्य से अपरिमित सहायता मिलती है । भाष्य की भाषा शैली स्पष्ट तथा सरल है । भाष्य न तो बहुत विस्तृत है न अति संक्षिप्त, प्रस्तुत विषय को समझाने के लिए जितना विवेचन अपेक्षित है उतना वर्णन भाष्य में प्राप्त होता है । योगसूत्रों में निरूपित योग से सम्बन्धित समस्त विषयों का सांगोपांग विवेचन भाष्य में किया गया है । भाष्य की शैली प्रवाहपूर्ण तथा प्रसादमय है । सूत्रों की पारस्परिक क्रमिकता और उनकी संगति का स्पष्टीकरण भाष्य से ही पूरा होता है । एक सूत्र के समाप्त होने पर दूसरे सूत्र में प्रतिपादित विषय पूर्वसूत्र के व्याख्यान के साथ ही प्रस्तुत किए गए उत्थानिकाभाष्य से स्पष्टतः संकेतित हो जाता है । यथा – 'तस्य लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते–योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।"

शैली – विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने यथास्थान ऋषिमुनियों, स्मृति, विष्णुपुराण आदि की उक्तियों को उद्धरण रूप में प्रस्तुत किया है । प्रथमपाद में तृतीय सूत्र की व्याख्या स्पष्ट करते हुए भाष्यकार लिखते हैं –

" स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये,
व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवन्ती न तथा । "

अर्थात् जिस तरह कैवल्य की अवस्था में चितिशक्तिरूपी पुरुष अपने रूप में ही अवस्थित रहता है, उसी तरह निरुद्धावस्था में भी वह अपने रूप में अवस्थित रहता है । व्युत्थान-काल में चितिशक्तिरूपी पुरुष पूर्ववत् रहता हुआ भी वैसा प्रतीत नहीं होता ।

- -

1. द्रष्टव्य – व्यासभाष्य पृ० 16 ।

इसी प्रकार प्रथम-पाद के चौथे सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने पंचशिखा-चार्य मुनि की उक्ति को प्रस्तुत किया है । " एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम् " इति ।[1] प्रथमपाद के सैंतालिसवें सूत्र को अधिक स्पष्ट करने के लिए परम ऋषि की गाथा को उद्धरण रूप में प्रस्तुत किया है ।[2] —

" प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति ।।"

सूत्र है " "निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः । " अर्थात् निर्विचारासमाधि के वैशारद्य से अध्यात्म प्रसाद होता है । सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा और निर्विचारा समापत्तियों में से सविचारा समापत्ति अधिक श्रेष्ठ है । निर्विचारा-समाधि के प्रभाव से योगी की बुद्धि रजो, तमोगुण रूपी मलों से अपेत होकर स्वच्छ हो जाती है और योगी को परमाणु रूप समस्त विषयों का क्रम के अनुरोध बिना ही अर्थात् एक साथ ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है । इस प्रज्ञालोक को ही अध्यात्मप्रसाद कहा गया है । अध्यात्म प्रसाद प्राप्त योगी का स्वरूप क्या होता है इसको बताने के लिए उक्त उदाहरण दिया गया है जिसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार पर्वत पर स्थित पुरुष भूमि पर स्थित पुरुष को छोटे आकार में देखता है उसी प्रकार शोकरहित प्रज्ञाप्रसाद को प्राप्त किया हुआ योगी अन्य अज्ञानी पुरुषों को शोकयुक्त देखता है । इस उदाहरण से भाष्य का अर्थ और भी पुष्ट और प्रमाणिक हो जाता है ।

48वें सूत्र के भाष्य में सूत्रनिहित पदों का सुस्पष्ट विवेचन करने के अभिप्राय से स्मृति में से एक श्लोक उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है —

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।[3]
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ।।

- -

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 18 ।

2 - द्रष्टव्य - वही पृ0 125 ।

3 - द्रष्टव्य - वही पृ0 126 ।

द्वितीय-अध्याय के पाँचवें सूत्र में अविद्या के स्वरूप का विवेचन मिलता है । मानव शरीर के प्रतिमोह, माया अविद्या है क्योंकि शरीर रचना कैसे होती है यह जानकार शरीर के प्रति घृणा भाव उत्पन्न होने लगता है । इस संदर्भ में भाष्यकार वैयासिकी गाथा की उक्ति का प्रमाण देते हैं :-

" स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥ "[1]

द्वितीय क्लेश 'अस्मिता' के निरूपण में भी महर्षि पंचशिखाचार्य की उक्ति को उन्होंने इस प्रकार से उद्धृत किया है :-

" बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन्कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेनेति[2] । द्वितीय-अध्याय के 12वें सूत्र के भाष्य में दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय कर्मों का वर्णन आया है । तृतीय पाद के छठें सूत्र में 'संयम' का विनियोग' किसमें होता है इसका वर्णन आया है । यह निरूपणभाष्य में बड़ी सूक्ष्मता के साथ मिलता है । भाष्य में स्पष्ट रूप से लिखा है कि संयम का सवितर्कादि भूमियों से संबन्ध है । यहाँ पर भूमियों के पूर्व और पश्चात् के संबन्ध में शंका होती है कि कौन सी भूमि पहले आती है और कौन सी पश्चात् इस शंका का समाधान करने के लिए शास्त्रान्तर से श्लोक उद्धृत किया गया है ।

" योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते[3] ।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ।।"

भूमियों का ज्ञान योग से प्राप्त होता है क्योंकि योग से ही योग जाना जाता है । योगबल से स्वयं पूर्व और पश्चात् भूमि का ज्ञान हो जाता है ।

- -

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 147 ।
2 - द्रष्टव्य - वही पृ0 151 ।
3 - द्रष्टव्य - वही पृ0 282 ।

विभूतिपाद में 44 वें सूत्र में आए हुए स्थूल, सूक्ष्म अवयवों के स्वरूप का विवेचन अत्यन्त ही सरल तथा स्पष्ट शैली में किया गया है । विवेचन को पुष्ट और अधिक सुगम बनाने के लिए महर्षिपतञ्जलिआचार्य के वचन का प्रमाण दिया गया है – 'तथा चोक्तम्–एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिरिति सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यम् ।[1] " अर्थात् पृथिवी इत्यादि भूतों को अपने-अपने धर्मों में व्यावृत्ति होती है ।

<u>युक्तियों का स्थान</u> :- भाष्य में प्रमाणों का विस्तृत विवेचन किया गया है । अनुमानप्रमाण को समझाने के लिए भाष्यकार युक्ति देते हैं –" अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम् । यथादेशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्, विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः[2] ।"

अर्थात् अनुमेय के सजातीयों में रहने वाला और विजातीयों में न रहने वाला जो लिंग उसके ज्ञान से सामान्य अंश को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाली वृत्ति अनुमान प्रमाण है । यथा चन्द्रमा और तारे गतिमान हैं भिन्न-भिन्न देशों में पहुँचने के कारण । यहाँ पर अनुमान का लक्षण तो 'सामान्यावधारणप्रधानावृत्तिरनुमानम्'' से ही निकाला जाता है परन्तु यह वृत्ति किस प्रकार की होती है इसका स्पष्टीकरण भाष्य में दी हुई युक्ति के द्वारा ही संभव हो सका है ।

इसी तरह विकल्प का लक्षण स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने यह युक्ति प्रस्तुत की है–" वस्तुशून्योऽपि विकल्पः शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते, तद्यथा 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति । यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते ? भवति च व्यपदेशे वृत्तिः यथा 'चैत्रस्य गौरिति' तथा 'प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा निष्क्रियः पुरुषः' । 'तिष्ठति बाणः ' । स्थास्यति, 'स्थित' इति[3] ।

---

1 – द्रष्टव्य – व्यासभाष्य पृ0 369 ।
2 – द्रष्टव्य – व्यासभाष्य पृ0 28 ।
3 – द्रष्टव्य – वही पृ0 38 ।

ईश्वर के वाच्यवाचक संबंध को बताते हुए उदाहरण दिया गया है — 'प्रदीप प्रकाशवदवस्थितमिति ।' अर्थात् वाच्य (ईश्वर) और वाचक (प्रणव) में संबंध संकेतकृत है अर्थात् पहले से ही है जैसे दीपक में प्रकाश पूर्व स्थित है[1] ।

अन्य मतों की आलोचना — स्थान-स्थान पर भाष्यकार ने योग सिद्धान्त के विरोधियों की कड़ी कड़ी आलोचना की है । अन्य विरोधी मतों को निराधार सिद्ध करते हुए सूत्रसम्मत सिद्धान्त को ही सुदृढ़ बनाया है । प्रथम-पाद में सूत्र 32 के भाष्य में भाष्यकार ने वैनाशिक मत का भरपूर खण्डन किया है । वैनाशिकों का कहना है कि चित्त क्षणिक होता है । प्रत्यय के साथ-साथ चित्त भी बदलता रहता है । अतः प्रत्येक चित्त अपने-अपने निर्धारित समय तक के लिए एकाग्र कहे जा सकते हैं अतः सभी चित्त एकाग्र हैं विक्षिप्त नहीं । भाष्यकार ने इस मत का विरोध करते हुए अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया है कि जब चित्त को सभी विषयों से खींचकर एक ही आलम्बन में समाहित किया जाता है तब उस चित्त को एकाग्र कहा जाता है । क्षणिक चित्त एकाग्र नहीं हो सकता प्रत्ययनियत चित्त को ही वैनाशिकों ने एकाग्रचित्त माना है । इससे विक्षिप्त की चित्त की अनुपपत्ति हो जाती है जो सम्भव नहीं है[2] ।

- -

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 82 ।

2 - द्रष्टव्य - वही पृ0 92 ।

अतः "एकम् अनेकार्थम् अवस्थितम् चित्तम् इति ।" अर्थात् अनेक अर्थों को ग्रहण करने वाला एक स्थायी चित्त ही होता है ।

विभूतिपाद में 13वें सूत्र के भाष्य में बौद्धमत का खण्डन किया गया है । बौद्ध मत के अनुसार मृत्तिकादि पदार्थ को नित्य मानना चाहिए क्योंकि घट जब टूट जाता है तब पुनः मृत्तिका के रूप को ही प्राप्त हो जाता है । अतः मृत्तिका कूटस्थ नित्य है । परन्तु योग-दर्शन में इस प्रकार की कूटस्थनित्यता को प्रामाणिक नहीं माना गया है, योग के अनुसार चितिशक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ कूटस्थ-नित्य नहीं माना जा सकता । इस सम्बन्ध में भाष्यकार ने युक्ति दी है कि - [1]मृत्तिकादि सभी पदार्थ व्यक्ति के द्वारा अपनाये जाते हैं और अन्त में वे नष्ट होते रहते हैं अतः नश्वरता गुण के कारण मृत्तिकादि पदार्थ नित्य नहीं माने जा सकते ।

सिद्धान्तोंपर अधिक बल साधना पर भाष्यकार ने भाष्य की रचना सूत्र के अनुसार की है । भाष्य में साधना पर अधिक बल दिया गया है । सर्वप्रथम योग क्या है ? बताकर भाष्यकार ने योग प्राप्ति के कौन-कौन से साधन है सभी का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है । सम्भवतः इसी दृष्टिकोण से पातंजल योगसूत्रों का का विभाजन करते हुए प्रथमपाद को समाधिपाद द्वितीय को साधन-पाद, तृतीय-पाद का विभूतिपाद और अन्तिम अथवा चतुर्थपाद का कैवल्यपाद नाम दिया गया है ।

समाहित चित्त वाले योगी के लिए अभ्यास और वैराग्य का अभ्यास उत्तम साधन है जिसके द्वारा योगी सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात नामक समाधियों को प्राप्त करता हुआ विवेकख्याति को प्राप्त करता है तत्पश्चात् धर्ममेघ-समाधि को और अन्त में कैवल्य प्राप्त कर मुक्त हो जाता है ।

- -

1 - " तदसदेतत् । कस्मात् ? एकान्तानभ्युपगमात् । तदेतत्त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति । नित्यत्वप्रतिषेधात् । अपेतमप्यस्ति । विनाशप्रतिषेधात् ।"

व्यासभाष्य पृ0 29।

भाष्यकार ने व्युत्थितचित्त वाले साधकों के लिए 'क्रियायोग' का सविस्तार वर्णन किया है । असम्प्रज्ञात-समाधि के आठ अंगों का उल्लेख भी किया है यथा-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये आठ योग के अंग है । जिनके आचरण से असम्प्रज्ञात-योग की प्राप्ति होती है । इनमें से पूर्व के पाँच अंग सम्प्रज्ञात-योग के बहिरंग साधन हैं और पश्चात् के तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि सम्प्रज्ञात-योग के अन्तरंग साधन हैं । विभूति-पाद में इन तीन अन्तरंग साधनों का विस्तृत वर्णन किया गया है ।

भाष्य की शैली विवेचनात्मक है । पूरे भाष्य में योग संबन्धी सभी विषयों का सम्यक् विवेचन है । उदाहरण के लिए योग का स्वरूप, सम्प्रज्ञात असम्प्रज्ञात-योग, विवेकख्याति, धर्ममेघसमाधि और कैवल्य । कहीं-कहीं इनकी तर्क पद्धति प्रयत्नों के बावजूद भी स्पष्ट एवं प्रभावपूर्ण नहीं हो पाई है । जैसे :——
" वृत्यर्थाभावतुल्ययोगपुंगपत्कामितार्थप्राप्तिनाप्ति, अर्थस्य विस्पष्टत्वात् ।" यो० भा०४०८३
भाष्य में विज्ञानवादी बौद्धशब्दावली में से भी शब्द लिए गए हैं जैसे 'स्वव्यञ्जकाञ्जन', परिकर्म इत्यादि । भाष्य में वाक्य प्रायः छोटे-छोटे हैं । भाष्य कहीं-कहीं अनावश्यक रूप से विस्तृत है । जिसके कारण सूत्रों का अर्थ स्पष्ट होने के स्थान पर अस्पष्ट हो जाता है । उदाहरणार्थ साधन-पाद में ।१वें सूत्र का भाष्य अत्यन्त विस्तृत होकर अस्पष्ट ही हो गया है ।



तत्त्ववैशारदी —

'तत्त्ववैशारदी' भाष्य के माध्यम से योगसूत्रों पर की गयी व्याख्याओं में सबसे पहली तथा प्रसिद्ध व्याख्या है । 'तत्त्ववैशारदी' की भाषाशैली बड़ी ही सुललित एवं साहित्यिक है । इसमें परिष्कृत संस्कृत का प्रयोग मिलता है । तत्त्व-वैशारदीकार ने योगशास्त्र विषयों का विवेचन अत्यन्त ही सुन्दरता से किया है । प्रत्येक विषय का विवेचन देने के पूर्व व्याख्याकार ने सबसे पहले सम्बन्धित भूमिका रची है तत्पश्चात् विषय का विस्तृत प्रतिपादन किया है । वाक्यों की रचना समुचित है । बहुत अधिक लम्बे वाक्यों का प्रयोग नहीं है ।

भाषा विवेचनात्मक और वर्णनात्मक दोनों ही प्रकार की है । विवेचनात्मक इस लिए कि इसमें 'योग' से सम्बन्धित सभी विषयों का प्रतिपादन किया गया है । वर्णनात्मक इस लिए कि विवेचन की शैली विस्तृत तथा वर्णनात्मक है । स्थान-स्थान पर उदाहरण भी दिए गए हैं । यथा प्रथमपाद के तृतीय-सूत्र के भाष्य की व्याख्या में बुद्धिप्रवेशात्मा पुरुष के स्वभाव की तुलना सूर्य के प्रकाश से की गई है — "पुरुषस्य बुद्धिप्रवेशः स्वभावः सवितुरिव प्रकाशः ।"[1] प्रथमपाद के तीसरे सूत्र के भाष्य की ही व्याख्या में तत्त्ववैशारदीकार ने पुरुष के चैतन्य रूप की तुलना स्वच्छस्फटिक मणि से की है, यथा — जिस प्रकार स्फटिकमणि अपने निकट के पदार्थों के रंग से मलिन होने लगती है उसी प्रकार पुरुष का शुद्ध चैतन्य रूप जब उपाधियुक्त होता है तब तत् तत् विषयों के अनुरूप ही मलिन होने लगता है — "पुरुषस्य हि चैतन्यं स्वरूपमनौपाधिकं न तु बुद्धियोगः शान्तादिरूपः । औपाधिको हि सः, स्फटिकस्येव स्वभावस्वच्छधवलस्य जपाकुसुमसन्निधानोपाधिरक्तिमा ।"[2]

---

1 - द्रष्टव्य — तत्त्ववैशारदी पृ० 16 ।

2 - द्रष्टव्य — वही पृ० 16 ।

प्रथमपाद के छठे सूत्र की व्याख्या करते हुए तत्ववैशारदीकार ने सबसे पहले उसमें निहित व्याकरण का निर्देश किया है । प्रस्तुत सूत्र में 'धार्मद्वन्द्व' समास है । यह विशेष उल्लेख है क्योंकि अन्य व्याख्याकारों ने इस सूत्र को यों ही छोड़ दिया है । किसी ने इस सूत्र की व्याख्या नहीं की है । परन्तु वाचस्पतिमिश्र की सूक्ष्म दृष्टि ने उसमें स्थित व्याकरण की तरफ ध्यान आकर्षित किया है । व्याख्या की शैली सर्वत्र व्याकरण-परक है । समासों के समुचित विग्रह के द्वारा पदों को समझाने की चेष्टा की गई है । " स्वव्यंजनकारणामंजन-भाकारो यस्य स भीमाक्षः । स्वकारणाकार इत्यर्थः । स्वकारणाकार व्यंजक मुद्बोधकम् तेनांजनं व्यक्तिमुखीकरणं यस्येति तेत्यर्थः । " तै० भा० पृ0 28 ।

<u>सिद्धान्तोंका और साधनोंका दोनों पर बल</u> — 'तत्त्ववैशारदी'

में सिद्धान्तों का विवेचन भी पूर्ण विस्तार के साथ किया गया है और साथ ही साथ योग के साधनों का विवेचन भी अत्यन्त विस्तार के साथ किया गया है, अर्थात् दोनों विषयों का पर्याप्त विवेचन किया गया है । वैनाशिकों के क्षणिक एकाग्र चित्त का खण्डन किया गया है । खण्डन की शैली बड़ी स्पष्ट है । सीधे मत का खण्डन करने के पश्चात् सही योग के मत का प्रतिपादन किया गया है ।

'विज्ञानवादी' दार्शनिकों के कुछ शब्दों का प्रयोग भाष्यकार की भाँति तत्ववैशारदीकार ने भी किया है । यथा -- परिकर्म, प्रत्यूह, स्वव्यंजकाजन इत्यादि ।

---

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 28 ।

उदाहरणप्रियता — तत्त्ववैशारदीकार 'सांख्यदर्शन' से बहुत प्रभावित हैं । 'प्रधान' के स्वरूप का विवेचन करते हुए 'सांख्य-कारिका' में से एक कारिका उद्धृत की गई है ।—

" अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ "

तत्त्ववैशारदी में वाचस्पतिमिश्र ने भाष्य के प्रत्येक पद को उसका स्पष्ट अर्थ देकर समझाया है । विषय को समझाने के लिए इन्होंने युक्तियों की अधिक सहायता नहीं ली है प्रत्युत अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रत्येक शब्द की व्याख्या करके अर्थ को बोधगम्य बनाया है ।

राजमार्तण्डवृत्ति

राजमार्तण्डवृत्ति पातञ्जलयोगसूत्रों पर अत्यन्त संक्षिप्त व्याख्या है । परन्तु संक्षिप्त होते हुए भी इसमें विषय का प्रतिपादन बड़ी सरलता से किया गया है । इसकी भाषा सरल है । बिना किसी अतिरिक्त सहायता के ही विषय समझ में आ जाता है । शैली में सरलता के साथ-साथ प्रवाह-मयता भी है । युक्तियों तथा उदाहरणों का भी प्रयोग मिलता है । विषय का विवेचन बिना भूमिका बनाए हुए स्पष्ट और संक्षिप्त रूप में किया गया है । इसकी भाषा उच्च कोटि की साहित्यिक नहीं है, अपितु साधारण है ।

इस व्याख्या में श्रुति, स्मृति और पुराण आदि के तथ्यों का संकेत अथवा उल्लेख नहीं किया गया है । वैभाषिकों और विज्ञानवादियों के मतों की

चर्चा तथा आलोचना नहीं की गई है । केवल सूत्र के पदों के भावार्थमात्र से योग के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है । सिद्धान्त और साधनाएं दोनों पर बराबर बल दिया गया है । पहले सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है तत्पश्चात् उनकी प्राप्ति के लिए साधनों का उल्लेख किया गया है । इस व्याख्या में लगभग सभी सूत्रों का विवेचन प्राप्त होता है । केवल चतुर्थपाद के 16वें सूत्र की व्याख्या राजमार्तण्ड वृत्ति में नहीं दी गई है ।

इस व्याख्या में दृष्टान्तों का प्रयोग भी मिलता है यथा — पुरुष भी व्युत्थान काल में चित्तवृत्तियों के आकार का भासित होता है । इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए व्याख्याकार ने युक्ति दी है कि — जिस प्रकार चंचल जल तरंग में चन्द्रमा भी वैसा ही प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार पुरुष भी व्युत्थान काल में चित्त वृत्तियों के अनुरूप भासित होता है ।

सरलता, संक्षेप, चुस्ती तथा प्रभावशालिता राजमार्तण्डवृत्ति में सर्वत्र दर्शनीय हैं । इस व्याख्या की पद्धति तत्त्ववैशारदी की ही भाँति है । पहले सूत्रगत पदों की विग्रह प्रस्तुत किया गया है तत्पश्चात् उनका अर्थ दिया गया है । यथा — प्रथमपाद के 19वें सूत्र की व्याख्या द्रष्टव्य है —

> " विदेहाः प्रकृतिलयाश्च वितर्कादिभूमिकासु ये व्यवस्थिता, तेषां समाधिर्भवप्रत्ययः भवः संसारः स एव प्रत्ययः कारणं यस्य स भवप्रत्ययः । अयमर्थः अविद्यावानन्तर्भूता एव ते संसारे तथाविध समाधिभाजो भवन्ति ।" रा०मा० वृ०पृ० 30 ।

भाषाशैली की दृष्टि से तत्त्ववैशारदी योगवार्तिक तथा राजमार्तण्ड-वृत्ति तीनों व्याख्याएँ अपना-अपना अलग-अलग स्थान रखती हैं । तत्त्ववैशारदी

उदाहरणों का प्रयोग भी उपलब्ध है । इसके विपरीत योगवार्त्तिक की भाषा शैली क्लिष्ट है । अतः प्रवाह में बाधा पड़ती है । विषय का विवेचन नितान्त विस्तार के साथ किया गया है । उदाहरणों और युक्तियों का बाहुल्य है । विज्ञानभिक्षु श्रुति, स्मृति और पुराण से बहुत अधिक प्रभावित हैं । राजमार्तण्डवृत्ति उक्त दोनों व्याख्याओं से भिन्न-भिन्न है । राजमार्तण्डवृत्ति उक्त दोनों व्याख्याओं की तुलना में बहुत संक्षिप्त है । इसकी भाषा सरल तथा बोधगम्य है । उदाहरणों का प्रयोग बहुत कम मात्रा में हुआ है । उक्त दोनों व्याख्याओं की तुलना में राजमार्तण्ड वृत्ति अपनी सरलता तथा स्पष्टता के कारण अधिक लोकप्रिय हो पायी है, वैसे यदि साहित्यिक वैशिष्ट्य को लिया जाये तो 'तत्त्ववैशारदी' का स्थान सभी में ऊँचा है ।

व्यासभाष्य इन सभी व्याख्याओं की तुलना में अधिक प्राचीन है । सबसे प्राचीन तथा सबसे पहली व्याख्या होने के कारण इसकी भाषा उतनी साहित्यिक और प्राञ्जल नहीं है । बिना किसी सजावट के भाष्य में योगसूत्रों के अर्थ को स्पष्ट करने का पूरा प्रयास भाष्यकार ने किया है । उदाहरणों का प्रयोग अधिकतर स्थानों पर मिलता है । परन्तु पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि बिना उदाहरणों के भी विषय का स्पष्टीकरण हो सकता है । उनके रहने न रहने से कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है । भाषा शैली कहीं-कहीं सरल है और किसी-किसी स्थान पर दुरूह हो गयी है । प्रथमपाद के ३४वें सूत्र के भाष्य के प्रारम्भ की सात पंक्तियाँ तो आसानी से समझ में आ जाती हैं परन्तु बाद की सभी पंक्तियाँ बहुत दुरूह हो गयी हैं जो बिना किसी की सहायता के सुगम नहीं होती । इस प्रकार उक्त व्याख्याओं में से भाषा-शैली की दृष्टि से तत्त्ववैशारदी का स्थान सबसे ऊँचा है क्योंकि इसकी भाषा संस्कृत साहित्यिक है, वर्णन की शैली व्यवस्थित रूप से चलती है ।

विवरण

'योगसूत्रभाष्य विवरणम्' 'योगसूत्र' तथा 'योगभाष्य' पर विस्तृत व्याख्याग्रन्थ है । 'योग' से संबन्धित जितने भी विषय हैं उनका वर्णन विवरणकार ने विषयानुकूल भूमिका उद्घाटित करते हुए तथा अन्य शास्त्रों से योगशास्त्र की तुलना करते हुए किया है । उदाहरणार्थ, 'योग का लक्षण' प्रतिपादित करने के पहले 'योगशास्त्र' की तुलना चिकित्साशास्त्र से की गई है । तत्पश्चात् मुख्य विषय पर विचार विमर्श किया गया है ।

विवरणकार ने व्याख्या को तर्कसंगत बनाने के लिए कहीं-कहीं सूत्रों में पाठभेद भी स्वीकार किया है । यथा — द्वितीय पाद के 7 वें और 8 वें सूत्र में 'सुखानुशयी रागः' के स्थान पर 'सुखानुजन्मा रागः' पाठ उल्लिखित है । व्याख्याकार ने इस पाठ की व्याख्या करके 'अनुजन्मा' पद की सहायता से व्याख्या को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की है । इसी तरह 'दुःखानुशयी द्वेषः' के स्थान पर 'दुःखानुजन्मा द्वेषः'[1], पाठ स्वीकृत किया है ।

ये न्याय और वैशेषिक शास्त्रों में प्रचलित पदावली का प्रयोग करने में नहीं झिझकते हैं । व्याख्याकार को व्याख्या के समय इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं है कि व्याख्या बहुत विस्तृत हो रही है । इन्होंने निश्चिन्त भाव से जितना भी उल्लेख सम्भव हो सका है किया है ।

- -

1 - द्रष्टव्य — योगसूत्रभाष्य विवरणम् - पृ0 139, 140 ।

' विवरण ' में स्थान-स्थान पर उद्धरण भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं । विवरणकार ने भाष्य में उल्लिखित उद्धरणों को ज्यों का त्यों उद्धृत किया है । प्रथम पाद में 25वें सूत्र और भाष्य की व्याख्या के मध्य मुण्डकोपनिषत् तथा कठोपनिषत् के ये पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं -- "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" " एको वशी " [1] । द्वितीय-पाद में योगाङ्गों के अनुष्ठान का वर्णन करते हुए मनु की उक्ति को उद्धृत किया है :--

" प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषान् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥ " [2]

योग के आठों साधनों का वर्णन करते समय कठोपनिषद् की एक पंक्ति का उल्लेख किया गया है :-- " नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तः " । प्रश्नोपनिषद् में से " येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्" और गीता में से " ब्रह्मचारिव्रते स्थितः " इत्यादि । तृतीय-पाद के 17वें सूत्र भाष्य की व्याख्या में स्फोटवाद के सिद्धान्त को समझाने के प्रयास में कुमारिलभट्ट के श्लोकवार्तिक [3] 6 श्लोकों अर्थात् 12 पंक्तियों को उद्धृत किया गया है ।

---

1 - द्रष्टव्य - योगसूत्रभाष्यविवरणम् - पृ0 62 ।
2 - द्रष्टव्य - वही पृ0 208 ।
3 - द्रष्टव्य - वही पृ0 268 ।

विवरण में साधनांश पर अधिक बल दिया गया है । प्रथमपाद के प्रथम सूत्र भाष्य की व्याख्या से योग के साधनों पर विशेष व्याख्यान किया गया है । इन्होंने 72 पृष्ठ में केवल योगाङ्गों का ही विवेचन किया है [1] । विवरण की भाषा-शैली अपेक्षाकृत सरल है । प्रतिपाद्य विषयों की गम्भीरता और पाण्डित्यपूर्ण शैली के प्रयोग में तत्त्ववैशारदीकार और योगवार्त्तिककार से इनकी तुलना नहीं की जा सकती । इन्होंने सरल तथा छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग किया है । इनकी शैली तर्कप्रधान एवं शास्त्रार्थमूलक है । जहाँ कहीं किसी तर्क को प्रस्तुत करना होता है वे उससे संबन्धित जितनी भी सम्भावनाएँ होती हैं उन्हें 'अथापि' इत्यादि पदों के द्वारा प्रस्तुत करते हैं और तदनन्तर युक्तियों से उन्हें निरस्त करते चलते हैं । जैसे — " अथापि स्यात् - अज्ञानस्यापि विवर्धमानस्य स्वभावसिद्धस्य काष्ठाप्राप्तस्य तस्मिन्नीश्वरे सिद्धिरिति - ज्ञान-विरोधात् । न हि ज्ञानाज्ञानयोर्निरपेक्षयोरेक-स्मिन्नविषयोऽस्ति । न हि ज्ञाने प्रकर्षवति तमसाम् सम्भवति ।। [2] "

सामासिक पदावली के प्रयोग के विषय में इस व्याख्या की शैली तत्त्ववैशारदी और योगवार्त्तिक से भिन्न है । पूरे " विवरण" में कदाचित् ही कहीं दो से अधिक पदों का समास देखने को मिलता है ।

- -

1 - द्रष्टव्य - योगसूत्रभाष्य विवरणम् पृ0 208 से 235 तक ।

2 - द्रष्टव्य - वही पृ0 58 ।

योगवार्तिक -

भाष्य के माध्यम से योगसूत्रों पर यह दूसरी व्याख्या है । योगवार्तिक की भाषा अपेक्षाकृत क्लिष्ट है, जिसके कारण बार-बार अध्ययन करने पर भी विषय का पूर्ण स्पष्टीकरण कठिनाई से हो पाता है । विवेचन अत्यधिक विस्तृत है । उद्धरणों और युक्तियों का अधिक प्रयोग है । आचार्य ने पुराण और स्मृति में से उद्धरण बहुत दिए हैं, अतः आचार्य विज्ञानभिक्षु के लिए यह कहना उचित ही है कि ये पुराणों से बहुत प्रभावित हैं । कैवल्यपाद के 31वें सूत्र के भाष्य की व्याख्या के अन्त में स्वयं ही लिखते हैं — " आस्तिकैस्तु श्रुतिस्मृतिप्रामाण्येनैतत्सर्वं श्रद्धेयमिति भावः ।।" इन पंक्तियों से भी यह स्पष्ट होता है कि आचार्य को श्रुति, स्मृति और पुराण में बहुत श्रद्धा थी । श्रुति और स्मृति का उद्धरण द्रष्टव्य है :—

" यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।। "
श्रुति -

" अध्यात्मयोगे विज्ञाते विकारेऽस्मिंश्च वर्तिते ।
चेतनाचेतनान्यत्वज्ञानेन ज्ञानमुच्यते ।। "
स्मृति -

ये श्लोक कैवल्यपाद में 23वें सूत्र की व्याख्या में उद्धरण के रूप में दिए गए हैं । इसी प्रकार कैवल्यपाद के 22वें सूत्र के भाष्य को समझाते हुए पुराण का एक श्लोक उद्धरण रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

" नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा बुद्धिसन्निधिसंस्थितः ।
यथा यथा भवेद् बुद्धिरात्मा तद्वदिहेष्यते ।।"

आचार्य ने विवेचन की दृष्टि से साधनाओं पर अधिक बल दिया है। सिद्धान्तों पर भी योगवार्तिककार ने पूर्ण विवेचन एवं चिन्तन प्रस्तुत किया है। योगप्राप्ति के साधनों का विस्तृत विवेचन किया गया है। विस्तार की सीमा इतनी अधिक है कि भाष्य नीरस लगने लगता है। पदों में स्थित समास का विग्रह करके अर्थ को स्पष्ट करने का यत्न यत्र-तत्र मिलता है। भाषा कुछ क्लिष्ट है। बौद्धों की पदावली का भी प्रयोग कहीं-कहीं मिलता है — यथा — प्रत्यूह, परिकर्म इत्यादि। वाक्य-रचना लम्बी तथा कहीं-कहीं दुरूह है[1]।

इतना सब होने पर भी विषय प्रतिपादन, सिद्धान्त-विवेचन एवं साधननिर्देश आदि की दृष्टि से योगवार्तिक अन्य सभी व्याख्याओं की अपेक्षा अधिक सर्वांगपूर्ण एवं जिज्ञासात्मक व्याख्या है। योगशास्त्र के वैचारिक एवं क्रियात्मक सभी पहलुओं की दृष्टि से 'योगवार्तिक' सर्वाधिक समर्थ एवं अपरिहार्य योगसूत्र व्याख्या है।

- -

1 - "ततः सवितर्कतायाः निःशेषतः क्षये सति, शान्तोदितावतीतोत्पद्यमानौ तुल्यप्रत्ययावेकाकारप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रताकालीनौ। पुनः यदि नामोत्पत्तिसजातीय एकैकः प्रत्ययो भवति अन्योऽन्य उत्पद्यते इत्येवं परिणामो भवतीत्यर्थः।"

यो०वा०पृ० 290 ।

योगदीपिका

'योगदीपिका' 'योगसूत्रों' पर अत्यन्त संक्षिप्त, साक्षात्-व्याख्या है परन्तु इसमें स्पष्टीकरण की पूर्ण क्षमता है । इसमें योग संबन्धी विषयों का विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त रूप में किया गया है । तुलना करने पर योगदीपिका भोजवृत्ति से बहुत साम्य रखती है । भोजवृत्ति की ही भाँति यह व्याख्या भी अनावश्यक विस्तार से अछूती है । इसकी भाषा सुगम है । इसमें विषय का विवेचन आवश्यकतानुकूल है, व्यर्थ का विस्तार नहीं है । वाक्य-रचना प्रसंगानुकूल एवं समुचित है ।

उदाहरणों की दृष्टि से देखा जाय तो इस व्याख्या में बहुत ही कम उदाहरण मिलते हैं । केवल कुछ ही ऐसे स्थान हैं जहाँ पर उदाहरण दिये जा सकते हैं । चतुर्थ-अध्याय के 33वें सूत्र में, 'विष्णुपुराण' से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं । पूरी व्याख्या का अनुशीलन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि व्याख्याकार ने विषय को स्पष्ट करने के लिए संक्षिप्ततम व्याख्या-शैली को अपनाया है । साथ ही व्याख्या के बीच-बीच में उदाहरणों को देना बहुत आवश्यक नहीं समझा है ।

जहाँ तक विषय प्रतिपादन का संबन्ध है भावागणेश ने अपने गुरु विज्ञानभिक्षु के ही मतों को इस व्याख्या में प्रस्तुत किया है । विज्ञानभिक्षु के वार्तिक के मत से भिन्न कोई बात कहीं नहीं कही गई है । सच पूछा जाये तो यह व्याख्या 'योगवार्तिक' की ही एक संक्षिप्त प्रतिकृति है । भावागणेश ने इस तथ्य को स्वयं ही स्वीकृत भी किया है :—

" भाष्ये परीक्षितो योऽर्थो वार्तिके गुरुभिः स्वयम् । "

योगदीपिका मंगलाचरणे ।

पातंजलयोग सूत्रवृत्ति

नागोजीभट्ट द्वारा विरचित 'पातंजलयोगसूत्रवृत्ति' भी योगसूत्रों पर साक्षात्-व्याख्या है। यह व्याख्या, 'योग-दीपिका' और 'राजमार्तण्डवृत्ति' की तुलना में कुछ अधिक विस्तृत है। उक्त व्याख्याओं की तुलना में इस व्याख्या की भाषा कुछ क्लिष्ट है। इसमें विषय का विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है। इस व्याख्या की भाषा, विचार तथा विवेचन की शैली 'योगवार्त्तिक' से मिलती जुलती है।

इस व्याख्या में उद्धरणों का प्रयोग बहुत कम किया गया है। चारों-पादों की व्याख्या में कुल मिलाकर 5,6 उद्धरण दृष्टिगोचर होते हैं। उद्धरण स्मृति, कूर्मपुराण और श्रुतियों में से लिए गए हैं। यथा —'निद्रावृत्ति' का निरूपण करते हुए स्मृति में से उद्धरण दिया गया है —''जागत्स्वप्नौ सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः।''[1] 'संप्रज्ञात' समाधि की वितर्कादि भूमियों की उपयोगिता को चरितार्थ करते हुए भी स्मृति की एक पंक्ति को उद्धृत किया गया है, यथा — 'स्थूले विनिर्जितचित्तं ततः सूक्ष्मं शनैर्नयेत्।''[2] अस्मितानुगतसम्प्रज्ञात समाधि के वर्णन के प्रसंग में कूर्मपुराण की कुछ पंक्तियों को उद्धरण रूप में प्रस्तुत किया गया है, यथा — '' यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम्। मदेकं स महायोगी भाषितः परमेश्वरः। यत्र साक्षात्कारयन्ति विमुक्ता विश्वमीश्वरम्' इति[3]। उद्धरणों का प्रयोग इस व्याख्या में यद्यपि कम किया गया है परन्तु जितने उद्धरण दिए गए हैं उनकी सहायता से विषय के स्पष्टीकरण में बहुत सहायता मिलती है, अतः विषयविवेचन की दृष्टि से इस व्याख्या में उद्धृत उद्धरण बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

- -

1 - द्रष्टव्य - पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ0 9।

2 - द्रष्टव्य - वही पृ0 14।

3 - द्रष्टव्य - वही पृ0 15।

भाषा में कहीं-कहीं सजावट भी मिलती है । यथा — प्रकृतिलीन और विदेहों की स्थिति का निरूपण व्याख्याकार ने 'मण्डूक' की स्थिति से सादृश्य दिखाते हुए किया है । यहाँ पर उपमा अलंकार का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है यथा — " प्राप्तावधयस्तु पुनः संसारे विशन्ति । यथा वर्षातिपाते प्रवृद्धा मण्डूकाः पुनर्वर्षाभिषेकेण मण्डूकदेहमनुभवन्ति तद्वत् ।" 'विकल्पवृत्ति' के विवेचन में भी उपमा अलंकार का उदाहरण दिया गया है । यथा — " राहोः शिरो, वन्ध्यासुत, बालोऽस्तिष्ठतीति ।"[2]

इस व्याख्या की भाषा परिष्कृत, संस्कृत है । साथ ही भाषा व्याकरण परक है । समासों का प्रयोग व्याख्या की प्रत्येक पंक्ति में किया गया है । सूत्रार्थों को खोलने के लिए पदों में निहित समासों का विग्रह भी किया गया है जिससे पदों के स्पष्टीकरण में बहुत सहायता मिलती है । उदाहरणार्थ — 'विदेहप्रकृतिलयानाम्' पद में निहित द्वन्द्वसमास का विग्रह किया गया है यथा — " विदेहाश्च प्रकृतिलयाश्चेति द्वन्द्वः ।"[3] व्याख्या में वाक्य छोटे-छोटे हैं और कहीं-कहीं लम्बे-लम्बे वाक्यों की भी योजना की गई है परन्तु शैली की सारगर्भितशक्ति के कारण लम्बे वाक्य-रचना का व्याख्या पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ा है । यथा —
" अहिंसादि विपरीता हिंसादयो वा वितर्का इति परिभाषितास्ते स्वयं कृतान्येन कारिता साधुसाध्वित्यनुमोदिता इति त्रिविधास्ते पुनर्लोभ क्रोधमोहपूर्वकत्वेन त्रिविधाः लोभादयः पुनस्त्रिविधा मृदवो मध्या अतिमात्रा इति सर्व एते दुःखं विपर्ययज्ञानरूपमज्ञानं च संसार मूलकारणं फलं येषां ते इति प्रतिपक्षभावनया तेषां परिहारः कार्यं इत्यर्थः ।"[4]

- -

1. द्रष्टव्य - पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति पृ0 16 ।
2. द्रष्टव्य - वही पृ0 9 ।
3. द्रष्टव्य - वही पृ0 16 ।
4. द्रष्टव्य - वही पृ0 53 ।

इस व्याख्या में सिद्धान्तों और साधनों पर बराबर बल दिया गया है । 'योग' संबंधी जितने भी विषयों का उल्लेख 'योगसूत्रों' में किया गया है उन सभी विषयों की उचित व्याख्या इस व्याख्या में की गई है । व्याख्याकार ने 'विज्ञानवाद' तथा 'दृष्टिसृष्टिवाद' का खण्डन किया है । यह खण्डन कैवल्यपाद के 15वें और 16वें सूत्र में किया गया है[1] । 'कैवल्य' के स्वरूप का निरूपण करते हुए इन्होंने कैवल्य संबन्धी वैशेषिक, और नैयायिक मतों की तुलना 'योग' में प्रतिपादित कैवल्य के स्वरूप से की है । 'योग' के अनुसार 'कैवल्य' का तात्पर्य है 'स्फटिकवत्' जब गुणों से पुरुष वियुक्त हो जाता है तब सदा के लिए वह प्रतिबिम्बरूप उपाधि से वियुक्त होकर स्वरूपावस्थित हो जाता है । पुरुष का स्वरूप में अवस्थित हो जाना ही उसका कैवल्य है । वैशेषिकों के अनुसार आत्मा का गुणों से पूर्ण रूप से विमुक्त हो जाना 'मोक्ष' है और नैयायिकों के अनुसार पुरुष की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है[2] । इस प्रकार तुलनात्मक विवेचन के साथ 'कैवल्य' का निरूपण किया गया है ।

पूरी व्याख्या के संबन्ध में यह कहना उचित ही है कि व्याख्या में अनावश्यक विस्तार नहीं है । यह व्याख्या तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करती हुई चलती है । इसीलिए किंचित् विस्तृत हो गई है परन्तु प्रतिपाद्यविषय की बोधगम्यता और सरलता के कारण यह व्याख्या भी विद्वानों के बीच उतनी ही लोकप्रिय है जितनी योगवार्त्तिक, राजमार्तण्डवृत्ति और मणिप्रभा आदि हैं । शैली में प्रवाहमयता है ।

- -

1 - द्रष्टव्य - पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ0 93, 94 ।

2 - " कैवल्यमेवाभिधत्ते, - - - - पुरुषस्य तु स्वरूपप्रतिष्ठा, सदा प्रतिबिम्बरूपेणोपाधिना वियुक्तता चित्स्वाभिव्यक्ता तत्कैवल्यमित्यर्थः ।" - - - - येऽप्यात्मनि सर्वविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष इति वदन्ति वैशेषिकाः तदपि नास्माकं विरुद्धम् - - - - - - - आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिर्मोक्ष इति नैयायिकाः ।" — वही पृ0 103, 104 ।

मणिप्रभा

'मणिप्रभा' की भाषा-शैली सरल है । इसमें उद्धरणों का प्रयोग पर्याप्त रूप में विद्यमान है । उद्धरण अधिकतर स्मृति, महाभारत, और विष्णुपुराण में से लिए गए हैं । प्रथमपाद के 25वें सूत्र में वायुपुराण से उद्धरण लेकर ईश्वर में सर्वज्ञता के बीज का निरतिशय होना सिद्ध किया गया है । यथा — " सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः । अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ।। "

" ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः ।
स्रष्टृत्वमात्मसंबोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च ।।
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे ।"

" अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेदिति ।।"[1]

इन्होंने ईश्वर को पुरुष विशेष सिद्ध करने के लिए अन्त में यह भी कहा है कि 'ईश्वर' ब्रह्मादि देवताओं से भी विशिष्ट है । ऐसी बात न तो व्यास ने, न तत्त्ववैशारदीकार ने और न ही योगवार्तिककार और वृत्तिकार भोज ने ही कही है । प्रथम-पाद के 28वें सूत्र की व्याख्या में किसी स्मृति का श्लोक उद्धृत हुआ है । यथा — "स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।। "[2]

द्वितीयपाद के 42वें सूत्र की व्याख्या में महाभारत से उद्धरण लिया गया है । तृतीय-अध्याय के प्रथम सूत्र को स्पष्ट करने के लिए 'विष्णुपुराण' में से 14 पंक्तियों को उद्धृत किया गया है[3] । इसी प्रकार अन्य अनेक स्थलों पर

- -

1 - द्रष्टव्य - मणिप्रभा पृ0 14 ।
2 - द्रष्टव्य - वही पृ0 15 ।
3 - द्रष्टव्य - वही पृ0 50 ।

विविध उद्धरण प्राप्त होते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि व्याख्याकार श्री रामानन्दयति पुराणों, महाभारत और गीता से बहुत प्रभावित हैं ।

दिए गए उद्धरणों में से कुछ उद्धरण तो अर्थ को स्पष्ट करने में सहायक बनते हैं, जैसे प्रथम-पाद के 25वें सूत्र की व्याख्या में दिए गए उद्धरण से ईश्वर में सर्वज्ञत्व के निरतिशय रूप का विशद वर्णन प्राप्त होता है । किन्तु कुछ उद्धरण इतने विस्तृत हो गए हैं कि उनसे विषय का विवेचन स्पष्ट होने के स्थान पर बड़ा बोझिल हो जाता है । यथा –

"प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् ।
वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये ॥
मूर्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रयनिःस्पृहम् ।
एषा वै धारणा प्रोक्ता यच्चित्तं तत्र धार्यते ॥
तच्च मूर्तं हरे रूपं यादृक् चिन्त्यं नराधिप ।
तच्छ्रूयतामनाधारे धारणा नोपपद्यते ॥
प्रसन्नवदनं चारुपद्मपत्रोपमेक्षणम् ।
सुकपोलं सुविस्तीर्णललाटफलकोज्ज्वलम् ॥
- - - - - - - - - - - - - - - - - - - -
- "

मणिप्रभाकार ने स्थान-स्थान पर भाष्यकार तथा तत्त्ववैशारदीकार से

- -

1 - द्रष्टव्य - मणिप्रभा पृ0 50 ।

प्रभावित दिखाई पड़ते हैं । योग के साधनों का पूरा निरूपण इन्होंने उक्त दोनों व्याख्याकारों के ही समान किया है । हाँ 'ईश्वर' के स्वरूप का वर्णन अवश्य उन लोगों से भिन्न किया है । मणिप्रभाकार योगशास्त्र को 'सेश्वरसांख्य' मानते हैं और ईश्वर को प्रकृति का प्रवर्तक स्वीकार करते हैं ।

मणिप्रभा में योग के सिद्धान्तों और साधनों पर समान रूप से ज़ोर दिया गया है । यह व्याख्या नितान्त सरल किन्तु अत्यन्त उपयोगी कोटि की कही जा सकती है । इसकी शैली व्याकरणसम्मत होने पर भी चुस्त और प्रभावपूर्ण है । भाषा परिष्कृति की ओर अधिक झुकी हुई है ।

योगसूत्रार्थबोधिनी

नारायण-तीर्थ द्वारा विरचित 'योगसूत्रार्थबोधिनी' योगसूत्रों पर साक्षात्-व्याख्या है । यह व्याख्या न तो बहुत विस्तृत है और न अत्यन्त संक्षिप्त । नारायण-तीर्थ व्यासभाष्य से बहुत प्रभावित हैं । स्थान-स्थान पर भाष्यकार के दिए गए उद्धरणों को ही उद्धृत कर दिया है । यथा-प्रथमपाद के ४थे सूत्र में स्फटिकमणिका उदाहरण भाष्य से ही लिया गया है । इसी तरह अन्य स्थानों पर भी भाष्य के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं । अन्य विद्वानों की भाँति प्रस्तुत व्याख्याकार ने भी व्याख्या के बीच-बीच उद्धरणों का बहुत प्रयोग किया है । उद्धरण वायु पुराण, गीता आदि में से लिए गए हैं । प्रथम-पाद के १९वें सूत्र की व्याख्या में वायुपुराण से उद्धरण दिया गया है । व्याख्या बिना उद्धरण के भी पूर्ण थी परन्तु व्याख्याकार ने उद्धरण देना आवश्यक समझ कर विस्तार किया है । ~~इस स्थल में~~ उद्धरण से अर्थ की दृष्टि में न तो कोई विशेष सहायता मिलती है न कोई बाधा होती है है ।

फिर भी भाष्यकार, तत्त्ववैशारदीकार तथा योगवार्तिककार की तुलना में नारायण-तीर्थ ने उद्धरणों का बहुत ही कम प्रयोग किया है । भाषा सरल है पर साहित्यिक नहीं है । व्याख्या स्पष्ट है । रुचिकर है । वाक्य छोटे-छोटे तथा सरलता से समझने योग्य हैं । नारायण-तीर्थ की दोनों व्याख्याओं पर 'मणिप्रभा' का पर्याप्त प्रभाव है । किसी-किसी सूत्र की व्याख्या तो मणिप्रभा से इतनी समानता रखती है कि पढ़कर यही लगता है कि 'सूत्रार्थबोधिनी' और 'योगसिद्धान्तचन्द्रिका' स्थल-स्थल पर मणिप्रभा की एकदम प्रतिरूप हैं ।

यह व्याख्या सूत्रार्थबोधिनी की तुलना में विस्तृत तथा किंचित् कठिन है । व्याख्या केवल चतुर्थपाद के तीसरे सूत्र तक की है । इसमें उद्धरणों का बाहुल्य और आकर ग्रन्थों के हवालों की भरमार है । उद्धरण भी प्रायः पद्मपुराण, लिंग पुराण, स्कन्द पुराण आदि से संकलित हुए हैं । किन्तु इस कलेवरवृद्धि के बावजूद 'योग सिद्धान्त चन्द्रिका में 'सूत्रार्थबोधिनी' व्याख्या से अधिक कोई शास्त्रीय बात नहीं जानी जा सकती । हाँ साधनाओं पर अधिक ज़ोर इस व्याख्या में दिया गया है । इस कारण योग की साधना करने वाले लोगों के लिए इस व्याख्या का विशेष महत्त्व है । प्राणायाम, और आसन आदि योगांगों पर अन्य व्याख्याओं में दुर्लभ सामग्री का संग्रह इस सिद्धान्त चन्द्रिका में देखने को मिलता है । बहुत संभव है नारायण तीर्थ ने योगशास्त्र के सिद्धान्तों का व्याख्यान करने के लिए पहले सूत्रार्थ बोधनी व्याख्या लिखी हो और बाद में साधना के लिए उपयोगी तत्वों का सांगोपांग वर्णन करने के लिए 'योगसिद्धान्तचन्द्रिका' व्याख्या लिखी हो ।

इन दोनों व्याख्याओं की शैली में कोई भेद नहीं है । विचार समान होना स्वाभाविक ही है । अतः यह प्रश्न स्वतः उठता है कि एक ही तरह की दो व्याख्याएँ लिखने का क्या प्रयोजन रहा होगा । 'सूत्रार्थबोधिनी' में योगसूत्र के चारों पादों में जितने सूत्र हैं सब पर व्याख्या उपलब्ध होती है । किन्तु योग-सिद्धान्तचन्द्रिका' में केवल 4/3 सूत्र तक ही व्याख्या प्राप्त होती है और ग्रन्थ में यह वाक्य लिखा मिलता है " एतावदेव ग्रन्थः उपलब्धः " । अतः हो सकता है व्याख्याकार ने इस पाद के सभी सूत्रों की भी व्याख्या लिखी हो परन्तु किसी तरह शेष सूत्रों की व्याख्याएँ नष्ट हो गई हों या फिर इसकी व्याख्या के अनन्तर नारायण-तीर्थ दिवंगत हो गए हों जिससे कि आगे लिख ही न सके हों ।

भास्वती .

"भास्वती" 'योगसूत्रों' और 'योगभाष्य' पर आधुनिकअध्येताओं की उपयोगिता की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण व्याख्या है । तत्त्ववैशारदी और योगवार्तिक के पश्चात् भाष्य और तद्द्वारा सूत्रों पर लिखी गयी यह तीसरी व्याख्या है । सरलीकरण इसकी सबसे बड़ी विशेषता है । विद्वत्ताप्रदर्शन या शास्त्रीययुक्तियों का हवाला देना – ये दोनों बातें इस व्याख्या में नहीं मिलती । इसमें साधनाओं पर अधिक ज़ोर दिया गया है । 'योग का लक्षण प्रतिपादित करने के उपरान्त योग प्राप्ति के उपायों का विस्तृत एवं विशद विवेचन किया गया है । योग के आठों साधनों का प्रतिपादन विस्तार के साथ किया गया है । इन साधनों का अनुष्ठान करने वाले योगियों की विशिष्टअनुभूतियों से लाभ उठाया गया है । उदाहरणार्थ समाहित - चित्त वाले साधकों को योग की प्राप्ति अभ्यास और वैराग्य नामक योग के साधनों के अनुष्ठान से ही हो जाती है ।

परन्तु व्युत्थितचित्तवाले साधकों के लिए क्रिया योग का आचरण अत्यावश्यक है । क्रियायोग के द्वारा क्लेशों को क्षीण करने के उपरान्त व्युत्थित-चित्त वाले साधक भी अभ्यास, वैराग्य से ही योग को प्राप्त करते हैं । अन्त में वे साधक जो उक्त दोनों साधकों की तुलना में अवरकोटिक हैं उनके लिए यमनियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का अनुष्ठान करने के उपरान्त धारणा, ध्यान और समाधि का अनुष्ठान बताया गया है जिसके द्वारा मन्द अधिकारियों को भी योग की प्राप्ति हो जाती है । इस प्रकार पूरे योगदर्शन में 'योग' के साधनों का ही विशेष उल्लेख प्राप्त होता है ।

वास्तव में योग का व्यावहारिकज्ञान ही तो उपयोगिता की दृष्टि से सर्वोत्तम है । अतः इसे सभी श्रेणियों के साधकों के लिए सुलभ बनाने के हेतु विभिन्न साधनों का बोध निरूपण आवश्यक है । स्वामी हरिहरानन्द जी स्वयं योग के साधक थे अतः योग के सारे रहस्यों को खोलने वाली व्याख्या लिख कर उन्होंने विद्वानों और साधकों को योग संबन्धी जिज्ञासाओं को शान्त किया और योग की साधना के मार्ग को प्रशस्त किया है ।

'भास्वती' की भाषा में प्रसादगुण की उत्कट सरलता है । इसमें सूत्र और भाष्य की पंक्तियों के सारे रहस्यों को खोल कर रख दिया गया है । जिससे सूत्रों को समझने में बड़ी सहायता मिलती है । इसकी शैली स्पष्ट बोधपरक एवं अनुभूति प्रधान है । आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में सूक्ष्मतम् योग के तथ्यों का स्पष्ट विवेचन भास्वती में ही प्राप्त होता है ।

'भास्वती' भोजवृत्ति की तरह केवल योगसूत्रों पर आधारित वृत्ति नहीं है यह सूत्रों को उद्धृत और व्याख्यात करते हुए भाष्य की भी विस्तृत और विवेचनात्मक व्याख्या है । इसमें भी विषय विवेचन को पुष्ट करने के हेतु श्रुतियों, स्मृतियों और पुराणों से उद्धरण दिए गए हैं । ये उद्धरण संख्या में अधिक अवश्य हैं परन्तु इनसे व्याख्या कहीं भी बोझिल नहीं हुई है । अनेक उद्धरणों को देखकर यह कहा जा सकता है कि स्वामी हरिहरानन्दने श्रुतियों, स्मृतियों, पुराणों और उपनिषदों का गहन अध्ययन किया था ।

प्रथमपाद के 11वें सूत्र और भाष्य की व्याख्या को सुदृढ़ करने के लिए स्मृति से उद्धरण दिया गया है :

" तत्र विज्ञानसंयुक्ता त्रिविधा वेदना ध्रुवा ।
सुख दुःखेति यामाहु रदुःखा सुखवेति च ।।"

प्रथम-पाद के ही 17 वें सूत्र की व्याख्या में वे उद्धरण देते हैं – " विचारो व्यापिनां पूर्वकः सूक्ष्मार्थाधिगमो यत " इसी प्रसंग में किसी स्मृति से भी उद्धरण दिया गया है :–

" इन्द्रियाणि मनश्चैव यथा पिण्डीकरोत्ययम् ।
एषयैव मनश्चेदं पञ्चवर्गेषु भारत ।।
पूर्वं ध्यानपथे स्थाप्य नित्ययोगेन शाम्यति ।
न तत् पुरुषकारेण न च दैवेन केन चित् ।।
सुखमेष्यति तत्तस्य यथैवं संयतात्मनः ।
सुखेन तेन संयुक्तो रंस्यते ध्यानकर्मणि ।।"

है, 24वें सूत्र के भाष्य की व्याख्या में श्वेताश्वतर उपनिषद से उद्धरण प्रस्तुत करते हैं :—

" ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति " इति ।

प्रथम अध्याय के 25वें सूत्र तथा भाष्य की व्याख्या में ऋग्वेद में से उद्धरण दिया गया है :—

" हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीद् " इति ।

स्वामिनारायणभाष्य

व्याख्याकार ने सूत्रों की व्याख्या अत्यन्त विस्तार के साथ किया है । सूत्रों की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार विषय को भूल जाते हैं और अन्यान्य अनावश्यक बातों का उल्लेख अत्यन्त विस्तार के साथ करते हैं । जिससे सूत्रों में निहित सिद्धान्त स्पष्ट होने के स्थान पर अस्पष्ट ही रह जाते हैं । पाठक इसकी व्याख्या पढ़ने से ऊब जाता है । भाषा न तो सरल है और न ही अनावश्यक विस्तार के कारण प्रसादगुण तथा स्पष्टीकरण की क्षमता से सम्पन्न है । उदाहरण के लिए योग सूत्र के प्रथम सूत्र का ही व्याख्यान लीजिए, इस सूत्र की व्याख्या अन्य आचार्यों ने अनतिविस्तृत और सरल रीति से की है, जब कि श्री कृष्ण वल्लभाचार्य ने इस सूत्र की व्याख्या पूरे 9 पृष्ठों में की है । यहाँ पर प्रकृति, त्रिगुण प्रमाण

और अभ्यास-वैराग्य — इन सभी का विवेचन बहुत विस्तार के साथ किया गया है। जिनकी अभी आवश्यकता नहीं है। इन सबसे संबन्धित सूत्र तो आगे आते ही हैं, अतः उस समय उनका विवेचन न्याय-संगत तथा उचित होता। इस कारण स्थान-स्थल पर यह व्याख्या अत्यन्त अरुचिकर और बोझिल होती हो गयी है।

इतना होने पर भी यह व्याख्या योगसूत्रों को विस्तार से समझने के लिए लाभप्रद है। विषय का विवेचन विस्तृत भले ही हो किन्तु उतना संतोषप्रद नहीं हुआ है जितना कि व्यासभाष्य में, तत्त्ववैशारदी में या योगवार्त्तिक आदि में हुआ है। व्याख्या में गम्भीर चिन्तन का प्रायः अभाव है,। व्यास भाष्य में विषयों का विवेचन बहुत ही गम्भीरता से किया गया है, इसके अतिरिक्त तत्त्ववैशारदी-कार ने तो विषय का विवेचन भाष्यकार से भी अधिक गम्भीरता के साथ किया है। शायद ही कोई विषय इनकी विस्तृत विचार पद्धति से छूटा हो।

व्याख्याओं के योगविषयक सिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा

एवं शास्त्रीय संगति का निर्णय

योग का लक्षण

इन अनेक व्याख्याओं में योगसूत्रों के सारे रहस्य खोले गए हैं। किसी व्याख्या में किन्हीं सूत्रों का उत्तम स्पष्टीकरण एवं विवेचन हुआ है तो अन्य में अन्य सूत्रों का। योगसूत्रों के समग्र विषयों पर इन व्याख्याओं का अपनी-अपनी दृष्टि से विश्लेषण एवं विवेचन है। कहीं पर एक व्याख्याकार का दूसरे व्याख्याकार से मतभेद है और कहीं पर अनेक व्याख्याकारों का मतैक्य। इन सारे तथ्यों का सम्पूर्ण रूप से आकलन एवं पर्यालोचन करने के लिए प्रत्येक सूत्र से सम्बद्ध व्याख्याओं के मतभेदस्थलों एवं मतैक्यस्थलों का निर्देश करते हुए विषय-विवेचन करना आवश्यक है। किन्तु प्रत्येक सूत्र के लिए सब व्याख्याओं का नामोल्लेख करने पर बड़ी पुनरुक्ति होगी क्योंकि अनेक विषय योगशास्त्र में ऐसे आए हैं जिनमें एक से अधिक सूत्र लिखे गए हैं। इसलिए इस शोधप्रबन्ध में सूत्र के स्थान पर एक-एक विषय ले लिया गया है और उस-उस विषय के लिए जितने सूत्र योगशास्त्र में प्रयुक्त हुए हैं, उन सब सूत्रों की व्याख्याओं का एकत्र आकलन किया गया है। साथ ही तत्तद् विषय पर समस्त व्याख्याओं की शास्त्रसंगति एवं अपेक्षित परिणति की ओर इंगित करते हुए पूरा विवेचन प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। विषयों की प्रस्तुति का क्रम वही रखा गया है जो महर्षि पतंजलि ने अपने सूत्रों के लिए स्वीकृत किया है। इस पद्धति से जहाँ योगसूत्र के चारों पादों के प्रमुख प्रतिपाद्य विषयों का क्रमशः अनुशीलन हो जाता है वहीं इन समस्त व्याख्याओं की सैद्धान्तिक समीक्षा भी साकल्येन सम्पन्न हो जाती है।

'योग' का अर्थ चित्तवृत्तिनिरोध है ।[1] चित्तवृत्ति निरोध को ही समाधि भी कहा गया है । अब शंका उठती है कि क्या 'योग' 'समाधि' का पर्यायवाची है ? वस्तुतः शंका का समाधान व्यास ने अधोलिखित प्रकार से किया है । चित्त की क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच भूमियाँ हैं । इन पाँचों भूमियों में चित्त-वृत्ति-निरोध यत्किंचित् मात्रा में होता ही रहता है । किन्तु प्रयोजन के बिना ही होने वाला यह वृत्तिनिरोध अल्पकालिक होता है और नैसर्गिक रूप से थोड़ी देर चलता है फिर जीवन के कार्य कलापों के कारण खण्डित भी होता रहता है । इस वृत्तिनिरोध का गौरव प्राप्त करने में कोई योगदान नहीं होता अतः योग की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं होता । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चित्त की सभी भूमियों में होने वाला वृत्तिनिरोध 'योग' नहीं है । केवल एकाग्र तथा निरुद्ध नामक भूमियों में होने वाला चित्तवृत्ति निरोध 'योग' है । इसीलिए यह कहा गया है कि सभी समाधियाँ अर्थात् सभी वृत्तिनिरोध योग नहीं हैं, केवल कुछ विशिष्ट समाधियाँ ही 'योग' हैं । वह विशिष्ट समाधियाँ कौन हैं ? चित्त की एकाग्र और निरुद्ध भूमियों की समाधि ही क्रमशः सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात कही जाती है और यही दोनों योग हैं । चित्त की एकाग्र भूमि में ध्येय वस्तु का पूर्ण वास्तविक ज्ञान हो जाता है,[2] केवल राजस और तामस वृत्तियों का निरोध होता है, अतः एकाग्र भूमि में हुई समाधि को 'सम्प्रज्ञातयोग' कहा जाता है । निरुद्ध भूमि में चित्त की सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है ।[3] केवल निरोध-संस्कार मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं । यह असम्प्रज्ञातयोग है । 'असम्प्रज्ञातयोग' में किसी भी वस्तु का किसी प्रकार का ज्ञान बुद्धि को नहीं होता । इसीलिए इसको 'असम्प्रज्ञातयोग' कहते हैं ।

- -

1 - "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।" योग०सू० 1/2 ।
"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।" वही 1/3 ।

2 - "यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान् कर्मबन्धनानि श्लथयति निरोधमभिमुखं करोति स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते ।" व्यासभाष्य पृ० 1 ।

3 - "सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसम्प्रज्ञातः समाधिः ।" वही पृ० 1 ।

तत्त्ववैशारदी

भाष्यकार की भाँति वाचस्पतिमिश्र ने भी 'योगः समाधिः' की मान्यता को स्वीकार किया है। वाचस्पतिमिश्र ने अपनी व्याख्या में 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति को समझाते हुए कहा है कि 'योग' शब्द 'युज समाधौ' धातु से निष्पन्न है और यहाँ 'समाधि' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। अब शंका यह उठती है कि समाधि तो योग का अंग है और योग उसका अंगी है फिर योग को समाधि कैसे कहा जा सकता है? इस शंका का समाधान यह है — चूँकि योग शब्द 'युज् समाधौ' धातु से उत्पन्न है, अतः 'योगः समाधिः' कहा जाता है। सूत्र के अनुसार योग शब्द का प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ तो 'चित्तवृत्तिनिरोध' ही है। 'समाधि' तो योग का व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ है, प्रवृत्तिनिमित्तक नहीं। प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ उसे कहते हैं जिस अर्थ में कोई शब्द प्रयुक्त होता है, अर्थात् उस शब्द का वाच्यार्थ। यही अर्थ प्रवृत्तिलभ्य अर्थ या शक्यतावच्छेदक भी कहा जाता है। अतः 'योग' शब्द का वाच्यार्थ चित्तवृत्तिनिरोध है, समाधि नहीं। जैसे 'गौ' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'गच्छति इति गौः', जो चले या जाये वह 'गौ' है। किन्तु यह प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ नहीं है। 'गौ' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ है सास्नादिमान् पशु। प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ ही किसी पद का वास्तविक अर्थ होता है। इसलिए 'योग' का वास्तविक अर्थ हुआ 'चित्तवृत्तिनिरोध', न कि समाधि। वस्तुतः वाचस्पतिमिश्र भाष्य प्रयुक्त इस 'समाधि' शब्द से केवल योगांगभूत-समाधि का ही ग्रहण करते हैं और इसलिए योग और समाधि को पर्यायवाची नहीं मानते। उनकी दृष्टि में समाधि अंग है और योग अंगी। इसलिए दोनों की भिन्नार्थकता स्वतः सिद्ध है, अभेदोपचार से भले ही 'योगः समाधिः' कह दिया जाये।

- -

1 - "व्युत्पत्तिनिमित्तमात्राभिधानं चैतद्योगः समाधिरिति अंगाङ्गिनोरभेद-विवक्षा मात्रेण। प्रवृत्तिनिमित्तं तु योगशब्दस्य चित्तवृत्तिनिरोध एवेति परमार्थः।"

त0वै0 पृ0 3।

इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि क्या 'चित्तवृत्तिनिरोध' ही योग है तो क्या चित्त की क्षिप्तादि भूमियों में होने वाला निरोध भी योग है ? इसका उत्तर यह है कि केवल एकाग्र और निरुद्ध नामक भूमियों में होने वाला निरोध ही योग है । इन दोनों भूमियों में हो मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा नाम की योग की अवस्थाएँ आ जाती हैं । 'एकाग्रभूमि' में मधुमती 'मधुप्रतीका और विशोका तथा 'निरुद्ध' भूमि में संस्कारशेषा अवस्था की स्थिति होती है । अतः योग का लक्षण यह हुआ कि चित्त की जिस विशेषअवस्था में प्रमाणादिवृत्तियों का पूर्ण निरोध होता है वह अवस्थाविशेष ही 'योग' है ।[1] यद्यपि चित्तवृत्तियों का निरोध ही परमार्थतः योग है तथापि सभी प्रकार के चित्तवृत्तिनिरोध को योग नहीं माना जा सकता है । वस्तुतः जिस चित्तवृत्तिनिरोध में क्लेशकर्मादि की निवृत्ति हो सके उस चित्तवृत्तिनिरोध को ही 'योग' कहा जा सकता है । इसलिए फलितार्थ यह हुआ कि क्लेश और कर्माशयों का परिपन्थी चित्तवृत्तिनिरोध ही योग है ।[2] योग के दो भेदों सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात को वाचस्पतिमिश्र ने भी स्वीकार किया है ।

---

1 - " निरुध्यन्ते यस्मिन्प्रमाणादिवृत्तयोऽवस्थाविशेषे चित्तस्य सोऽवस्थाविशेषो योगः ।"

— ता० वै० पृ० १० ।

2 - " क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थी चित्तवृत्तिनिरोधस्तु तमपि संगृह्णाति ।"

— वहीं पृ० १० ।

राजमार्तण्डवृत्ति

क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये चित्त की भूमियाँ या अवस्थाएँ हैं । क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त नामक अवस्थाओं में चित्त सांसारिक विषयों में ही भटकता रहता है, अतः चित्त की ये भूमियाँ योग के लिए उपयोगी नहीं मानी गयी हैं । चित्त की एकाग्र और निरुद्ध भूमि में वृत्तियों का जो निरोध होता है उसे 'योग' कहते हैं[1] ।

चित्त की एकाग्र भूमि में चित्त की बाह्यवृत्तियों का निरोध हो जाता है । बाह्यवृत्तियों से तात्पर्य सभी प्रकार के सांसारिक विषयों से उत्पन्न राग, द्वेषयुक्तवृत्तियाँ हैं । ये वृत्तियाँ राजस और तामस गुणयुक्त होती हैं अतः यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि चित्त की राजस और तामस वृत्तियों का निरोध होने पर चित्त में केवल सात्त्विकवृत्ति शेष रह जाती है ।

निरुद्धावस्था में चित्त की सात्त्विकवृत्ति का भी नाश हो जाता है और चित्त प्रतिलोमपरिणाम द्वारा अर्थात् विलय की प्रक्रिया द्वारा अव्यक्त में लीन हो जाता है । निरुद्धावस्था में चित्त की समस्त वृत्तियों और वृत्तियों के संस्कारों का लय अव्यक्त में हो जाता है । इस प्रकार इन दो बाद की भूमियों में हुआ चित्तवृत्ति निरोध ही 'योग' है[2] ।

---

1 - "'एकाग्रे' बहिर्वृत्तिनिरोधः । निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च प्रविलय इत्यनयोरेव भूम्योर्योगस्य सम्भवः ।"

रा०मा०वृ० पृ० 6 ।

2 - "चित्तस्य निर्मलसत्त्वपरिणामरूपस्य या वृत्त्योऽङ्गाङ्गिभाव परिणामरूपास्तासां निरोधो बहिर्मुखतया परिणतिविच्छेदादन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन स्वकारणे लयो योग इत्याख्यायते ।"

- वही - पृ० 8 ।

भोज ने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' में सर्व शब्द के अप्रयोग को लेकर कोई विवेचन नहीं किया है जब कि व्यास, वाचस्पतिमिश्र और विज्ञानभिक्षु सबने इस सूत्र में वृत्ति के पूर्व 'सर्व शब्द' का प्रयोग न होने के कारण 'सम्प्रज्ञात' का योगत्व सिद्ध करते हुए इस संदर्भ की व्याख्या को आगे बढ़ाया है । भोज ने संप्रज्ञात-योग असंप्रज्ञात-योग का नाम निर्देश नहीं किया है परन्तु एकाग्र और निरुद्धावस्था में हुए चित्तवृत्तिनिरोध से स्वयमेव संप्रज्ञात और असंप्रज्ञातयोग की उक्त प्राप्तता स्वीकार की है[1] ।

विवरण

चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है[2] । चित्त की क्षिप्तादि भेद से पाँच प्रकार की भूमियाँ मानी गयी हैं जिनमें से केवल एकाग्र और 'निरुद्ध' भूमि में किया गया वृत्तिनिरोध ही 'योग' माना जाता है । एकाग्र भूमि में चित्त की राजस और तामस सब अविद्या, राग, क्लेश और कर्मादि वृत्तियों का निरोध होता है तथा चित्त में केवल सात्त्विकवृत्ति अवशिष्ट रह जाती है । सात्त्विक वृत्ति का स्वरूप ज्ञानात्मक तथा प्रकाशात्मक है । अतः केवल इस वृत्ति के रहने के कारण ही इस समाधि में ध्येय-विषय का सम्यक्ज्ञान प्राप्त होता है और यही कारण है कि इस समाधि का नाम 'संप्रज्ञात-समाधि' है । जब कि सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है तब असंप्रज्ञात-समाधि होती है । इस समय बुद्धि के माध्यम से चितिशक्ति को कोई भी बौद्धिक ज्ञान नहीं होता ।

---

1 - "अनयोर्द्वयोरेकाग्रनिरुद्धयोर्भूम्योश्चित्तस्यैकाग्रतारूपः परिणामः स योग इत्युक्तं भवति ।" रा० मा० वृ० पृ० 8 ।

2 - "चित्तवृत्तिनिरोधलक्षण इति वा वक्तव्यम् । नैष दोषः लक्ष्ये लक्षणाध्यासात् ।"
विवरण - पृ० 9 ।

योगलक्षणप्रतिपादक "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" सूत्र योग की परिभाषा की दृष्टि से बहुत सार्थक तथा उचित है क्योंकि यदि सूत्र में "सर्वचित्तवृत्ति-निरोधः" होता तो केवल असंप्रज्ञात-समाधि को ही 'योग' माना जाता परन्तु सूत्र में 'सर्व' शब्द का अप्रयोग यह निर्विवाद रूप से सिद्ध करता है कि सम्प्रज्ञात-समाधि भी 'योग' है । इस प्रकार इस सूत्र के द्वारा उक्त दोनों समाधियों का 'योग' के अन्तर्गत अन्वयन हो जाता है जो सर्वथा उचित है ।

योगवार्त्तिक

विज्ञानभिक्षु ने भी वाचस्पतिमिश्र की भाँति 'योग' शब्द को 'युज् समाधौ' धातु से व्युत्पन्न माना है । चित्त की भूमियों के बारे में भाष्यकार के ही समान वार्त्तिककार ने भी क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध नामक पाँच भूमियाँ मानी हैं । यद् किञ्चित् निरोध चित्त की सभी भूमियों में होना भी स्वीकार किया गया है अतः उक्त भाष्यकार की भाँति वार्त्तिककार ने भी समाधि को चित्त का सार्वभौम धर्म माना है । इनमें से एकाग्र और निरुद्ध भूमि में होने वाली समाधि को ही 'योग' कहा जा सकता है । चित्त की वृत्तियों के बारे में वार्त्तिककार ने वाचस्पतिमिश्र के समान ही प्रमाणादिवृत्तियों का उल्लेख किया है और लिखा है कि चित्त की प्रमाणादि वृत्तियों का निरोध ही 'योग' है । निरोध का तात्पर्य है वृत्तियों का अपने अधिकरण में लीन हो जाना[1] । यहाँ पर वार्त्तिककार का विवेचन उक्त दोनों विद्वानों से भिन्न रूप का है । भाष्यकार और वाचस्पतिमिश्र ने निरोध का अर्थ 'रोकना' किया है जब कि विज्ञानभिक्षु ने अधिकरण में लीन हो जाना किया है । विज्ञानभिक्षु का कहना है कि निरोधकाल में वृत्तियाँ एकदम से नष्ट नहीं हो जातीं और न ही उनका अभाव हो जाता है प्रत्युत वे अपने कारण में लीन हो जाती हैं । चित्तवृत्तियों का जो निरोध

- -

1 - " वृत्तिनिरोधश्च चित्तस्य वृत्तिसंस्कारशेषावस्था । "अभावश्चाधिकरणा-वस्थाविशेषमात्रस्वत्वाद्, निरुद्धमेऽप्यागतस्थायामिति अनुत्पत्तेर्न । "

- यो०वा०सू० 7 ।

पुरुष की आत्यन्तिकस्वरूपावस्थिति का हेतु बनता है उसे 'योग' कहते हैं ।

'संप्रज्ञात' योग का अर्थ स्पष्टीकरण करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं 'सम्यक् प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयमस्मिन्निरोधविशेषरूपे योगे इति सम्प्रज्ञातो-योगः ।'[1] जिस योग में ध्येय विषय का साक्षात्कार होता रहता है वह सम्प्रज्ञात-योग है। जब इस साक्षात्काररूपणीवृत्ति का भी निरोध हो जाता है उस योग को असम्प्रज्ञात-योग कहते हैं । इस योग में कुछ भी ज्ञात नहीं होता क्योंकि इसका नाम असम्प्रज्ञात है 'न किंचित्प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते इति विग्रहेणासम्प्रज्ञातनामा चेति वाक्यार्थः ।'[2] " इस असम्प्रज्ञात की स्थिति में बुद्धि के माध्यम से होने वाले सारे ज्ञानों का अभाव होने पर भी 'ज्ञ' एवं पुरुष प्रकाशस्वरूप ही स्थित रहता है उसका 'चैतन्य' स्वभाव नहीं बाधित होता भले ही उसका दृश्य विषय कुछ न हो । वह अपने विषय रहित चैतन्य स्वरूप में अवस्थित रहता है ।[3]

- -

1 - द्रष्टव्य - यो०वा०पृ० 7 ।

2 - द्रष्टव्य - - वही - पृ० 15 ।

3 - " तदासंप्रज्ञातकाले द्रष्टुः चितिशक्तेः पुरुषस्य स्वरूपे निर्विषय चैतन्य मात्रेऽवस्थानम् । "

- वही पृ० 7 ।

योगदीपिका

अन्तःकरण की वृत्तियों का प्रयत्नविशेष से निरोध ही 'योग' है । ध्येयविषय के अतिरिक्त अन्य विषयाकार चित्तवृत्तियों का निरोध सम्प्रज्ञात-योग है जब कि समस्तप्रकार की चित्तवृत्तियों का पूर्णनिरोध असम्प्रज्ञातयोग होता है[1] । योग के द्विविध भेदों का समान महत्त्व स्वीकार करने में भावागणेश ने भाष्य का ही अनुकरण किया । वृत्तियों का उत्पन्न विकसित होना और उनका निर्वर्तन होना अर्थात् सिकुड़ते हुए निवृत्त हो जाना ही 'योग' है । यह लक्षण दोनों योगभेदों पर लागू होता है ।

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

विरोधप्रयत्न के द्वारा अन्तःकरण की वृत्तियों का निग्रह ही 'योग' है । भावागणेश ने वृत्ति के निवर्तन को वृत्तिनिरोध या योग स्वीकार किया था नागोजीभट्ट ने भी शब्दों का थोड़ा और हेर फेर करते हुए योग का यही लक्षण प्रस्तुत किया है । वे वृत्ति-निग्रह को वृत्तिनिरोध कहते हैं । सम्प्रज्ञात में राजस और तामस वृत्तियों के निरोधसंस्कार और सात्त्विक वृत्ति अवशिष्ट रहती है । असम्प्रज्ञात में सात्त्विकवृत्ति के भी निरोध के कारण चित्त में केवल निरोध-संस्कार ही रह जाते हैं । यही चित्त की संस्कारशेषावस्था कही जाती है[2] ।

---

1 - " चित्तस्यान्तःकरणस्य वर्तमाना या वृत्तयः तासां निरोधो निवर्तनं योग इत्यर्थः । प्रयत्नविशेषविशिष्टचित्तनिग्रहरूपो वृत्तिविलयहेतुर्न तु वृत्त्यभाव एव । ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः अन्यस्तु सर्ववृत्तिनिरोधः । "

2 - " साधारण्या तारतम्यविशिष्टसंस्कारपरिणामधारा न तु वृत्त्यभाव एव । "
- पा०यो०सू०वृ० 3 I

मणिप्रभा

चित्त की रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों का निरोध योग है ।[1] इसीलिए यद्यपि सम्प्रज्ञातसमाधि में रजोगुण तथा तमोगुण युक्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है । केवल सात्त्विकवृत्ति अवशिष्ट रहती है । फिर भी सम्प्रज्ञातसमाधि में योग का उक्त लक्षण अव्याप्त नहीं है । असम्प्रज्ञात-योग में चित्त की सात्त्विकवृत्ति का भी निरोध हो जाता है । इस समाधि में बुद्धि के माध्यम से कुछ भी ज्ञात नहीं होता ।[2] क्योंकि असम्प्रज्ञातयोग की अवस्था में बुद्धि द्वारा वीतिविषयों से चिति-शक्ति का कोई सम्पर्क नहीं रह जाता है । वस्तुतः बुद्धि सात्त्विकवृत्तिरहित होने के कारण संस्कार शेषावस्था में रहती है फलतः कोई विषय चितिशक्ति को प्रदर्शित ही नहीं कर सकती । इसलिए चितिशक्ति का बुद्धिवृत्ति के साथ सम्पर्क सर्वथा असम्भव हो जाता है ।[3] उस स्थिति में चितिशक्ति केवल अपने स्वरूप में स्थित रहती है ।

सूत्रार्थबोधिनी

चित्त की रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों का निरोध ही योग है । प्रस्तुत व्याख्या में 'निरोध' का अर्थ 'प्रतिलोमपरिणामेनोपशमः ' किया गया है ।[3] विलय की प्रक्रिया के द्वारा अव्यक्तावस्था को प्राप्त होते जाना, 'प्रतिलोमपरिणाम' है । वृत्तियों के प्रतिलोमपरिणाम की चरमावस्था ही उनका उपशम है । इस प्रकार उपशम का अर्थ हुआ वृत्तियों का पूर्ण रूप से शान्त हो जाना ।

- -

1 - " चित्तस्य रजस्तमोवृत्तीनां निरोधो 'योग' इत्यर्थः । "
— मणिप्रभा पृ0 2 ।

2 - " सोऽयमसम्प्रज्ञातसमाधिः । अत्रहि न किंचित् प्रज्ञायत इत्यलम् । "
— वही पृ0 3 ।

3 - " चित्तस्य रजस्तमोवृत्तीनां बलवत्तमानां निरोधः प्रतिलोम-परिणामेनोपशमो योग इत्यर्थः । "
— सूत्रार्थबोधिनी पृ0 2 ।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका –

सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों समाधियाँ योग के अन्तर्गत आती हैं। इस व्याख्या में नारायण-तीर्थ ने अपनी सूत्रार्थबोधिनी में प्रस्तावित योग के लक्षण का विस्तृत विवेचन किया है। 'निरोध' का स्वरूप वृत्तियों का उपशम है। उस उपशम को दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया गया है जैसे इन्धनरहित अग्नि अपनी कारणावस्था को प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार वृत्तियाँ भी अपनी कारणावस्था में संस्काररूप से लीन हो जाती है। इस प्रकार के लक्षण की पुष्टि कूर्मपुराण में आयी हुई भगवान्शिव की उक्ति से तथा गीता में भगवान कृष्ण के वचन से की गई है[1]। नारायण-तीर्थ ने असम्प्रज्ञात-योग को 'महायोग' की भी संज्ञा दी है। इसे ध्येय-विषयरहित्य के कारण 'निरालम्ब' समाधि भी कहा है। इनकी दृष्टि में असम्प्रज्ञात-योग ही 'राजयोग' है और उसी योग को सूत्रकार के योगलक्षण का प्रमुख लक्ष्य सिद्धान्तित किया है[2]। किन्तु इस मान्यता से उभयविधयोगस्वीकार रूपी भाष्यमान्यता का विरोध नहीं होता[3]।

---

1 – द्रष्टव्य – योगसिद्धान्तचन्द्रिका। पृ0 3।

2 – " राजयोगविशिष्टाभिप्रायेण लक्षणसूत्रमाह। "
– वही पृ0 3।

3 – " भाष्येण विरुध्यत इति चेन्न। संप्रज्ञात प्रकरण॰, तामवस्थाति निरुद्ध्य इत्युत्तर ग्रन्थेनविशिष्टवृत्तिनिरोधस्येव लक्ष्यत्वज्ञापनात्। "
– वही पृ0 4।

भास्वतीकार ने 'योग' का अर्थ करते हुए यह कहा है कि यह शब्द युज समाधौ धातु से निष्पन्न हुआ है अतः 'संयोग' आदि इसके अर्थ नहीं हैं।[1] 'योगियाज्ञवल्क्य' आदि ग्रन्थों को अभिमत 'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः' अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा का संयोग ही योग है – भास्वतीकार को अभीष्ट नहीं है। यह योग चित्त का पूर्ण समाधान अर्थात् चित्त का सम्यग् आधान है। सम्यग् आधान का अर्थ है ठीक से रखना। तात्पर्य यह है कि न तो चित्त रजोगुण के प्रभाव से ज़रा भी चञ्चल रहे और न तमोगुण के प्रभाव से ज़रा भी अज्ञान या आलस्यसे प्रभावित हो। चित्त की ऐसी समाहितस्थिति या निस्तरंग अवस्था चित्त की एकाग्र भूमि और निरुद्ध भूमि – दोनों में होती है। यद्यपि यह अवस्था थोड़ी बहुत चित्त की क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमियों में भी होती है किन्तु इन भूमियों की समाधि तात्कालिक एवं प्रभावहीन होने के कारण 'कैवल्य' प्रद नहीं होती[2]। अतः चित्त की एकाग्र और निरुद्ध भूमि में ही होने वाले चित्त के सम्यग् आधान या सम्यग् अवस्थान को 'योग' माना जा सकता है।

चित्त की एकाग्र-भूमि में होने वाली समाधि को सम्प्रज्ञातयोग नाम दिया गया है, क्योंकि चित्त की एकाग्र-भूमि में ध्येयविषय के पारमार्थिक स्वरूप का ज्ञान होता है और क्लेश, कर्मादि चित्त के कषायों का क्षय होता है। 'क्षय' का अर्थ है उन कषायों का 'बन्ध्यप्रसव' हो जाना[3]। उनको इस स्थिति तक निरुद्ध कर दिया जाता है कि वे पुनः चित्त में उदित न हो सकें।

- -

1 – "न च संयोगाद्यर्थको यं योगः' युज् समाधौ ' इति शाब्दिकाः मेधावि समाधि-श्चित्तसमाधानार्थकः। न च तदेकार्थमात्रादिसूत्रलक्षितः पारिभाषिकः समाधिः। सम्यगाधानमेव शाब्दिकानां समाधानमेतत्।"

– भास्वती पृ० 6।

2 – "न च तत्कैवल्याय भवति।" – वही पृ० 8।

3 – "तथा च क्षिणोति क्लेशान्, तत्त्वज्ञानस्य चेतस्युपस्थानादविद्याऽऽदीन् क्लेशान्, स योगः कर्मणो बन्ध्यप्रसवान् करोति।" – वही पृ० 9।

योग के द्विविध स्वरूपों को भास्वतीकार ने भी यों का त्यों स्वीकार किया है । चित्त की एकाग्र भूमि में होने वाली समाधि सम्प्रज्ञात-योग है और निरुद्ध भूमि में होने वाली समाधि असम्प्रज्ञात-योग है । 'योग' की दृष्टि से सम्प्रज्ञात-समाधि का कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है । सम्प्रज्ञात- समाधि द्वारा ही चित्त के अविद्या, राग और क्लेशादि मलों का निरोध होता है और चित्त ध्येयविषय में एकनिष्ठ होने के कारण चित्त को ध्येयविषय का वास्तविक एवं पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है । सम्प्रज्ञात-समाधि की अन्तिम उपयोगिता यह भी है कि इसके सिद्ध होने पर ही सभी वृत्तियों का निरोध रूप 'असम्प्रज्ञात-योग' सम्भव होता है[1] ।

स्वामिनारायणभाष्य

सात्त्विक, राजसिक और तामसिक रूप वाली जितनी भी चित्त की वृत्तियाँ हैं, उन सभी का उनके कारण मूल-तत्त्व बुद्धि में अर्थात् चित्त में आत्यन्तिक लय ही योग है[2] । इन वृत्तियों का आत्यन्तिक लय कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है -- जब बुद्धिवृत्तियाँ विवेकज्ञान रूपी अग्नि द्वारा दग्धबीजभावापन्न हो जाती हैं तभी उनका बुद्धि या चित्त में आत्यन्तिक विलय होता है । 'आत्यन्तिकविलय' का अर्थ है बुद्धिवृत्तियों का उनके कारण में लीन हो जाना । आत्यन्तिक-रूप से विलीन होने पर बुद्धिवृत्तियाँ पुनः उदित नहीं हो पाती अर्थात् वे दग्धबीजभावापन्न हो जाती हैं ।

- -

1 - " सम्प्रज्ञातसिद्धौ सम्प्रज्ञानस्यापि निरोधे यः सर्ववृत्तिनिरोधः स त्वसम्प्रज्ञातो योग इति । " - भास्वती पृ0 10 ।

2 - " यावतीनां बुद्धिवृत्तीनां सात्त्विकीनां राजसीनां तामसीनाम् प्रमाणविपर्ययविकल्प-निद्रास्मृत्यभिधानां स्वकारणे बुद्धितत्त्वे तासामात्यन्तिको लयः 'योग' इत्युच्यते ।"
— स्वामिनारायण-भाष्य पृ0 । 5 ।

योग के दोनों भेदों सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात का निरूपण श्री कृष्णवल्लभाचार्य ने बहुत विस्तारपूर्वक किया है। 'सम्प्रज्ञातयोग' को 'सम्प्रज्ञान' तथा 'अपरयोग' नाम से भी अभिहित किया है। असम्प्रज्ञात-योग को 'असम्प्रज्ञान' और 'परयोग' नाम दिया है[1]। इनकी दृष्टि में यद्यपि मोक्ष की प्राप्ति के लिए दोनों 'योगों' का महत्वपूर्ण स्थान है फिर भी असम्प्रज्ञात की आपेक्षिक 'उत्कृष्टता' या 'परता' को वे स्वीकार करते हैं। यमनियमादि द्वारा चित्त वृत्तियों का निरोध करने के उपरान्त सम्प्रज्ञातसमाधि होती है जिसमें परमतत्व का ज्ञान होता है। इसी समाधि में निरन्तर स्थिति रहने पर विवेकख्याति होती है। विवेकख्याति से पुरुष और प्रकृति के स्व का यथार्थज्ञान होता है और अन्त में एक ऐसी भी स्थिति आती है जिसमें इस ज्ञान के प्रति भी वैराग्य हो जाता है और तब जो समाधि होतीहै उसे 'असम्प्रज्ञात-योग' कहते हैं। यही 'परमयोग' है। जिससे साक्षात् मोक्षलाभ होता है और इस समाधि में आरूढ़ योगी जीवन्मुक्त हो कर कैवल्यप्राप्त कर लेता है[2]।

---

1 - "यमनियमादिसाधनजन्यत्वेसति परमयोगजनकत्वम्' अपरयोगस्य लक्षणम्। स चायमपरोयोगः सम्प्रज्ञान इति स बीज इति च ख्यायते। परमो योगस्त्वसंप्रज्ञान इति निर्बीज इति च ख्यायते।"
— स्वामिनारायणभाष्य पृ0 16।

2 - "अत एव परमे योगे सम्यग् महायोगी जीवन्मुक्त इति भवति।"
— वही पृ0 16।

इस प्रकार 'योग के लक्षण' के विषय में इन सभी व्याख्याओं का विवेचन करने पर यह तथ्य स्पष्ट होता है कि सूत्रानुसारी व्यासभाष्य का अभिमत ही सभी व्याख्याओं में यत्किंचित शब्दान्तर से देखने को मिलता है। तत्त्ववैशारदी में थोड़ा परिवर्तन योग और समाधि के व्याप्यव्यापक सम्बन्ध में देखने को मिलता है। भाष्य के अनुसार योग व्याप्य है और समाधि व्यापक है अर्थात् सभी योग समाधि कहे जा सकते हैं किन्तु सभी समाधियाँ योग नहीं हो सकतीं, उदाहरणार्थ-क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमि की समाधियाँ योग की कोटि में नहीं आतीं। 'भवप्रत्यय' असम्प्रज्ञात-समाधि भी योग नहीं मानी जाती। तत्त्ववैशारदीकार ने भी और सारी बातें तो इस वर्गीकरण की स्वीकार की है किन्तु बजाय समाधि को चित्त का सार्वभौम धर्म मानने के योग को चित्त का सार्वभौम धर्म कहा है और योग को अंगी तथा समाधि को अंग कहा है। वार्तिक और वार्तिकानुयायी सभी व्याख्याकारों ने भाष्य के वर्णन को अक्षरशः अनुमोदित किया है।

वृत्तिनिरोध

व्यासभाष्य

योग के लक्षण का विवेचन करने से यह निश्चित हो गया है कि चित्त की सात्त्विक , राजसिक और तामसिक वृत्तियों को रोकना ही निरोध है । पूर्ण निरोधावस्था में चित्त में केवल निरोध संस्कार मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं । यह निरोध-संस्कार सम्प्रज्ञात-समाधि से उत्पन्न ज्ञानसंस्कारों के भी विरोधी होते हैं ।[1] निरोध-संस्कारों से चित्त वृत्ति के निरोध के साथ-साथ वृत्तियों के संस्कारों का भी निरोध होता है । सम्प्रज्ञात-समाधि में आंशिक निरोध और असम्प्रज्ञात-समाधि में वृत्तियों का पूर्ण निरोध होता है । एक बात यहाँ पर और भी ज्ञातव्य है कि सम्प्रज्ञात काल में वृत्तियों का जो आंशिक निरोध कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि सात्त्विवृत्ति पूर्ण रूप से बनी रहती है और राजस तथा तामस वृत्तियों का यहाँ पर भी पूर्ण निरोध होना है आंशिक न हो ।

तत्त्ववैशारदी

निरोध का अर्थ वृत्तियों का अभाव हो जाना है । चित्त की वृत्तियों का अभाव ही निरोध है । सम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त की राजस- तामस- वृत्तियों का अभाव हो जाता है । केवल उनके निरोध-संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं ।[2] वृत्तिनिरोध के फलभूत ये संस्कार निरोध-संस्कार कहे जाते हैं । इसी प्रकार

- -

1 - " प्रज्ञाकृतानां संस्काराणामपि प्रतिबन्धी भवति । "
— व्यासभाष्य पृ० 132 ।

2 - " राजसतामसवृत्तिनिरोधात्तत्र च तद्व्यापारितलसंस्कारा । "
— तत्त्ववैशारदी पृ० 10 ।

इसी प्रकार असम्प्रज्ञात में भी जानना चाहिए । निरोध के दो उपाय हैं अभ्यास और वैराग्य । वैराग्य द्वारा चित्त को बाह्य विषयों की तरफ उन्मुख होने से रोका जाता है । इसके पश्चात् योगाङ्गों के अभ्यास से चित्त को स्थिर किया जाता है । निरोधावस्था में व्युत्थान कालिक वृत्तियों का अभिभव होता है तथा निरोध-संस्कारों का आविर्भाव होता है । ऐसी अवस्था में चित्त निरोध-संस्कारों से अन्वित होकर निरोध-परिणाम को प्राप्त होता है । निरोध-संस्कारों से चित्त का अन्वित होना ही निरोध-परिणाम है । अब प्रश्न उठता है -- व्युत्थान-संस्कारों का निरोध कैसे होता है ? क्या चित्तवृत्तियों के निरोध से व्युत्थान-संस्कार भी निरुद्ध हो जाते हैं ? इन प्रश्नों का समाधान इन शब्दों में किया गया है । व्युत्थान-संस्कार चित्त के धर्म हैं । चित्त इन व्युत्थान-संस्कारों का उपादान कारण है । किसी भी कार्य का नाश उसके उपादान कारण के निरोध से ही सम्भव है। अतः चित्त के निरोध से ही व्युत्थान-संस्कारों का निरोध सम्भव है । निरोध-संस्कार भी चित्त के धर्म हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्युत्थान-संस्कारों का निरोध उनके उपादान कारण चित्त के निरोध से ही सम्भव है । उनके निमित्त कारणभूत वृत्तियों के निरोध से नहीं होता । पूर्णतः वृत्ति निरोध के फलस्वरूप ही निर्बीज-समाधि होती है जिसमें जात्यादि क्लेशयुक्त कर्माशय रूप बीज चित्त में से निकल चुके रहते हैं[1] ।

- -

1 - " निरोधस्य स्वरूपमाह — स निर्बीज इति । क्लेश सहितः कर्माशयो जात्यायुर्भोग बीजम् । तस्मान्निर्गत इति निर्बीजः । "

तत्त्ववैशारदी पृ0 ।2।

राजमार्तण्डवृत्ति

चित्त की बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके प्रतिलोम-परिणाम द्वारा चित्त की वृत्तियों को उनके कारण में लीन कर देना ही "चित्तवृत्तिनिरोध" करना है।[1] यह चित्तवृत्तिनिरोध थोड़ा बहुत तो सभी प्राणियों के चित्त की सभी भूमियों में होता रहता है, परन्तु क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त भूमि में हुआ चित्तवृत्ति-निरोध स्वल्पकालिक और प्रभावहीन होने के कारण समाधि के लिए उपयोगी नहीं है। समाधि के लिए केवल एकाग्र और निरुद्ध भूमि में हुआ चित्तवृत्ति-निरोध ही उपयोगी होता है। इन भूमियों में क्रमशः चित्त की राजस-तामस तथा सभी वृत्तियाँ एवं उनके तज्जन्य संस्कारों का विलय हो जाता है। इस प्रकार वृत्तिकार ने चित्तवृत्ति-निरोध के बारे में जो विवेचन किया है उसमें तीन बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं:—

(1) प्रतिलोम-परिणाम द्वारा चित्त की वृत्तियों का उनके कारण में लीन होना ही वृत्ति निरोध का स्वरूप है।

(2) सभी भूमियों में हुए चित्तवृत्ति निरोध को निरोध संज्ञा दी जा सकती है।

(3) निरोध-काल में सभी वृत्तियाँ तथा संस्कार अपने कारण में लीन हो जाते हैं।

- -

1. " चित्तस्य निर्मलसत्त्वपरिणामरूपस्य या वृत्तयोऽङ्गाङ्गिभावपरिणामरूपास्तासां निरोधो बहिर्मुखतया परिणतिविच्छेदादन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामे स्वकारणे लयो योग इत्याख्यायते। "

रा०मा० सू० पृ० ४।

विवरण

वृत्तिनिरोध के दो उपाय हैं परवैराग्य और अभ्यास[1]। इन उपायों द्वारा क्रमशः सभी चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। सभी चित्तवृत्तियों से तात्पर्य यह है कि समाधिप्रज्ञाजन्य ऋतम्भराप्रज्ञा का भी इसमें ग्रहण करना चाहिए[2]। ऋतम्भराप्रज्ञा तथा उसके संस्कारों का भी निरोध हो जाने पर चित्त में केवल निरोधसंस्कार रह जाते हैं। ये निरोध-संस्कार कैवल्य-प्राप्ति के मार्ग में बाधक नहीं होते। वृत्तिनिरोध तथा व्युत्थान-संस्कारों का निरोध करने के उपरान्त ये निरोध-संस्कार चित्त में ही पड़े रहते हैं और चित्त के साथ ही ये प्रकृति में प्रविलीन हो जाते हैं। सभी वृत्तियों, संस्कारों तथा निरोध-संस्कारों के भी अपने कारण में लीन हो जाने के उपरान्त अकेला पुरुष कैवल्य लाभ प्राप्त कर केवली हो जाता है। पुरुष को चित्त से मुक्ति इस निरोधज-संस्कारों के द्वारा ही मिलती है इसीलिए 'चित्तवृत्तिरेव' मुक्तिः इति' यह कहा गया है[4]।

- -

1 - "उक्तमेवोपायद्वयं परवैराग्यविरामप्रत्ययाभ्यासाभ्यां तन्निरोधस्य"।
— योगसूत्रभाष्य विवरण पृ० ।

2 - "यथैव तां समाधिप्रज्ञामृतम्भरां निरुणद्धि, तथैवात्मना सजातीयानां स्वकारणप्रज्ञाकृतानां संस्काराणामपि प्रतिबन्धीनिरोधाद्भवति।"
— वही पृ० 118।

3 - "व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः व्युत्थानसमाधिप्रभवैः निरोधसमाधिप्रभवैश्च सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं अवसिताधिकारत्वात् स्वस्यां प्रकृतौ स्वकारणेऽस्मितामात्रे प्रविलीयते प्रत्यस्तमेति।" — वही पृ० 119।

4 - "तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठः केवलो मुक्त इत्युच्यते, चित्तवृत्तिनिवृत्तिरेव मुक्तिः इति।" — वही पृ० 119।

योगवार्तिक

वार्तिककार ने निरोध को और अधिक स्पष्ट किया है । उनके अनुसार चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ चित्तवृत्तियों का अपने अधिकरण में लीन हो जाना है ।[1] लीन होने से तात्पर्य वृत्तियों का अभाव या नष्ट होना नहीं है । वृत्तियों का लय होना, चित्तरूपी अधिकरण की ही एक विशिष्ट अवस्था है । चित्तवृत्ति निरोध काल में चित्त में केवल वृत्तियों से बने हुए संस्कार मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं ।[2]

योगदीपिका

चित्त की समस्तात्कालिक वृत्तियों तथा तज्जन्य संस्कारों का अत्यन्ताभाव ही वृत्तियों तथा तज्जन्य संस्कारों का निरोध है । जब अभ्यासजन्य दृढ़ता के कारण निरुद्धवृत्तियाँ तथा संस्कार चित्त में पुनः उदित नहीं होते उस समय चित्त सभी वृत्तियों और तज्जन्य संस्कारों से रहित होकर निर्बीज-समाधि की पराकाष्ठा को प्राप्त होता है ।[3]

- -

1 - " निरोधश्चासां तयाख्योऽधिकरणस्यैवावस्थाविशेषः ।"

— योगवार्तिक पृ0 12।

2 - " वृत्तिनिरोधश्च चित्तस्य वृत्तिसंस्कारशेषावस्था, अभावस्याधिकरणावस्थाविशेषमात्रत्वात्, निरुध्यन्तेऽस्यामवस्थायामिति व्युत्पत्तेर्वा "।

— वही पृ0 7।

3 - " पूर्वपूर्वाभ्यासे जाते तावत्तावद्य निरुध्यते । प्रशान्तसंस्कारस्य तानवमात्रम् । एवं क्रमेण तस्यापि प्रज्ञाकृतसंस्कारस्याप्यसमिलितपरम्पराया निरोधः अत्यन्तनिरुद्धे जायमाने चरमसिद्धावस्थायां निर्बीजयोगस्य पराकाष्ठा भवति। अपुनरुत्थानेनार्थः । "

— योगदीपिका पृ0 33।

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

क्लेश और कर्मों का निरोध हो जाने के उपरान्त साधक ज्ञानरूप सम्प्रज्ञातसमाधि में अवस्थित होता है। परवैराग्य के द्वारा सम्प्रज्ञातसमाधिजन्य प्रज्ञा तथा प्रज्ञाकृत संस्कारों का निरोध हो जाने पर असम्प्रज्ञातयोग होता है, जिसे निर्बीज-समाधि भी कहा जाता है। प्रज्ञा तथा प्रज्ञाकृत-संस्कारों का निरोध ही निरोध का प्रयोजन है। निर्बीज-समाधि द्वारा ज्ञानात्मकवृत्ति तथा ज्ञानात्मक-संस्कार पहले अनुकूल किए जाते हैं, उसके पश्चात् उनका निःशेष दाह हो जाता है जिसके फलस्वरूप प्रज्ञाकृतसंस्कार तथा प्रारब्ध-संस्कार हमेशा के लिए पुरुषार्थशून्य होकर चित्त में लीन हो जाते हैं[1] और चित्त निरोधसंस्कारों के साथ अपने कारण अव्यक्त-रूप में लीन हो जाता है। इस प्रकार निरोधसंस्कारों द्वारा प्रज्ञा, प्रज्ञाकृत-संस्कारों और प्रारब्ध-संस्कारों का नाश हो जाता है। यही निरोध का स्वरूप है।

- -

1- " स च यथायथाभ्यस्यते तथातथा तत्त्वज्ञानपर्यन्ताखिलसंस्कारान् संप्रज्ञातयोगजांश्चानुकरोति। एवं पूर्वपूर्वसंस्कारं सह कृततरमासादितेन निःशेषतः प्रशान्तसंस्कं दहति। ततः प्रारब्धमपि कर्म न स्वविपाकसमर्थम्। सहकारिणा वध्यत्वात्। ज्ञानमयोऽपि भोग-संस्कारा हि तत् सहकारिणः ततः पुरुषार्थसमाप्त्या चरिताधिकारं चित्तमसमाप्तभोगकमेव प्रारब्ध कर्मणा निरोध संस्कारैः सह स्वकारणेऽव्यक्ते लीयते।

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ० 34।

मणिप्रभा

चित्त की वृत्तियों की क्रियाशीलता को रोकना ही वृत्तिनिरोध है अर्थात् वृत्तियों का अवसिताधिकार हो जाना ही निरोध का स्वरूप है ।[1] निरोधावस्था में चित्त में कोई बौद्धिक प्रत्यय नहीं बन पाते । अतः न तो ज्ञानरूपा कोई वृत्ति बनती है और न ही प्रज्ञाकृतसंस्कार ही बनते हैं । इस प्रकार वृत्तिनिरोध के परिणामस्वरूप चित्त प्रत्ययशून्य हो जाता है, चित्त में केवल निरोध-संस्कार शेष रह जाते हैं, जो अन्त में चित्त के साथ ही अव्यक्ततत्व में लीन हो जाते हैं । चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाने पर द्रष्टा अपने स्वाभाविक रूप में स्थित हो जाता है ।[2]

योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका

निरोध के स्वरूप का उल्लेख प्रस्तुत व्याख्या में मणिप्रभा के समान ही किया गया है । न तो निरोध के स्वरूपवर्णन में कोई मणिप्रभा से भिन्न बात कही गई है और न ही कहने के प्रकार में ही कोई नवीनता है ।

- -

1 - " शब्दाद्यज्ञाननाश 'निरोधे' सति सर्वस्य प्रज्ञातत्संस्कार-प्रत्ययस्य निरोधावसिताधिकारत्वेन चित्तस्य कृत्याभावात् " ।

— मणिप्रभा पृ0 25 ।

2 - "यदा चित्तस्य शान्तघोरमूढानां सर्वासां वृत्तीनां निरोधस्तदा द्रष्टुश्चिद्रूपस्य स्वाभाविके रूपे स्थितिः ।"

— वही पृ0 3 ।

भास्वतीकार ने निरोध के स्वरूप निरूपण में राजमार्तण्डवृत्ति के मत का ही अनुगमन किया है। उनका कहना है कि निरोध का अर्थ चित्त की वृत्तियों का उनके कारण में विलीन हो जाना है। यों तो चित्त की सभी भूमियों में यत्किंचित् वृत्तिनिरोध होता रहता है, परन्तु इस प्रकार का वृत्तिनिरोध 'योग' के लिए सर्वथा उपयोगी नहीं होता। चित्त की सभी वृत्तियों तथा संस्कारों का पूर्ण निरोध हो जाता है, तब चित्त में केवल निरोध-संस्कार शेष रह जाते हैं। असम्प्रज्ञातसमाधि की स्थिति में ये निरोध-संस्कार भी चित्त के साथ ही अव्यक्त में लीन हो जाते हैं। निरोध-संस्कारों द्वारा ही व्युत्थान-संस्कारों का अभिभव संभव होता है। चित्त के ज्ञानजन्यसंस्कारों को अन्य किसी भी उपाय से नष्ट या सर्वथाभिभूत नहीं किया जा सकता।

- -

1- "निरोधावस्थायां प्रत्ययहीनत्वेऽपि चेतः 'संस्कारमात्रेणावतिष्ठते, कैवल्ये तु सर्वसंस्काराणां प्रविलयस्तदा चित्तं स्वकारणे प्रधाने विलीयते न च पुनरावर्तते।"

—भास्वती पृ0 17

बुद्धिवृत्तियों का उनके कारण बुद्धितत्व में आत्यन्तिक-लय ही वृत्ति निरोध है[1]। ये बुद्धिवृत्तियाँ प्रथमतः विवेकख्यातिरूपी अग्नि के द्वारा दग्धबीज-भावता को प्राप्त करायी जाती हैं[2]। तत्-पश्चात् परवैराग्य द्वारा इनका नाश हो जाता है। सभी वृत्तियों का आत्यन्तिक-निरोध हो जाने पर असम्प्रज्ञात-समाधि होती है। इस समय चित्त में केवल निरोध-संस्कार रहते हैं, जो चित्त के साथ ही अपने कारणप्रकृति में लीन हो जाते हैं। जिससे पुरुष महामुक्त हो अपने नित्यशुद्धबुद्धमुक्त रूप में अवस्थित हो जाता है[3]। पुरुष का चित्त से वियोग तथा उसकी स्वरूपावस्थिति-वृत्तियों के निरोध द्वारा ही सम्भव है।

- -

1 - " निरोधो नाम स्वकारणे लयः।" — स्वामिनारायणभाष्य पृ0 15।

2 - " बुद्धिवृत्तीनां लयो हि तदैव भवति यदा बुद्धौ बीजभावस्तस्य ज्ञानाग्निना दग्धः स्यात्।" — वही पृ0 15।

3 - " ते च निरोधवर्तिनः संस्काराः स्वकार्यं निरोधसाद्गुण्यात्मकं सम्यङ्निर्वर्त्य कृतकृत्या इति मोक्षपर्यन्तस्थायिनिरोधसंस्कारैः सहितं चित्तं बुद्धितत्त्वं स्वकारणे प्रकृत्यात्मके प्रविलीयते। बुद्धिवियोगे च सति शरीरवियोगस्तु सुतरामेव। तथा च नित्यशुद्धबुद्ध मुक्त-स्वभावः पुरुषः स्वात्मदर्शनपरः परमेश्वरस्वामिनारायणो वा महामुक्तो भवतीति।
— वही पृ0 159।

व्युत्थानदशा में वृत्तिसारूप्य

व्यासभाष्य

बुद्धि कभी ज्ञात और कभी अज्ञात विषयों वाली होने के कारण परिणामिनी है । इसके विपरीत पुरुष सर्वज्ञ होने के कारण अपरिणामी है । बुद्धि त्रिगुणात्मक होती है तथा यह परार्थ होती है । त्रिगुणात्मक होने के कारण बुद्धि अचेतन अथवा जड़ हुई अतः यह सक्रिय कैसे हो सकती है ? बुद्धि अचेतन होकर भी जब चेतन पुरुष के सानिध्य को प्राप्त करती है तब वह चेतनवत् होती है । चित्तविषयाकारवृत्ति के अनन्तर पुरुष बुद्धिवृत्ति को प्रतिबिम्ब रूप में देखता है इस प्रकार व्युत्थान काल में पुरुष बुद्धिवृत्ति के ही समान आकारवाला प्रतीत होता है । इसे ही बोधबोध्यबोध या पुरुष का अनुबोध कहा गया है । पुरुष बुद्धि के समान नहीं है क्योंकि बुद्धि को उसका विषय कभी ज्ञात रहता है और कभी अज्ञात रहता है । इसके अतिरिक्त जितने भी मूर्त विषय जैसे गो, घट, पट इत्यादि हैं सभी बुद्धि के विषय हैं । इसके विपरीत पुरुष को अपने विषय का ज्ञान सदैव रहता है । पुरुष का विषय बुद्धि है । बुद्धि परार्थ है अर्थात् पुरुष के हित के लिए बुद्धि है । वह पुरुष के लिए भोग तथा मोक्ष का सम्पादन गुणों के साथ मिलजुल कर करती है इस प्रकार बुद्धिपरार्थ सिद्ध हुई ।

इसके विपरीत पुरुष स्वार्थ है । पुरुष निष्क्रिय तथा अपरिणामी है यह अपने आप में स्थित रहता है । परन्तु जब बुद्धि विषयाकाराकारित होती है तब उसमें प्रतिबिम्बरूप में स्थित पुरुष बुद्धिवृत्तियों का अनुद्रष्टा होता है, उन्हें देखता है । इस प्रकार पुरुष का प्रतिबिम्ब ही बुद्धिवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त करता है और चेतनरूप चितिशक्ति अपरिणामिनी तथा अप्रतिसंक्रमा होती हुई भी बुद्धि वृत्ति में जब प्रतिबिम्बित होती है तब वह बुद्धिवृत्ति से अभिन्न होती हुई ज्ञान रूपी

वृत्ति वाली कही जाती है[1] ।

तत्त्ववैशारदी

व्युत्थान-काल में पुरुष और बुद्धि में जब निकटता होती है तब पुरुष बुद्धिवृत्ति के समान अनुभव करने लगता है । उस समय पुरुष और बुद्धि में इतनी अभिन्नता हो जाती है कि पुरुष जैसी बुद्धि रहती है उसके समान ही अनुभव करता है । इस प्रकार की वृत्तियों का अनुभव स्वाभाविक रूप से नहीं होता है अपितु इन वृत्तियों को उस समय पुरुष अपने आप में समारोपित करता है[2] और तब वैसा ही अनुभव करता है । पुरुष में बुद्धि के साथ निकट होने की योग्यता है[3] । इस निकटता के सम्बन्ध में वाचस्पतिमिश्र ने लिखा है कि पुरुष और बुद्धि की सन्निधि न तो देश से सम्बन्धित है और न काल से सम्बन्धित है । अपितु उसमें निकटता की योग्यता है ।

---

1 - " व्युत्थाने-याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः । चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः । तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिः संबन्धो हेतुः । "

— यो०भा० - पृ० 18 ।

2 - " चितिशक्तेः यद्यपि शब्दाद्याकारा वृत्तिश्चित्तस्य धर्मस्तथापि चित्तचैतन्ययोरभेद-समारोपाद्वृत्तिसारूप्यात्पुरुषस्येत्युक्तम् । "

— वही पृ० 19 ।

3 - " संनिधिश्च पुरुषस्य न देशतः कालतो वा, तदसंयोगात् किन्तु योग्यतालक्षणः । अस्ति च पुरुषस्य भोक्तृशक्तिश्चित्तस्य भोग्यशक्तिः ।"

— वही पृ० 19 ।

बुद्धि परिणामिनी है क्योंकि वह जिस भी विषय का ज्ञान प्राप्त करना चाहती है बुद्धि उस विषय के आकार की हो जाती है । तब उसे ज्ञान होता है । जो भी विषय इससे अज्ञात रह जाते हैं उसके प्रति अज्ञान का मुख्य कारण यही है कि बुद्धि उस विषय के आकार को ग्रहण नहीं कर चुकी होती है अतः अमुक विषय अज्ञात रह जाते हैं । इस प्रकार ज्ञान के लिए बुद्धि का तद्-तद् विषय से तदाकाराकारित होना अनिवार्य है परन्तु सभी विषय एक साथ ही ज्ञात नहीं हो जाते हैं । जब एक विषय के आकार से बुद्धि आकारित होती है तब उस विषय का ही बुद्धि को ज्ञान प्राप्त होता है । उस समय अन्य विषय बुद्धि को अज्ञात रहते हैं । अतः बुद्धि ज्ञात-अज्ञात विषयों वाली है तथा विषयाकार को ग्रहण करने के कारण परिणामिनी है । परन्तु पुरुष ठीक इसके विपरीत है । पुरुष अपरिणामी है क्योंकि वह ज्ञान के लिए विषयों के आकार से आकारित नहीं होता है । पुरुष तो सर्वज्ञ है उसके लिए कभी ज्ञात और अज्ञात का प्रश्न ही नहीं होता । वह प्रतिबिम्ब रूप में सर्वदा बुद्धिरूपी दर्पण में विद्यमान रहता है अतः जब भी बुद्धि किसी भी विषय के आकार को ग्रहण करती है, तत्काल ही प्रतिबिम्ब रूप में अवस्थित पुरुष उस बुद्धि वृत्ति का प्रतिसंवेदन करता है । अनुभव की प्रक्रिया में प्रथमतः बुद्धिवृत्ति बनती है उसके पश्चात् पुरुष प्रतिबिम्ब उस बुद्धि वृत्ति को ग्रहण करता है अतः पुरुष को बुद्धि के प्रत्ययों का उपद्रष्टा अथवा साक्षी भी कहा गया है । इसप्रकार पुरुष बुद्धि के समान रूप वाला नहीं हुआ, परन्तु पुरुष उससे एकदम विरुद्ध भी नहीं है । इसका कारण यह है कि पुरुष शुद्ध होकर भी व्युत्थान-काल में बुद्धिवृत्तियों के स्वरूप के समान स्वरूप वाला दिखाई पड़ता है । इसलिए उसे बुद्धि से अत्यन्त विरूप भी नहीं कहा जा सकता है ।

यह बुद्धि से भी भिन्न होते हुए भी उससे निकटता की योग्यता रखने के कारण बुद्धिवृत्तियों का सान्निध्य होने पर उसमें प्रतिबिम्बित होता है और उस समय वह उस समय की बुद्धिवृत्तियों के समान रूप का हो भासित होता है । जैसे निर्मल जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब-मात्र ही दिखाई पड़ता है, वस्तुतः चन्द्रमा तो आकाश में स्थित

रहता है । उसी प्रकार बुद्धिवृत्ति रूपी दर्पण में पुरुष का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है और यह प्रतिबिम्ब भी बुद्धिवृत्तियों का प्रतिसंवेदन करता है । यह प्रतिसंवेदन पुरुष में आरोपित करके ही पुरुष भोक्ता तथा अनुभवकर्ता कहा जाता है[1] ।

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अनुभव की प्रक्रिया के संदर्भ में भाष्यकार की अपेक्षा कुछ विशेष बातों का उल्लेख किया है यथा — पुरुष का अनुभव आरोप द्वारा होता है । पुरुष में बुद्धि के साथ सान्निध्य की योग्यता है[2] । यह सान्निध्य किसी निश्चित देश अथवा काल में नहीं होता अपितु किसी भी प्रकार की बुद्धिवृत्ति के सान्निध्य काल में पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ता है जिसके कारण बुद्धि चेतनवती होती है और पुरुष-प्रतिबिम्ब उस समय उपस्थित बुद्धिवृत्ति का ज्ञान प्राप्त करता है । बुद्धि साक्षात् ज्ञान प्राप्त करती है । पुरुष बुद्धि के माध्यम से उस ज्ञान का अनुद्रष्टा बनता है । बुद्धि में तदाकाराकारित होने की क्षमता है, क्योंकि वह परिणामिनी है । अतः वह ज्ञात-अज्ञात विषयों वाली है, परन्तु पुरुष की विषयभूमि-बुद्धि उसे सदा ज्ञात रहती है । न तो वह परिणामी है न उसका ज्ञान के लिए तदाकाराकारित हो होना पड़ता है । वह तो अपने प्रतिबिम्बमात्र से ही बुद्धिवृत्ति को देखता है तथा उसके ज्ञान का ग्रहीता बनता है इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र ने एक प्रतिबिम्ब वाद के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया है ।

- -

1 - " भोगस्य यद्यपि शब्दाद्याकारा वृत्तिश्चितस्य धर्मस्तथापि चित्तचेतन्ययोरभेद-समारोपाद्वृत्तिसाक्ष्यात्पुरुषस्यानुभवम् । "

— त०वै० पृ० 19 ।

2 -

व्युत्थान काल में पुरुष को वृत्तिसारूप्य होता है। जिस प्रकार की बुद्धिवृत्तियाँ बनती हैं उसी प्रकार का प्रतिसंवेदन पुरुष को होता है। इस प्रकार व्युत्थानकाल में पुरुष बुद्धिवृत्तियों के आकार से आकारित होता हुआ सा भासित होता है जैसे जलतरंगों के चंचल होने पर उनमें पड़ा हुआ चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब चंचल हो जाता है और उस प्रतिबिम्ब के हिलने-डुलने के कारण चन्द्रमा हिल डुल रहा है ऐसा कथन किया जाता है। ठीक इसी प्रकार बुद्धि के विषयाकाराकारित होने पर बुद्धि में पड़ा हुआ पुरुष प्रतिबिम्ब उस विषय का अनुद्रष्टा हो जाता या प्रतिसंवेदन कर्ता कहा जाता है। इस प्रतिसंवेदन के लिए बुद्धि का प्रतिबिम्ब पुरुष में पड़ता हुआ नहीं माना गया है। अतः स्पष्टतः भोजराज अनुभव-प्रक्रिया में वाचस्पतिमिश्र के एक प्रतिबिम्बवाद को स्वीकार करते हैं। वार्तिककार द्वारा प्रतिपादित द्विप्रतिबिम्बवाद नहीं।

- -

1 - "यस्मिन्निन्द्रियवृत्तिद्वारेण विषयाकारेण परिणते पुरुषस्तद्रूपाकार इव परिभाव्यते। यथा जलतरंगेषु चलत्सु चन्द्रमाश्चलन्निव प्रतिभासते तद्वत्।"

— रा0मा0वृ0 पृ0 14।

विवरण

जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिकमणि अपने सम्पर्क में आए हुए पदार्थों के आकार से आकारित होती है और पदार्थों के सान्निध्य से वियुक्त होने पर वह पदार्थों के आकार से रहित अपने ही रूप में अवस्थित रहती है, उसी प्रकार पुरुषतत्त्व भी, जो स्वभाव से स्वच्छ है, व्युत्थानकाल में अपने सम्पर्क में आने वाले बुद्धिवृत्तियों के आकार से आकारित सा प्रतीत होता है। पुरुष का बुद्धिवृत्तियों के आकार से आकारित होना ही वृत्तिसारूप्य है। यह 'वृत्तिसारूप्य' पुरुष के ऊपर आरोपित किया जाता है[1]। यथार्थतः पुरुष इन बुद्धिवृत्तियों से सर्वथा भिन्न तत्त्व है। व्युत्थानकाल में पुरुष इस आरोप्यमाण विशेषता से युक्त प्रतीत होता है। इससे पुरुष के अपरिणामी स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है क्योंकि आरोपित धर्म पदार्थ के स्वरूप को दूषित नहीं कर सकता।

- -

1 - "चित्तवृत्तिव्यारोपितं हि तत्, न स्वतः, स्फटिकवदुपधानोपरागवत्। व्युत्थानइति ।। निरोधादन्यत् यच्चित्तस्य क्लिष्टादयो वृत्तयः तदविशिष्टा सदृशी वृत्तिः स्वरूपमस्य, चित्तवृत्ति व्यतिरेकेण स्वरूपव्यतिरेकेण च पुरुषस्य वृत्त्यभावात्, तथा ज्ञातविषयत्वे परिणामानुपपत्तेश्च ।।"

— विवरण पृ० 14।

योगवार्तिक

वार्तिक में भी बुद्धि के विषयाकाराकारित होने की प्रक्रिया को भाष्यकार तथा वाचस्पतिमिश्र के समान ही स्वीकार किया गया है । परन्तु अनुभव की प्रक्रिया में वार्तिककार ने द्विप्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया है । इसके अनुसार पुरुष के प्रतिबिम्ब से बुद्धि चेतनवती होती है । तत् पश्चात् वह विषयाकाराकारित होती है । पुनः तदाकाराकारित बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब पुरुषतत्त्व में पड़ता है । तब पुरुष उस ज्ञान का प्रमाता, भोक्ता, द्रष्टा तथा साक्षी बनता है । इस प्रकार वार्तिककार के अनुसार द्विप्रतिबिम्बवाद का सिद्धान्त अनुभव की प्रक्रिया में स्वीकृत होता है[1] ।

योगदीपिका

वृत्तियों का सम्पर्क होने पर पुरुष भोक्ता बनता है और वृत्तियों का निरोध होने पर वह कैवल्य को प्राप्त करता है । अतः पुरुष का वृत्तिसारूप्य ही उसका बन्धन और वृत्तिनिरोध के द्वारा वृत्तिसारूप्य की स्थिति न आने देना ही उसका कैवल्य या मोक्ष है[2] । यह स्थिति असम्प्रज्ञातयोग के द्वारा ही सम्भव होती है ।

- -

1 – " व्युत्थाने हि बिम्बप्रतिबिम्बरूप योगश्चैतन्यपुरुषबुद्ध्योः सारूप्यम् ।"

— योगवार्तिक पृ0 20 ।

2 " चेतने तावद् बुद्धिप्रतिबिम्बमवश्यं स्वीकार्यम्, अन्यथा कूटस्थनित्य चिद्रूपेतस्यास्य सर्वं सम्बन्धात्सर्वेव सर्वं वस्तु 'सर्वज्ञायेत । यथा च चिति बुद्धेः प्रतिबिम्बमेवं बुद्धावपि चित्प्रतिबिम्बं स्वीकार्यमन्यथा चैतन्यस्य भानानुपपत्तेः ।" — वही पृ0 214 ।

2 – " वृत्तिकालस्य पुरुषस्य दुःखभोगरूपः संसारो वृत्तिवियोगे च तन्निवृत्तिरूपं कैवल्यमतो वृत्तीनां निरोधरूपो इति । यह च योगस्याप्यन्तःफलमुक्तम् ।"

— योगदीपिका पृ0

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

इस व्याख्या में योगवार्तिक को ही सदृश प्रस्तुत विषय का विवेचन किया गया है , कोई नवीन बात नहीं कही गई है ।

मणिप्रभा

चित्तवृत्तियों का निरोध करने पर पुरुष मुक्त हो जाता है[1] और वही पुरुष व्युत्थानकाल में वृत्तियों के सान्निध्यकारण बद्ध रहता है । पुरुष का बुद्धिवृत्तियों से वृत्तिसारूप्य ही उसका बद्ध होना है । 'वृत्तिसारूप्यत्व' के कारण पुरुष वृत्तियों के अनुरूप सुख, दुःख, प्रसन्नता और आह्लाद का अनुभव करता है । परन्तु इस वृत्तिसारूप्य से पुरुष अपने स्वभाव से विचलित नहीं होता क्योंकि वृत्तियों से पुरुष का तादात्म्य तो भ्रम-मात्र है[2] ।

- -

1 - " निरोधे मुक्तिर्व्युत्थाने बन्ध इति सूत्रद्वयतात्पर्यम् । "

— मणिप्रभा पृ0 4 ।

2 - " व्युत्थाने सति यदीयत्वस्य वृत्तयः शान्ताऽऽद्यास्तत्सारूप्यं वृत्तिमद्बुद्ध्यविवेकात्पुरुषस्य शान्तो दुःखी मूढोऽस्मीति वृत्तिसारूप्यभ्रम इत्यर्थः अतो न स्वभावात्प्रच्युतिः ।"

— वही पृ0 4 ।

व्युत्थान काल में पुरुष को वृत्तिसारूप्य होता है । 'वृत्तिसारूप्यता' पुरुष के 'अविवेकख्याति का द्योतक है[1]। क्योंकि पुरुष की चित्तवृत्ति या वृत्तियों से असम्बद्ध रहने में ही है। पुरुष का स्वरूप शुद्ध तथा चिन्मात्र है । व्युत्थानकालिक वृत्तियाँ शान्त, घोर और मूढ रूप की होती हैं । ये वृत्तियाँ प्रतिक्षण चित्त में उदित और अस्त होती रहती हैं अतः इन्हें क्षणभंगुर कहा गया है[2] । व्युत्थानकाल में पुरुष का प्रतिबिम्ब इन बुद्धिवृत्तियों के आकार का हो जाता है। फलस्वरूप वह बुद्धिवृत्तियों से सारूप्यता को प्राप्त कर मैं दुःखी हूँ, सुखी हूँ, मूढ हूँ इस प्रकार का अनुभव करने लगता है । यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि पुरुष का इस प्रकार का अनुभव आरोप्यमाण होता है । अतः वृत्ति-सारूप्य के कारण वह अपने वास्तविक स्वभाव से प्रच्युत नहीं होता है[3]। जैसे कि स्फटिकमणि अनेक प्रकार के रंगों के प्रतिबिम्ब से उस रंग का प्रतिबिम्बित होने पर भी अपने स्वरूप से नहीं हटती उसी प्रकार पुरुष भी स्वभाव से शुद्ध होता हुआ व्युत्थानकालिक वृत्तियों के सम्पर्क में आने पर भी अपने स्वभाव से प्रच्युत नहीं होता । वह अविद्यावशात् अविवेकपूर्वक उन वृत्तियों के आकार से आकारित होकर, अथवा एकीभूत होकर तदवधि के आकार का दिखाई पड़ता है[4]।

- -

1 - " वृत्तिसारूप्याऽविवेकेन सह प्रच्युर्वृत्तौ सारूप्यमविवेकख्यातिमित्यर्थः । "

योगसिद्धान्तचन्द्रिका पृ० 7 ।

2 - " शान्तघोरमूढात्मिकास्तस्य वृत्तयः क्षणभंगुराः । "

— वही पृ० 7 ।

3 - " ताभिरविशिष्टास्तत्कालीनवृत्त्याः पुरुषस्य भवन्ति । यथाहं शान्तोऽस्मि, दुःखितोऽस्मि, मूढोऽस्मीत्यध्यवस्यति । अतो न स्वभावात्प्रच्युतिः । " - वही पृ० 7

4 - " न हि लौहित्यप्रतिबिम्बकालेऽपि स्फटिकस्य स्वभावात् प्रच्युतिरस्ति ।"

— वही पृ० 7 ।

5 - " अतः शुद्धोऽपि पारार्थ्यचेतनत्वपरिणामित्वादिस्वाद्विपरीतोऽपि एतेन वृत्तिभिरपरिणतस्वाभ्याबुत्तिः । प्रत्ययानुपश्य । - - - स्वस्य बुद्धिप्रविवेकाद् वृत्ति-विरोधीभूतः तन्माध्याकारेण पश्यतीत्यर्थः । "

— वही पृ० ।

पुरुष का विषय बुद्धिवृत्तियाँ हैं । बुद्धि तथा बुद्धिवृत्तियाँ दोनों जड़ हैं, ये पुरुष के प्रकाश से ही प्रकाशित होकर पुरुष का विषय बनती हैं । 'योग' से भिन्नकाल अर्थात् अनिरोध या व्युत्थान-काल में पुरुष का वृत्तियों से संयोग होता है और पुरुष वृत्तियों के रूप का भासित होता है । पुरुष का[1] वृत्तियों के रूप के आकार के समान भासित होना ही 'वृत्तिसारूप्य' है । 'वृत्तिसारूप्य' द्वारा ही पुरुष भोग और विवेकख्याति की स्थिति को प्राप्त करता है । पुरुष का प्रधान के साथ 'संयोग' नित्य है क्योंकि 'पुरुष' और 'प्रधान' दोनों नित्यतत्त्व हैं, दो नित्य तत्त्वों का पारस्परिक संबन्ध भी नित्य होता है[2] । जब वृत्तिनिरोध के द्वारा यह संयोग असम्भव कर दिया जाता है तब वृत्तिसारूप्य की संभावना समाप्त हो जाती है । यही पुरुष का कैवल्य कहा जाता है ।

- -

1 - 'पुरुषविषया बुद्धिवृत्तयः पौरुषप्रकाशेन प्रकाशिता भवन्ति एवं दर्शितविषयत्वाद् वृत्तिसारूप्य इव प्रतीयते, व्युत्थान इति । व्युत्थाने = अनिरुद्ध-चित्तावस्थायां या वृत्तयः शान्ताविशिष्टवृत्तिः, ताभिर्वृत्तिभिः सहाविशिष्टा = एकवत् प्रतीयमाना वृत्तिः सत्तायश्च तादृशो भवति पुरुषः ।"

— भास्वती पृ0 19 ।

2 - " पुंप्रधानयोर्नित्यत्वात् संयोगोऽनादिः, स च संयोगः प्रधानस्य स्वत्वाद् हेतुमान्नित्युपरिष्टाद् वक्ष्यति । "

— वही पृष्ठ - 23 ।

चित्त की क्षिप्त मूढ़ और विक्षिप्त, ये व्युत्थानभूमियाँ हैं । एकाग्रभूमि भी निरुद्ध भूमि की अपेक्षा व्युत्थान है[1] । इन चारों व्युत्थान भूमियों में पुरुष का सात्त्विक, राजसी और तामसीवृत्तियों के आकार में आकारित हो जाना ही वृत्तिसारूप्य है और वृत्तियों के आकार से आकारित न होना वृत्तिराहित्य है ।

जब बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब बुद्धि पुरुष के लिए भोग्य बनती है और पुरुष का प्रतिबिम्ब ही तब बुद्धिवृत्ति द्वारा प्रस्तुत भोग का भोक्ता बन कर अपने में उस भोग का अध्यास करता है । पुरुष का बुद्धि वृत्तियों के अनुकूल हो जाना अज्ञान और अविद्यामय है[2] । वृत्तिसारूप्य पुरुष की आरोप्यमाण विशेषता है । बुद्धि और पुरुष का संयोग होने पर ही वृत्तिसारूप्य होता है और पुरुष बन्धन में पड़ जाता है। बन्धन का अर्थ अविद्या या अज्ञान है । बुद्धि और पुरुष के संयोग को दुःख, सुखादिभोग का नियामक कहा गया है ।

- -

1 - " क्षिप्तम्, मूढम्, विक्षिप्तम् इत्येतास्तिस्रोऽवस्थाः व्युत्थानसंज्ञयाख्यायन्ते, ' - - - - एकाग्रावस्थं चित्तमपि निरुद्धापेक्षया तु व्युत्थानमिति व्यपदिश्यते ।"

स्वामिनारायणभाष्य पृ0 44 ।

2 - " बुद्धिपुरुषयोः संयोगस्त्वज्ञानहेतुकः, अतस्तत्संयोगाधिकमज्ञानं तन्नाशवशयं सुधीः भवति, एवं च सति पुरुषे प्रतिबिम्बस्य बिम्बाभिन्नत्वेन प्रतिबिम्बगतधर्माणां मिथ्या सम्बद्धत्वेऽपि पुरुषस्य भवत्यहमेव प्रतिबिम्बस्थः प्रतिबिम्बाऽभिन्न इति प्रत्ययः ।"

- वही पृ0 46 ।

वृत्तियों का स्वरूप

व्यासभाष्य

वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट के भेद से दो प्रकार की होती हैं। अविद्यादि 'क्लेश' हैं। इन क्लेशों से उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ क्लिष्ट कही जाती हैं। इन वृत्तियों का निमित्त कारण क्लेश है। अतः ये क्लेश हेतुकाः कही गयी हैं। क्लिष्ट वृत्तियों से क्लिष्ट ज्ञान संस्कार बनते हैं। पुनः इन्हीं क्लिष्ट संस्कारों से क्लिष्टवृत्तियाँ बनती हैं। क्लेश संस्कारों से बनने वाली वृत्तियाँ ही कर्माशय संस्कारों के समूह को उत्पन्न करती हैं। क्लिष्टवृत्तियाँ प्रत्यक्ष रूप से इन कर्माशय संस्कारों का कारण न बनकर अप्रत्यक्ष रूप से इनका कारण बनती हैं। अप्रत्यक्ष का तात्पर्य है कि सीधे क्लिष्टवृत्तियाँ ही नहीं कर्माशय-समूह को उत्पन्न करतीं अपितु, इन वृत्तियों के संस्कार इन कर्माशय समूह को उत्पन्न करते हैं।

बुद्धि और पुरुष के स्वरूप के संबन्ध में भेद ज्ञान कराने वाली वृत्ति अक्लिष्ट कही गई है। अक्लिष्टवृत्तियों का विषय विवेकख्याति है। अक्लिष्ट-वृत्ति के ही उदय होने से गुणों का कार्यारम्भ — अवरुद्ध हो जाता है। चित्त सभी क्लेशों से शून्य होकर गुणातीत पुरुष के समान रह जाता है या दुःखादि शून्य चित्त, अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाता है। इस तरह से चित्त को कैवल्य प्राप्त हो जाता है। उक्त क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों से उनके समान ही संस्कार उत्पन्न होते हैं। क्लिष्ट-वृत्तियों के प्रवाह में अक्लिष्ट-वृत्तियाँ अपने स्वरूप को ही बनी रहती हैं। उसी प्रकार अक्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में क्लिष्ट-वृत्तियाँ क्लिष्ट ही बनी रहती हैं। ये दोनों वृत्तियाँ प्रमाण विपर्यय, विकल्प, निद्रा स्मृति के भेद से 5 प्रकार की होती हैं।

---

1. - " क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः । क्लिष्टप्रवाह पतिता अप्यक्लिष्टाः ।

— व्यासभाष्य पृ० 25।

बुद्धिवृत्तियाँ असंख्य होती हैं, व्यक्तियों के व्यापार असंख्य हैं अतः वृत्तियाँ भी असंख्य हैं। वृत्तियों की गणना असम्भव है। योगसूत्र 1/5 में सूत्रकार ने इन वृत्तियों को क्लिष्ट, अक्लिष्ट के भेद से दो श्रेणियों में विभक्त कर उनके पाँच ही प्रकारों का उल्लेख किया है। वाचस्पतिमिश्र ने सूत्र के ऊपर लिखे भाष्य के आधार पर क्लिष्ट, अक्लिष्ट प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख विशेष प्रकार से किया है।

क्लिष्टवृत्तियाँ :- अस्मितादि क्लेश हैं[1]। जिनके कारण वृत्तियों की प्रवृत्ति होती है अर्थात् अस्मितादि क्लेशों के कारण ही क्लिष्टवृत्तियाँ प्रवृत्त होती हैं। क्लिष्टवृत्तियों के सम्बन्ध में दूसरी धारणा वाचस्पतिमिश्र के अनुसार यह है कि क्लिष्टवृत्तियाँ ही रजो, तमोमयी वृत्तियों का कारण हैं। इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र ने 'क्लेशहेतुकाः' का दो प्रकार से अर्थ किया है। क्लिष्टवृत्तियों से क्लेशों की ही उत्पत्ति होती है। धर्म-अधर्म एवं कर्माशयों को उत्पन्न करने वाली भी क्लिष्ट वृत्तियाँ ही हैं[2]।

- -

1 - " क्लेशा अस्मितादयो हेतवः प्रवृत्तिकारणं यासां वृत्तीनां ताः क्लिष्टाः । "
— त०वै० पृ० 25 ।

2 - " पुरुषार्थप्रधानस्य रजस्तमोमयीनां हि वृत्तीनां क्लेशकारणत्वेन क्लेशायैव प्रवृत्तिः । क्लेशाः क्लिष्टं तदाक्रान्तमस्तीति क्लिष्टा इति । एतदेव क्लेशोपार्जनार्थमनुप्रवृत्तिबल एव कर्माशयप्रचय क्षेत्रीभूताः । "

त०वै० पृ० 25 ।

अक्लिष्टवृत्तियाँ :- सात्त्विकवृत्तियों का प्रवाह अक्लिष्टवृत्तियों का जनक है । इन सात्त्विक वृत्तियों का विषय बुद्धि और पुरुष के बारे में विशेष ज्ञान प्राप्त करना है । इस ज्ञान को ही विवेक-ख्याति की संज्ञा दी गई है । विवेक-ख्याति द्वारा जो वृत्ति चित्त में बनती है उससे गुणों के कार्य की क्षमता को रोका जाता है । क्लिष्टवृत्तियों का निरोध पर-वैराग्य द्वारा होता है । अभ्यास और वैराग्य द्वारा क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध हो जाने पर अक्लिष्ट वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं जिससे चित्त को प्रकृति पुरुष का भेदज्ञान प्राप्त होता है । इस विवेकज्ञान से जो वृत्ति बनती है वह अक्लिष्ट वृत्ति कहलाती है । अक्लिष्ट-वृत्तियों से पुनः अक्लिष्ट-संस्कार बनते हैं[1] । इस प्रकार यहाँ भी वृत्तियों से संस्कार और संस्कार से वृत्तियों का चक्र निरन्तर चलता रहता है । अक्लिष्ट वृत्तियों के द्वारा ही साधक का चित्त निरुद्धवृत्तिक होकर संस्कार-शेषावस्था को प्राप्त करता है, तथा आगे चलकर कैवल्य की स्थिति का लाभ भी प्राप्त करता है इस प्रकार कैवल्य प्राप्ति की दृष्टि से अक्लिष्ट-वृत्तियों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । ये अक्लिष्ट वृत्तियाँ भी पाँच प्रकार की होती है ।

राजमार्तण्डवृत्ति

वृत्तिकार भोज ने भी सर्वप्रथम 'वृत्ति' की परिभाषा दी है कि 'वृत्तयश्चित्तपरिणामविशेषाः '[2] अर्थात् वृत्तियाँ चित्त की परिणाम विशेष हैं । भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में चित्त का जो व्यवहार होता है वही चित्त का परिणाम है । जिसे योगशास्त्र में वृत्ति कहा गया है । ये वृत्तियाँ पाँच प्रकार की कही गयी हैं । ये पाँचों वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट प्रकार की होती हैं । अर्थात् जब इन पाँचों वृत्तियों में क्लेश का प्रादुर्भाव होता है तब ये क्लेशयुक्त वृत्तियाँ कही जाती हैं और जब ये पाँचों वृत्तियाँ क्लेश रहित होती हैं तब अक्लिष्ट कही जाती हैं ।

- -

1 - " अक्लिष्टाभिवृत्तिभिरक्लिष्टाः संस्कारा इत्यर्थः । तदिदं वृत्तिसंस्कारचक्रम-निशमावर्तते, आनिरोधसमाधेः ।" — त0वै0 पृ0 26 ।

2 - द्रष्टव्य - रा0 मा0 वृ0 16 ।

विवरण ·

वृत्तियाँ असंख्य हैं । इन असंख्यवृत्तियों को पाँचकुलों में रखा गया है ।[1] पाँच कुलों में रखने से वृत्तियों का स्वरूप समझने में तथा इनका निरोध करने में बड़ी सहायता मिलतीहै । क्योंकि यदि वृत्तियों को उक्त प्रकार के समूह में विभाजित नहीं किया गया होता तो न इनके स्वरूप का व्यवस्थित विवेचन हो पाता और न ही योग के अभिलाषी व्यक्ति इनका निरोध करने में ही सरलता का अनुभव करते । एक-एक समूह के अन्दर अनेकों प्रकार की वृत्तियाँ समाविष्ट हैं यथा 'प्रमाण' नामक वृत्ति में जिसमे भी प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण हैं सभी समाविष्ट हैं, इसी तरह विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति में भी उन उन समूहों में रहने वाली वृत्तियाँ समाविष्ट हैं ।

उक्त सभी वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट रूपों वाली होती हैं । अविद्यादि पाँच क्लेशों से युक्त वृत्तियाँ क्लिष्ट कहलाती हैं, क्लिष्ट वृत्तियों से धर्म अधर्म रूप कर्माशय बनते हैं और पुनः[2] क्लिष्टवृत्तियों के रहने पर ही इन कर्माशयों का विपाक आरम्भ होता है ।

- -

1 - " यद्यपि क्लिष्टाक्लिष्टा वृत्तयोऽनन्ताः, तथापि पंचतय्यः पंचविधाः, पंचकुला एव ।"

— विवरण पृ0 17 ।

2 - " कर्माशयप्रचये कर्माणि कुशलाकुशलानिमिश्रितानि वा फल प्रदानाच्छेरत इति कर्माशयशब्दवाच्यानि, तेषां प्रचयश्चेतरेतरगुणप्रधानभावेन संहननं, तस्मिन्, कर्माशय प्रचये निमित्ते, अविद्यादिक्लेशोद्भूताः क्लिष्टाश्चया वृत्तयः । सतीषु हि तासु कर्माशयो विपाकाभिमुखो भवति ।"

— वही पृ0 17 ।

ख्यातिविषयकवृत्तियाँ अक्लिष्ट कही जाती हैं । ये अपवर्ग के लिए सहायक होती हैं । इन्हीं वृत्तियों के द्वारा चित्त रागादि क्लेशों का निरोध कर विवेकज्ञान प्राप्त करता है और निरन्तर विवेकज्ञान में ही स्थित रहता हुआ पुनः उस ज्ञान का भी निरोध कर कैवल्य लाभ प्राप्त करता है । अतः अक्लिष्ट-वृत्तियों को कैवल्य के लिए उपयोगी माना गया है ।[1] क्लिष्ट और अक्लिष्ट-वृत्तियों का प्रवाह निरोधाभिमुखचित्त में साथ-साथ होता रहता है क्योंकि क्लिष्टवृत्तियों का निरोध होने पर अक्लिष्टवृत्तियाँ प्रकाश में आती हैं । इनके प्रकाश में आने पर भी वृत्तिनिरोध की प्रक्रिया चलती रहती है । परन्तु क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियाँ एक दूसरे से प्रभावित नहीं होतीं । इनका अपना अलग अलग रूप एक दूसरे से नष्ट नहीं होता । अर्थात् क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध तो हो जाता है परन्तु क्लिष्ट वृत्तियों की क्लिष्टता समाप्त नहीं होती ।[2]

योगवार्त्तिक

प्रमाणादि व्यापारों द्वारा चित्त भिन्न-भिन्न स्थितियों में रहता है । चित्त की ये स्थितियाँ ही चित्त की वृत्तियाँ हैं । चित्त अनेक रूपों में परिणत होता रहता है अतः वृत्तियाँ असंख्य हैं । योग-प्राप्ति के लिए उनका निरोध अनिवार्य है अतः निरोध में सुविधा की दृष्टि से सभी वृत्तियों को दो विभागों में विभक्त किया गया है । ऐसा करने से वृत्तिनिरोध का कार्य सरल हो जायेगा । क्लिष्ट अक्लिष्ट रूपा वृत्तियाँ पाँच प्रकार की बताई गई हैं । प्रमाण, विपर्यय विकल्प, निद्रा और स्मृति ।

- -

1 - " ख्यातिविषयत्वादेव ता अक्लिष्टाः अपवर्गहेतुत्वात् ।"

विवरण पृ0 17 ।

2 - " एवमक्लिष्टप्रवाहपतिता अपि क्लिष्टाः किमक्लिष्टा एव ? किं चातः यदि क्लिष्टप्रवाहगता अक्लिष्टाः क्लिष्टाः स्युः, तथा वृत्तिसंस्कारानुविधायिनी स्मृतिः, तदनुरूप एव भवन्ति । अक्लिष्टच्छिद्रेषु अपि क्लिष्टाः क्लिष्टा एव । "

— वही पृ0 18 ।

दुःखरूप फल देने वाली वृत्तियों का कारण[1] क्लेश है । यहाँ पर हेतु का प्रयोग प्रयोजन के अर्थ में किया गया है । अर्थात् दुःखादि का कारण क्लेशयुक्त वृत्तियाँ ही हैं । ये क्लेशयुक्तवृत्तियाँ ही क्लिष्टवृत्तियाँ हैं । धर्म-अधर्म रूप वासनाओं तथा कर्माशयों की उत्पत्ति क्लिष्ट वृत्तियों से होती है । क्लेश ही इनका आलम्बन है । अब प्रश्न उठता है कि ये क्लेश क्या हैं ? उत्तर देते हैं – दुःख ही क्लेश हैं, दुःखरूपी फल देने वाली वृत्तियाँ ही क्लिष्टवृत्तियाँ हैं । क्लिष्टवृत्तियों से ही विषय के प्रति तृष्णा उत्पन्न होतीहै । वांछित विषय नहीं मिलने पर दुःख होता है मिलने पर इच्छा और तीव्र हो जाती है । इस प्रकार इनकी प्राप्ति के लिए धर्म, अधर्म का आचरण करना पड़ता है । जिसके परिणाम स्वरूप दुःख देने वाली क्लिष्टवृत्तियों का प्रवाह निरन्तर बढ़ता जाता है । जिसका अन्तिम परिणाम दुःख रूप ही है ।

क्लेशरहित वृत्तियाँ ही अक्लिष्ट वृत्तियाँ कही गयी हैं ।[2] अक्लिष्ट वृत्तियों से जो फल प्राप्त होते हैं वे भी अक्लिष्ट ही होते हैं अर्थात् अक्लिष्टवृत्तियों में क्लेशों का राहित्य होता है अतः इससे जो फल प्राप्त होता है वह भी क्लेशों से रहित होता है । अक्लिष्ट वृत्तियों का प्रादुर्भाव होने पर गुणों की क्रियाशीलता का विरोध होता है जिसके कारण गुणों का कार्यारम्भ अवरुद्ध हो जाता है तथा अविद्यादि क्लेशों का नाश हो जाता है और चित्त केवल ख्यातिविषयकचिन्तन करता है । इस संबन्ध में जितने भी उपयोगी साधन हैं उनका पालन करते हुए विवेकख्याति को प्राप्त कर व्यक्त, अव्यक्त तथा पुरुषतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करता है ।

उक्त क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट-वृत्तियों से तदनुकूल ही संस्कार बनते हैं । पुनः इन संस्कारों से वृत्तियाँ बनती हैं । इस प्रकार वृत्तियों और संस्कारों का चक्र निरन्तर चलता रहता है ।

- -

1 – " अत्र च हेतुः प्रयोजनम् । क्लेशाभावात्र मुख्य एव आह्यो दुःखाख्यः । तथा च क्लेशहेतुकाः दुःखफलिकाविषयाकारवृत्तय इत्यर्थः ।" यो०वा०पृ० 27 ।

2 – " अक्लिष्टा अक्लेशफलिकाः । तात्र गुणाधिकारविरोधिन्यः । "

— यो०वा० पृ० 27 ।

योगदीपिका

वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं। प्रत्येक वृत्ति में सत्त्वगुण और रजोगुण का प्रभाव होता है। अतः सभी वृत्तियों का निरोध आवश्यक है। वृत्तियों के दो भेदों क्लिष्ट और अक्लिष्ट का स्वभाव भी एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न नहीं है क्योंकि क्लिष्ट-वृत्तियों की भाँति अक्लिष्ट-वृत्तियाँ भी सत्त्वगुण और रजोगुण से युक्त होती हैं। ये वृत्तियाँ भी क्लेशों से पूर्णतया मुक्त नहीं होती हैं अतः योग के लिए इन वृत्तियों का भी निरोध परमावश्यक है।

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

इस व्याख्या में वृत्तियों का उल्लेख योगवार्तिक के सदृश ही किया गया है। कोई नई बात वृत्तियों के संबन्ध में यहाँ नहीं कही गई है।

मणिप्रभा

वृत्तियाँ बहुत प्रकार की हैं इसीलिए 'वृत्ति' शब्द का बहुवचन 'वृत्तयः' यहाँ प्रयुक्त है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति के भेद से पाँच प्रकार के अवयवों वाली ये वृत्तियाँ हैं। ये वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट प्रकारक होती हैं। रागद्वेषादि क्लेश के कारण हैं। इन क्लेशों से बनी वृत्तियाँ क्लिष्ट-वृत्तियाँ कहलाती हैं।[2] अक्लिष्ट वृत्तियों से क्लेशों का नाश होता है। अभ्यास और वैराग्य द्वारा क्लिष्ट-वृत्तियों का निरोध हो जाने के उपरान्त पुनः परवैराग्य से उनके अवशिष्ट संस्कारों का भी नाश हो जाता है और चित्त अव्यक्त में लीन हो जाता है। इस प्रकार अक्लिष्टवृत्तियों के प्रवाह से चित्त मुक्ति को प्राप्त होता है।

- -

1 - " तादृशवृत्तयः क्लिष्टरूपा वा भवन्तु, अक्लिष्टरूपा वा भवन्तु, सर्वा एव निरोद्धव्या इत्यर्थः। क्लिष्टास्तामस्यो क्लिष्टाः सात्त्विक्यो राजस्यश्च। क्लिष्टाक्लिष्टमिश्रवृत्तेरेतयोर्द्वयोः तामसीसात्त्विक्योरेवान्तर्भावः। 'रजोमिश्रमि'तिसूत्रेः।"

— योगदीपिका पृ0 5।

2 - "रागद्वेषादि क्लेशानां हेतवः "क्लिष्टाः" बन्धफलाः - - - - 'अक्लिष्टाः' क्लेशनाशिन्यो मुक्तिफलाः।"

— मणिप्रभा पृ0 4।

चैत्रादि व्यक्तियों के भेद के कारण बुद्धिवृत्तियाँ भी अनेक हैं। इन अनेक वृत्तियों को पाँच समूहों के अन्तर्गत रखा गया है[1]। प्रमाण, विपर्यय विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पाँच समूह हैं जिनमें सभी प्रकार के विषयों से जनित प्रत्यय या वृत्तियाँ रहती हैं। इन असंख्य वृत्तियों को हानोपादान की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया गया है। क्लिष्ट और अक्लिष्ट। अनेक विषय वासनाओं से संबन्धित वृत्तियाँ क्लिष्ट कहलाती हैं जिनका फल दुःख है अर्थात् जिनसे दुःख ही मिलता है। विवेकख्याति तथा उसके साधनों से उत्पन्न वृत्तियाँ अक्लिष्ट कहलाती हैं[2]। ये वृत्तियाँ क्लिष्ट-वृत्तियों की विरोधिनी होती हैं। अक्लिष्ट-वृत्तियों के द्वारा ही प्रकृति, पुरुष का विविक्तज्ञान प्राप्त होता है। इन वृत्तियों के उदित होने पर सभी क्लिष्ट वृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध हो जाता है[3]।

- -

1. " वृत्तयश्चैत्रादिभेदात् वृत्तिसमूहाः, पंचतय्यः पंच प्रकारा अवयवायासां ताः अवयविनो वृत्तिसमूहाः प्रमाणादि पंचप्रकारा। तासां हानोपादानसिद्धये भेदमाह।"

— योगसिद्धान्तचन्द्रिका पृ0 7

2. " तत्र क्लिष्टा विविधानेकविषयवासनानिबन्धना - - - - अक्लिष्टा विवेकख्यातितत्साधन - - - - क्लेशफलक वृत्तिविरोधिन्यः सात्त्विक्यः।"

— वही पृ0 7

3. " सर्वासामात्यन्तिकनिरोधार्थं प्रयासान्तरमपेक्षित स्यैति भावः।"

— वही पृ0 8

भास्वती

प्रमाणादि भेद से वृत्तियाँ पाँच प्रकार की बताई गई हैं । उक्त सभी वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट रूपों वाली होती हैं । जो वृत्तियाँ अविद्यामूलक तथा क्लेश रूपी फल देने वाली होती हैं वे क्लिष्ट वृत्तियाँ कही जाती हैं । जिन वृत्तियों से क्लेशों की निवृत्ति होती है वे अक्लिष्ट वृत्तियाँ कही जाती हैं[1] । विवेकख्याति को विषय बनाने वाली चित्तवृत्ति 'अक्लिष्टवृत्ति' कहलाती है । अक्लिष्ट वृत्तियों से क्लिष्ट-वृत्तियों का निरोध होने पर चित्त समाप्ताधिकार हो प्रकृति में लीन हो जाता है । फलस्वरूप पुरुषतत्व भी अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो कैवल्य को प्राप्त करता है ।

स्वामिनारायणभाष्य

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पाँचों चित्त की वृत्तियाँ हैं । चित्त के जितने भी व्यापार होते हैं वे सभी इन्हीं पाँचों वृत्तियों के परिणामस्वरूप होते हैं । अतः चित्त के इन प्रमाणादि व्यापारों को चित्त की वृत्तियाँ कहा गया है[2] । ये वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेदों वाली होती हैं । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये क्लेश हैं । इन क्लेशों से उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ क्लिष्ट होती हैं । ये क्लिष्ट-वृत्तियाँ रजोगुण और तमोगुण से आक्रान्त होती हैं और क्लेश जनक धर्म-अधर्म रूप कर्माशयों को उत्पन्न करती हैं । क्लिष्टवृत्तियों से क्लिष्ट-संस्कार बनते हैं ।

- -

1 - " क्लेशहेतुकाः क्लेशाः = अविद्याऽऽदयः, ते विपर्ययस्वभावाः क्लिश्नन्ति इति क्लेशाः तत्प्रत्ययास्तन्मूलाश्च वृत्तयः क्लिष्टाः, - - - - अक्लिष्टाः वृत्तयो विवेकख्यातिविषयाः, विवेकेन चित्तस्य निवृत्तिस्तस्मात्ता वृत्तयो गुणाधिकारविरोधिन्यो गुणप्रवृत्तिरेव क्लेशाः, अतो गुणनिवर्त्तिकाः ख्यातिविषया वृत्तयो क्लिष्टाः ।"

— भास्वती पृ0 24 ।

2 - " येः प्रमाणादिपञ्चविधव्यापारैश्चित्तं जीवति ते व्यापारास्तस्य वृत्तय उच्यन्ते ।"

— स्वामिनारायण भाष्य पृ0 56 ।

संप्रज्ञातयोग काल में चित्त में जो वृत्तियाँ बनती है वे अक्लिष्टवृत्तियाँ कहलाती हैं। अक्लिष्टवृत्तियाँ योगप्राप्ति में परम्परया सहायक होती हैं। इन अक्लिष्ट् वृत्तियों का भी निरोध होने पर ही निर्बीज रूप् असम्प्रज्ञात योग की स्थिति आती है। इस प्रकार क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों प्रकार की वृत्तियों का निरोध होता है।[1] परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि 'अक्लिष्ट' वृत्तियाँ भी अविद्या और रागयुक्त होती हैं। क्लिष्टवृत्तियाँ क्लेशों की वृद्धि में सहायक होती हैं और अक्लिष्ट-वृत्तियाँ क्लेशों से रहित होती हैं और निरोध-समाधि को प्राप्त कराने में सहायक होती हैं। क्लिष्ट और अक्लिष्ट-वृत्तियों से चित्त में क्लिष्ट और अक्लिष्ट प्रकारक संस्कार ही बनते हैं पुनः उन संस्कारों से वैसी ही वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों से संस्कार और उन संस्कारों से उक्त प्रकार की वृत्तियों का चक्र निरन्तर चलता रहता है।[2]

- -

1 - " अक्लिष्टा अपि परम्परयाऽस्मप्रयोजकत्वाद्धेया एवेति तत्त्वम् ।"

— स्वामिनारायणभाष्य पृ0 56 ।

2 - " क्लिष्टाभिर्वृत्तिभिः क्लिष्टाः संस्काराः क्रियन्ते, अक्लिष्टाभिर्वृत्तिभिश्चाऽक्लिष्टाः संस्काराः क्रियन्ते, तादृशतादृशसंस्कारैश्च तादृशतादृशवृत्तिः सम्पाद्य चित्तं भोगमारभते । अत उभयविधा अपि निरोद्धव्याः । तासां निरोधेऽपि निरोधात्मकं चित्तं संस्कारशेषमवतिष्ठते । "

— वही पृ0 56 ।

व्यासभाष्य

वृत्तिनिरोध के लिए सूत्रकार ने अभ्यास और वैराग्यनामक दो उपाय बताये हैं।[1] चित्त में वृत्तियाँ निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं। इन वृत्तियों में से कुछ ऐसी हैं जिनके कारण चित्त सांसारिक व्यापारों में आसक्त होता है। इनका शास्त्रीय नाम 'पापवहा' है। इन वृत्तियों के प्रवाह से चित्त सांसारिक विषयों की तरफ दौड़ता है जिसके परिणामस्वरूप उसका अविवेक, अज्ञान बढ़ता जाता है और वह मोक्ष से दूर सांसारिक भोगों के प्रति आसक्त हो जाता है। इसके विपरीत जबचित्त में वैराग्य की भावना जागृत होती है तब चित्त का आकर्षण उन विषयों के प्रति दूर होने लगता है। जब चित्त की राजस-तामस वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब चित्त शान्त और स्थिर हो जाता है। चित्त की इस स्थिति के लिए जिन साधनों का अनुष्ठान किया जाता है उस अनुष्ठान को ही अभ्यास कहा गया है।[2] यह अभ्यास जब ब्रह्मचर्य से, विद्या से तथा श्रद्धा द्वारा संपादित किया जाता है तब सुदृढ़ होता है तथा सुदृढ़ हुआ अभ्यास व्युत्थान-संस्कारों द्वारा बाधित नहीं होता।

दृष्ट और आनुश्रविक विषयों के प्रति उपेक्षाबुद्धि होने पर उनके प्रति भोग की भावना का न होना वैराग्य है। वैराग्य के दो प्रकारों का उल्लेख भाष्यकार ने सूत्र के आधार पर किया है। (1) अपर वैराग्य (2) परवैराग्य।[3]

- -

1 - "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।" — यो0सू0 1/12।

2 - "चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः। तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः तत्संपिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः।" — व्यासभाष्य पृ0 47।

3 - "दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति। तद् द्वयं वैराग्यम्।" — वही पृ0 51।

लौकिक तथा पारलौकिक विषयों के प्रति उपेक्षाभाव होने पर उन विषयों का सम्पर्क होने पर भी साधक उनके भोग के प्रति उदासीन रहता है और अपनी इस उपेक्षाभाव युक्त अनाभोगात्मिका प्रवृत्ति के द्वारा साधक को अपने चित्त पर पूर्ण अधिकार हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप उसका चित्त दृष्ट - अदृष्ट विषयों के पीछे नहीं भागता है । चित्त की इस समय की स्थिति विशेष का नाम ही वशीकार संज्ञा है । यह वशीकार-संज्ञा नामकस्थिति चित्त के अपरवैराग्य काल में होती है । अपरवैराग्य में दृष्ट, अदृष्ट विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है और परवैराग्य में राजस, तामस के अतिरिक्त सात्विकगुण के प्रति भी वितृष्णा हो जाती है ।

अपरवैराग्य द्वारा विरक्त हुआ चित्त पर-वैराग्य द्वारा पुरुष के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर गुणों के प्रति विरक्त हो जाता है । परवैराग्य अपर-वैराग्य की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि परवैराग्य द्वारा ही साधक को चरम-ज्ञान प्राप्त होता है ।[1] चित्त उस समय यह अनुभव करता है कि जितना कुछ प्राप्तव्य था सब प्राप्त हो गया और जितना नष्ट होने योग्य था वह नष्ट हो गया । इस प्रकार के विवेकशीलविचार द्वारा अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर कैवल्य लाभ करता है ।

- -

1 - " ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् । एतस्यैव हि नान्तरीयकम् कैवल्यमिति ।"

— व्यास-भाष्य पृ0 52 ।

तत्त्ववैशारदी

चित्त की राजस-तामस वृत्तियों का निरोध हो जाने पर जब चित्त में केवल सात्त्विक वृत्तियाँ ही प्रवाहित होती रहें, चित्त की ऐसी स्थिति के निमित्त जो प्रयत्न किया जाये उस प्रयत्न को अभ्यास कहा गया है। अभ्यास के दो साधनों का निर्देश किया गया है । (1) अन्तरंग (2) बहिरंगसाधन । अन्तरंग में धारणा, ध्यान, समाधि नामक साधन आते हैं और बहिरंग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि आते हैं । उक्त दोनों साधनों से साधक, चित्त की राजसिक तथा तामसिक वृत्तियों का निरोध करता है । अभ्यासकाल में कर्ता जिन बहिरंग साधनों का उपयोग करता है वह तो दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु उनसे क्या फल मिला यह नहीं दिखाई पड़ता । फल की प्राप्ति का अनुभव तो चित्त को होता है । अतः इसी बात को ध्यान में रखते हुए तत्त्ववैशारदीकार ने लिखा है - " साधनगोचरः कर्तृव्यापारो न फलगोचर इति ।[1] "

अभ्यास जब दीर्घकाल तक आसेवित, निरन्तर आसेवित तथा सत्कार-आसेवित होता है, तब वह सुदृढ़ हो जाता है । सुदृढ़ अभ्यास व्युत्थान संस्कारों से बाधित नहीं होता । अभ्यास से चित्त की राजस-तामस वृत्तियों का निरोध सरल हो जाता है । यह अभ्यास तीन विशेषणों से संपन्न है । (1) सुदृढ़ता (2) व्युत्थानसंस्कारों से अनभिभूत (3) चित्त की स्थिर स्थिति ।[2]

- -

1 - द्रष्टव्य - त०वै०पृ० 48 ।

2 - " सोऽयमभ्यासो विशेषणत्रयसम्पन्नः सम्यगवस्थितो न सहसा व्युत्थानसंस्कारैरभिभूतस्थितिस्थविषयों भवति । "

- वही पृ० 49 ।

अपरवैराग्य :- चेतन अचेतन दृष्ट पदार्थों के प्रति वितृष्णा आनुश्रविक स्वर्गादि विषयों के प्रति वितृष्णा तथा दिव्य अदिव्य वस्तुओं के प्रति वितृष्णा उत्पन्न होने के साथ-साथ इन सभी पदार्थों, विषयों के प्रति अनाभोगात्मिका प्रवृत्ति का होना ही वैराग्य है। केवल वितृष्णामात्र को वैराग्य नहीं कहा जा सकता। जब वितृष्णा के साथ - साथ अनाभोगात्मिका प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो तभी वैराग्य होता है। विषयों के प्रति अनासक्ति तथा उनके भोग के प्रति उदासीन होना वशीकार संज्ञा नामक वैराग्य है। यह वशीकार संज्ञा नामक वैराग्य विवेकशील चित्त को ही प्राप्त होता है। विषयताप युक्त हैं अर्थात् विषय दुःख देने वाले हैं इस प्रकार की सम्यक् दृष्टि का होना ही प्रसंख्यान है। इस प्रसंख्यान-बल से चित्त विषयों के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त कर उनके प्रति उदासीन तथा अनाभोगात्मिकप्रवृत्ति रखता है, इस प्रकार की प्रवृत्ति का होना ही वशीकार संज्ञा है। वशीकार संज्ञा को वाचस्पतिमिश्र ने भी वैराग्य का विशेषण न मानकर वैराग्यकालिक एक स्थिति माना है। वशीकार संज्ञा के प्रारम्भिक सोपानों का उल्लेख भी इन्होंने किया है, यथा - यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रिय संज्ञा तथा वशीकारसंज्ञा इति ये चार स्थितियाँ आगमशास्त्र को जानने वाले के अनुसार मान्य बतायी गयी हैं।

1- "न वैतृष्ण्यमात्रं वैराग्यम्, अपितु दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्यानाभोगात्मिका, तामेव स्पष्टयति - हेयोपादेयशून्या। आसंगद्वेषरहितोपेक्षाबुद्धिर्वशीकारसंज्ञा।"

त०वै० पृ० 50 ।

रागादि चित्त के मल हैं। ये चित्त के कषाय हैं। इन्हीं कषायों के कारण इन्द्रियाँ विषय भोगों में प्रवृत्त होती हैं। जब चित्त में यह भावना जागृत हो जाती है कि इन्द्रियाँ अब विषय सुखों में प्रवृत्त न होने पावें तो यतमानसंज्ञा होती है[1]। यतमानसंज्ञा में योगी अभ्यास प्रारम्भ करता है। जब साधक यह विचार करने लगता है कि इतने कषायों पर विजय प्राप्त हो गई, इतने और शेष बचे हैं, इस प्रकार का निश्चयरूप वैराग्य व्यतिरेकसंज्ञक वैराग्य होता है[2]। जब कषायों के अनुसार होने वाली इन्द्रियों की प्रवृत्ति वैराग्यभावना के कारण बन्द हो जाती है, केवल 'मन' नामक एक इन्द्रिय में ही कषाय 'उत्सुकता' के रूप में विद्यमान रहते हैं तब अपरवैराग्य की यह अवस्था 'एकेन्द्रियसंज्ञा' कहलाती है[3]। विषयों के प्रति उपेक्षा बुद्धि के साथ साथ अनाभोगात्मिका वृत्ति का होना वशीकार संज्ञा है[4]। उक्त सभी स्थितियाँ अपरवैराग्य के अन्तर्गत आती हैं।

परवैराग्य :- अभ्यास और अपरवैराग्य के पश्चात् चित्त शुद्ध सात्त्विक प्रवाह वाला हो जाता है[5]। चित्त एकाग्र होकर पुरुष के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है साथ ही उसे गुणों के स्वरूप का भी ज्ञान हो जाता है।

- -

1 - " रागादयः खलु कषायाश्चित्तवर्तिनस्तैरिन्द्रियाणि यथास्वं विषयेषु प्रवर्त्यन्ते, तन्मा प्रावर्तिषतेन्द्रियाणि तत्तद्विषयेष्विति तत्परिपाचनायारम्भः प्रयत्नः, सा 'यतमान-संज्ञा' "। त०वै०पृ० 50।

2 - " तदारम्भे सति केचिच्चित्तकषायाः पक्वाः, पच्यन्ते, पक्ष्यन्ते केचित्। तत्र पक्ष्यमाणेभ्यः पक्वानां व्यतिरेकेणावधारणं व्यतिरेकसंज्ञा। " - वही पृ० 50।

3 - "इन्द्रियप्रवर्तनासमर्थतया पक्वानामौत्सुक्यमात्रेण मनसि व्यवस्थानमेकेन्द्रिय संज्ञा।" - वही० पृ० 50।

4 - " औत्सुक्यमात्रस्यापि निवृत्तिरुपस्थितेष्वपि दिव्यादिव्यविषयेषूपेक्षाबुद्धिः संज्ञात्रयात्परा वशीकार संज्ञा। " - वही पृ० 50।

5 - " अपरवैराग्यस्य परं वैराग्यं प्रति कारणत्वम्।" - वही पृ० 52।

गुणों के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर चित्त उनके प्रति विरक्त हो जाता है और अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर अति प्रसन्नता का अनुभव करता है[1]। उसके चित्त के अविद्यादि समस्त मल नष्ट हो जाते हैं और साधक जीवित होता हुआ भी मुक्त के समान अनुभव करता है। इस प्रकार परवैराग्य द्वारा साधक का चित्त सभी प्रकार के मलों से दूर होकर स्वच्छ हो जाता है और ज्ञान की पराकाष्ठा को प्राप्त करता है। ज्ञान के अनन्त प्रकाश के सामने ज्ञेय उसे अति अल्प रूप का भासित होने लगता है। इस प्रकार के ज्ञान की पराकाष्ठा के पश्चात् ही योगी कैवल्य लाभ करता है जो सबसे ऊँची तथा श्रेष्ठ उपलब्धि है।

राजमार्तण्ड वृत्ति

अभ्यास —— चित्तवृत्तियों के निरोध के उपाय अभ्यास और वैराग्य हैं। अभ्यास द्वारा वृत्तियों की बहिर्मुखी, प्रवृत्ति का निरोध हो जाता है और ये वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर अपने कारण चित्त में लीन हो जाती हैं। वृत्तियों का निरोध हो जाने पर ही चित्त दृढ़ स्थिरता को प्राप्त होता है[3]। इस प्रकार वृत्तियों से रहित चित्त की शान्त स्थिति के लिए यत्न करना ही 'अभ्यास' है। चित्त की स्थिरता से तात्पर्य है — चित्त का अपने स्वरूप में स्थित रहना। चित्त का वास्तविक स्वरूप 'प्रकाशात्मक' या 'सात्त्विक' है अतः चित्त का अपने सात्त्विक रूप में स्थित होना ही चित्त की स्थिति है जिसके लिए 'अभ्यास' नामक उपाय का पालन अनिवार्य है[4]।

---

1. "यदुत्तरम् तज्ज्ञानप्रसादमात्रम् । यस्योदयेन निर्विषयणं सुखयति । तथैव हि तादृशं चित्तसत्त्वं रजस्तमोमलेनापरामृष्टमस्थीयेऽति एवं ज्ञान प्रसाद इत्युच्यते ।"
ता0वै0 पृ0 52 ।

2. " तासां विनिवृत्तबाह्याभिनिवेशानां अन्तर्मुखतया स्वकारण एवं चित्ते शक्तिरूपतयाऽवस्थानम् । ---- अभ्यासेन च सुखजनक शान्तप्रवाहप्रदर्शन द्वारेण दृढं स्थैर्यमुत्पाद्यते ।"
— रा0मा0वृ0पृ0 31 ।

3. " वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः परिणामः स्थितिस्तस्यां यत्न उत्साहः पुनः पुनस्तत्त्वेन चेतसि निवेशनमभ्यास इत्युच्यते । "
— रा0मा0वृ0 पृ0 32

अभ्यास की स्वस्थ्यगत विशेषताएँ ये हैं -- अभ्यास का बहुत काल तक होना उसकी प्रथम विशेषता है । चित्त की स्थिति के लिए आदर के साथ निरन्तरयत्न करना अभ्यास की दूसरी विशेषता है । तीसरी विशेषता है । अभ्यास के द्वारा चित्त का स्थिर होना । अभ्यास के ही द्वारा चित्त की स्थिति सुदृढ़ होती है अर्थात चित्त की स्वरूपनिष्ठता दृढ़ होती है [1] ।

चित्तवृत्ति निरोध का दूसरा उपाय 'वैराग्य' है । वैराग्य के दो भेद किए गए हैं । (1) अपर वैराग्य (2) परवैराग्य ।

अपरवैराग्य :- दृष्ट और आनुश्रविक विषयों की नश्वरता तथा परिणामदुःखता को देखकर उनको न चाहने की इच्छा ही 'अपरवैराग्य' है । 'अपरवैराग्य' में साधक का चित्त विषयों से इतना अधिक विरक्त हो जाता है कि किसी भी प्रकार के विषय की प्राप्ति की इच्छा नहीं करता है । विरक्तचित्त वशीकार-संज्ञा को प्राप्त हो जाता है और यह अनुभव करता है कि 'विषय' अब उसके वश में है वह विषयों के वशीभूत नहीं है । विषयों के प्रति अब वह कभी भी आसक्त नहीं हो सकता है [2] ।

परवैराग्य :- विवेकख्यातिद्वारा पुरुष के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर गुणत्रय के प्रति विरक्ति होना 'परवैराग्य' है । इस अवस्था में साधक यह समझ लेता है कि समस्त विषय गुणों से युक्त हैं, अतः वृत्तिनिरोध के लिए श्रेष्ठ उपाय गुणों से छुटकारा पा जाना है । इस प्रकार की भावना के जाग्रत होने पर साधक को सभी गुणों से वैराग्य हो जाता है । इसी वैराग्य को परवैराग्य या श्रेष्ठवैराग्य माना गया है [3] ।

- -

1 - " बहुकालं नैरन्तर्येण आदरातिशयेन च सेव्यमानो दृढ़ भूमिः स्थिरो भवति । व्युत्थाय प्रभवतीत्यर्थः । "

-- रा०मा०वृ० पृ० 34 ।

2 - " तयोर्द्वयोरपि विषययोः परिणाम विरसत्वदर्शनाद्विगतगर्धस्य या वशीकारसंज्ञा ममैते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति योऽयं विमर्शस्तद्वैराग्यमुच्यते ।"

-- वही पृ० 36 ।

3 - " तद्वैराग्यं एवं प्रकृष्टं प्रथमं वैराग्यं विषयविषयम् । द्वितीयं गुणविषयमुत्पन्नपुरुषविवेकख्यातेरेव भवति, निरोध-समाधेरत्यन्तानुकूलत्वात् । "

-- वही पृ० 39

विवरण

चित्त की सुखदुःख और मोहात्मक वृत्तियों के निरोध के उपाय अभ्यास और वैराग्य हैं। चित्त की स्थिति के निमित्त किया गया यत्न ही अभ्यास है[1]। यत्न का ही पर्याय 'वीर्य' तथा 'उत्साह' है[2]। अतः इस आधार पर 'वीर्य' और उत्साह का भी 'अभ्यास' कहा जा सकता है। अभ्यास के लिए यम-नियमादि योग के आठों साधनों का अनुष्ठान किया गया है। इस प्रकार योग के साधनों का अनुष्ठान अभ्यास हुआ[3]। यह अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर आसेवित किए जाने पर दृढ़भूमि वाला होता है। दृढ़भूमिक अभ्यास व्युत्थान-संस्कारों से अचानक बाधित नहीं होता। अतः समाधि-स्थिति भी दृढ़ तथा दीर्घ कालीन होती है।

अब वैराग्य का निरूपण प्रस्तुत है। दृष्ट और आनुश्रविक विषयों के प्रति वितृष्णा का उत्पन्न होना वैराग्य है। इसे ही अपरवैराग्य कहा गया है। अपर-वैराग्य के चार भेदों के नाम इस प्रकार हैं :- (1) यतमानसंज्ञा (2) व्यतिरेकसंज्ञा (3) एकेन्द्रियसंज्ञा और (4) वशीकारसंज्ञा। सभी पदार्थों पर वश प्राप्त कर यह सोचना कि पदार्थ गौण हैं इनका अब कोई काम नहीं है इस प्रकार की अनाभोगात्मिका प्रवृत्ति का होना ही वशीकार संज्ञात्मक वैराग्य है।

----

1. " निरोधनिमित्ता चित्तस्य या स्थितिः यत्नस्य फलभूता तस्या निमित्तो यो यत्नः सोऽभ्यासः ।

— विवरण 42 ।

2. " यत्नोवीर्यमुत्साह इति पर्यायाः ।"

— वही पृ0 43 ।

3. " यमनियमादियोग साधनानुष्ठानमभ्यास इति ।"

— वही पृ0 43 ।

दूसरे प्रकार के वैराग्य को 'परवैराग्य' नाम से अभिहित किया गया है । यह वैराग्य कैवल्य-दायक होने के कारण परमुत्कृष्ट वैराग्य माना गया है[1] ।

योगवार्त्तिक

चित्त की एकाग्रता के लिए शास्त्रोक्तश्रद्धादि साधनों का अनुष्ठान करना अभ्यास है[2] । अर्थात् चित्त को ध्येय रूप आलम्बन में यत्नपूर्वक लगाना या सन्निविष्ट करना ही अभ्यास है । इस अभ्यास का निरन्तर बहुकाल तक तपस्या इत्यादि सत्कर्मों द्वारा सेवन करने से अभ्यास सुदृढ़ होता है तथा व्युत्थानसंस्कारों से चलित नहीं होता इस प्रकार अभ्यास से चित्त रजोतमोरूपादि वृत्तियों से रहित शान्त तथा एकाग्रस्थिति वाला होता है चित्त की इस एकाग्र, शान्त स्थिति के लिए यत्न करना ही अभ्यास है । 'स्थिति' शब्द को आचार्य ने योग का चरम् अंगभूत-समाधि बताया है । यह विवेचन वार्त्तिककार का विशेष विवेचन है क्योंकि अन्य व्याख्याकारों ने 'स्थिति' शब्द को लेकर ऐसा विचार नहीं किया है ।

वैराग्य :- वैराग्य अलमबुद्धि को कहते हैं । रागादि का अभाव मात्र वैराग्य नहीं है । चित्त में जब किसी भी प्रकार की तृष्णा नहीं रह जाती है अर्थात् सर्वथा, सर्वतः वितृष्ण चित्त ही वैराग्य को प्राप्त करता है[3] । वैराग्य दो प्रकार का होता है (1) अपरवैराग्य (2) परवैराग्य ।

अपरवैराग्य :- दृष्ट, अदृष्ट, आनुश्रविक, विषयों के प्रति वितृष्णा के साथ-साथ चित्त की अनाभोगात्मिका प्रवृत्ति ही अपरवैराग्य है । अपरवैराग्य का क्रमिक विकास यतमान संज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रिय संज्ञा तथा वशीकार संज्ञा नामक सोपानों

- -

1 - "कैवल्यस्य वा प्रत्यासन्नतरत्वात् परमुत्कृष्टम् ।"

- विवरण पृ0 45 f

2 - "श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञाऽऽदीनां वक्ष्यमाणानां साधनानामनुष्ठानमभ्यास लक्षणकृतम् ।"

- योगवार्त्तिक पृ0 48

3 - "अतोऽत्र वैराग्यस्य वैतृष्ण्यमात्रं न लक्षणं किं तु यथोक्त वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञेति ।"

- वही पृ0 50 f

से होता है । इन चारों में वशीकारसंज्ञा नामक अपरवैराग्य श्रेष्ठ माना गया है । अतः योगप्राप्ति के इच्छुक साधक को वशीकार संज्ञक अपरवैराग्य का अनुष्ठान करना चाहिए ।

परवैराग्य :- परवैराग्य अपरवैराग्य की तुलना में उत्कृष्टतर है[1] । परवैराग्य में चित्त सांसारिक तथा स्वर्गादि आकर्षणों के प्रति वैराग्य से भी ऊँचे उठकर बुद्धितत्त्व, पुरुष तत्त्व तथा प्रकृति तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करता है और पुनः इस ज्ञान के प्रति भी विरक्तचित्त होकर परवैराग्य प्राप्त करता है । परवैराग्य के द्वारा साधक कैवल्यफल दायक असम्प्रज्ञात योग को प्राप्त होता है ।

विवेकख्याति के प्रति भी वैराग्य हो जाना 'परवैराग्य' है । यह वैराग्य सम्प्रज्ञात के साधक, यमनियमादि के साधक का विषय नहीं यह असम्प्रज्ञातयोग का साधन है । सम्प्रज्ञात योग के बाद विवेकख्याति प्राप्त होती है और जब विवेकख्याति के भी प्रति वैराग्य हो जाता है तब परवैराग्य की स्थिति आती है । इसी स्थिति में योगी असम्प्रज्ञात-योग को प्राप्त करता है और अन्त में मोक्ष प्राप्त कर मुक्त हो जाता है[2] ।

- -

1 - " तथा चात्मबुद्ध्यात्यन्तरसाक्षात्काराभ्यासाद्धेतोरभ्युदयमानं सकलगुणेषु वैतृष्ण्यं परं श्रेष्ठं वैराग्यमित्यर्थः ।

योगवार्तिक पृ0 53 ।

2 - " एतस्यैव यतो ज्ञानप्रसादस्य कैवल्यं नान्तरीयकं नियतम् एतस्मिन्नेव सति कैवल्यमापादयं नान्यस्मिन् ज्ञाने यमनियमादौ वैराग्ये वा तत्रत्वेऽप्यसम्प्रज्ञातानुदयेनाशेषतः प्राचीनकर्मक्षयोऽनियमतः कषायसम्भवात्तु मोक्षे विलम्बसम्भवादिति । "

- वही पृ0 54 ।

विवेकख्यातिपर्यन्त चित्त की स्थिति बनाये रखने के लिए श्रद्धादि साधनों का पुनः-पुनः अनुष्ठान ही अभ्यास है[1] । इस अभ्यास का सेवन जब बिना किसी बाधा के निरन्तर ब्रह्मचर्यादि तथा सत्कार्यों के द्वारा किया जाता है तब वह अभ्यास दृढ़ भूमि वाला होता है । दृढ़भूमिक अभ्यास व्युत्थान संस्कारों से अभिभूत नहीं होता अतः सुदृढ़ अभ्यास से स्थिर चित्त की स्थिति व्युत्थान संस्कारों से अभिभूत नहीं होती[2] ।

योग का दूसरा उपाय वैराग्य है । वैराग्य के दो भेद निर्दिष्ट हैं (1) अपरवैराग्य (2) परवैराग्य । प्रथमतः अपरवैराग्य का स्वरूप निरूपित किया जा रहा है । जितने भी ऐहिक विषय हैं सभी दृष्ट विषय हैं । वेदोक्त स्वर्गादि विषय अदृष्ट विषय हैं । इन दृष्ट और अदृष्ट विषयों के प्रति वितृष्णा ही वैराग्य है । अपरवैराग्य के चार भेद किए गए हैं । (1) यतमानसंज्ञा (2) व्यतिरेकसंज्ञा (3) एकेन्द्रिय संज्ञा और (4) वशीकार-संज्ञावैराग्य । इन सभी का विश्लेषण क्रम से किया जा रहा है । विषयों के प्रति दोषदृष्टि होने पर ही वैराग्य होता है अतः जब ज्ञानपूर्वक वैराग्य के साधनों का अनुष्ठान किया जाता है तब यतमानसंज्ञा नामक वैराग्य होता है । यह वैराग्य की प्रथमभूमिका है । इतनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किया जा चुका है

- -

1 - " तत्र तयोर्मध्ये स्थितौ विवेकपर्यन्तं चित्तस्थैर्यार्थं प्रयत्नो वक्ष्यमाणानां श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञासाधनानां पुनः पुनरनुष्ठानमभ्यास इत्यर्थः ।"

— योगदीपिका पृ० ११ ।

2 - " स तु अभ्यासो दीर्घकालेन सेवितो नैरन्तर्येणावधानेन च सेवितस्तपो-ब्रह्मचर्यादिसद्भिः सत्कारेण सेवितो दृढभूमिर्भवति । व्युत्थानसंस्कारेणानभिभूतां स्थितिं जनयतीत्यर्थः ।"

— वही पृ० ११ ।

अब इतनी और जेतव्य हैं ऐसी अवधारणा द्वितीय भूमिका में होती है जिसे 'व्यतिरेकसंज्ञा' नामक वैराग्य कहा गया है । बाह्येन्द्रियों को आकृष्ट करने वाले रूपादि विषयों के प्रति राग का अभाव होने पर एक मन से सम्बन्धित रागादि के दूर हो जाने पर एकेन्द्रियसंज्ञा नामक वैराग्य होता है । जब सभी प्रकार के रागादिवासनाओं के प्रति वैराग्य हो जाता है तब वशीकार-संज्ञा नामक चतुर्थ वैराग्य प्राप्त होता है ।[1]

अपरवैराग्य के पश्चात परवैराग्य का निरूपण किया जा रहा है । परवैराग्य को 'श्रेष्ठवैराग्य' नाम से भी अभिहित किया जाता है । पुरुषख्याति के अनन्तर सभी गुणों के प्रति वितृष्णा का होना ही परवैराग्य है ।[2] 'वितृष्णा' पद का अर्थ योगदीपिकामें 'अलंबुद्धि' किया गया है अर्थात् गुणों के प्रति आसक्ति का सर्वथा अभाव हो जाना । यह वैराग्य ही कैवल्य का कारण है ।[3]

- -

1 - " ज्ञानपूर्वकवैराग्यसाधनानां दोषदर्शनादीनामनुष्ठानं यतमानसंज्ञात्वेन परिभाषिता वितृष्णा प्रथमा भूमिका । बाह्येन्द्रियविषयेषु रूपादिषु रागद्वेषाद्यभावे सति, एकस्मिन्नेव मनसि मानादिविषयकरागद्वेषाद्यपसारणं तृतीयाभूमिका । प्रकृष्टविषयसान्निध्येऽपि रागादि-वासनानुद्बोधाच्चतुर्थीभूमिका वशीकार-संज्ञा वितृष्णेति ।"

— योगदीपिका - पृ0 12 ।

2 - " सकलगुणेभ्यस्तोपकरणेषु वैतृष्ण्यमलंबुद्धिः परं श्रेष्ठं वैराग्यमित्यर्थः ।"

— वही पृ0 12 ।

3 - " एतस्मिन्नेव च वैराग्ये सति कैवल्यनियमो । "

— वही पृ0 13 ।

जब चित्त की राजसी और तामसी वृत्तियों का निरोध हो जाता और चित्त में केवल सात्त्विकवृत्ति ही अवशिष्ट रह जाती है तब चित्त एकाग्रता को प्राप्त होता है । चित्त की यह एकाग्रता ही उसकी स्थिति है जिसके लिए अभ्यास और वैराग्यनामक उपायों का उल्लेख किया गया है । चित्त की स्थिरता के लिए यमादि-साधनों का अनुष्ठान प्रयत्न के द्वारा किया जाता है उस प्रयत्न की धारा को ही 'अभ्यास' कहा गया है । 'प्रयत्न की धारा' पद से यह स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि प्रयत्न की अविच्छिन्नता ही अभ्यास है।[1] यह अभ्यास दीर्घकालतक, निरन्तर, श्रद्धा, तपस्यादि द्वारा जब सेवित होता है तब यह दृढ़ भूमि वाला होता है । दृढ़भूमि को प्राप्त अभ्यास व्युत्थान संस्कारों से अभिभूत नहीं होता अर्थात् चित्त की स्थिति बनी रहती है । व्युत्थान संस्कारों से बाधित नहीं होती ।

अभ्यास के बाद 'वैराग्य' का उल्लेख किया जाता है । वैराग्य के दो भेदों में से 'अपरवैराग्य' नामक प्रथम भेद का विवेचन प्रथमतः किया जा रहा है । अपरवैराग्य के अन्तर्गत चार प्रकार के वैराग्यों का निरूपण किया गया है । जिनमें से चतुर्थ अर्थात 'वशीकारसंज्ञक' वैराग्य को ही वास्तविक अर्थ में वैराग्य माना गया है । योग प्राप्ति के लिए वशीकारसंज्ञक वैराग्य ही सहायक होता है । अतः इसकी प्रतिष्ठा अन्य तीन वैराग्यों की अपेक्षा अधिक की गयी है । अपरवैराग्य में दृष्ट और अदृष्ट विषयों के प्रति वितृष्णा होती है । रामचन्द्र योगदीपिका की ही भाँति है अतः यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकारसंज्ञक वैराग्य के भेदों की व्याख्या नहीं की जा रही है ।[2]

---

1 - " सात्त्विकमात्रवृत्त्यैकाग्रता स्थितिस्तत्र तन्निमित्तं तत्संपादनेच्छया तत्साधनविषयानुष्ठाने या यत्नधारा सोऽभ्यास इत्यर्थः । "

-- पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ० 11 ।

2 - द्रष्टव्य - पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ० 12 ।

वैराग्य का दूसरा भेद है 'परवैराग्य'। यह वैराग्य उत्कृष्ट-प्रकार का वैराग्य है। जब गुणों और पुरुष का विविक्त ज्ञान हो जाता है तब साधक को गुणों के प्रति वैराग्य हो जाता है। वैराग्य का अर्थ है गुणों के प्रति अलंबुद्धिरूप-वैराग्य। यह वैराग्य निर्विषयक होता है अर्थात् इस वैराग्य के बाद साधक का चित्त किसी भी विषय तथा उसके ज्ञान से आबद्ध नहीं रहता है। इस समय न तो कोई बुद्धिवृत्ति बनती है न कोई ज्ञान होता है अतः परवैराग्य की अवस्था में चित्त असम्प्रज्ञात-समाधि में लीन हो कैवल्य को प्राप्त करता है।[1]

मणिप्रभा

चित्त की रजोगुणयुक्त तथा तमोगुणयुक्त वृत्तियों का निरोध हो जाने पर चित्त एकाग्रस्थिति में स्थित होता है। चित्त की एकाग्रस्थिति के लिए यमनियमादि योग के साधनों का प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठान ही 'अभ्यास' है।[2] अभ्यास प्रयत्न विशेष का नाम है। इस अभ्यास का सेवन जब पवित्रता तथा संयमपूर्वक, तपस्या तथा श्रद्धादि भाव द्वारा निरन्तर किया जाता है तब यह अभ्यास सुदृढ़ होता है, सुदृढ़ अभ्यास व्युत्थान-संस्कारों के सम्पर्क से कभी भी अभिभूत नहीं होता है।[3] फलतः चित्त की एकाग्रभूमि में स्थिति अनवच्छिन्न रूप से बनी रहती है। 'स्थिति' शब्द का अर्थ मणिप्रभाकार ने चित्त का 'एकाग्रभूमि' में अवस्थित होना किया है।

- -

1 - "तदुत्तरं निर्विषयज्ञानप्रसादमात्ररूपो संप्रज्ञातः समाधिरिति तात्पर्यम्। अस्मिन्नेव वैराग्ये सति कैवल्यनियमः।" — पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ0 13।

2 - "चित्तस्यैकाग्रता 'स्थितिः' तस्यां कार्यायां यानि साधनानि यमनियमादीनि तद्विषयः प्रयत्नोऽनुष्ठानमभ्यास" इत्यर्थः। — मणिप्रभा पृ0 7।

3 - "सोऽभ्यासो दीर्घकालं तपोब्रह्मचर्यविद्याश्रद्धारूपसत्कारेण नैरन्तर्येण चासेवितो दृढसंस्कारः स व्युत्थानसंस्कारैर्नाभिभूयते किं तु स्थितिसमर्थो भवतीत्यर्थः।"

— वही पृ0 8।

चित्तवृत्तियों के निरोध का दूसरा उपाय वैराग्य है । वैराग्य के दो भेद किए गए हैं । (1) अपरवैराग्य और (2) परवैराग्य । अपरवैराग्य के अन्तर्गत चार प्रकार के वैराग्य समाविष्ट हैं जिनका उल्लेख इस प्रकार से किया गया है । रागादि कषायों से युक्त विषयों में प्रवृत्तइन्द्रियों के कषायों को पकाने के लिए किया गया यत्नविशेष ही यतमानसंज्ञक वैराग्य है । 'पकाना' शब्द यहाँ सम्भवतः कषायों को 'दग्धबीजभावता' प्राप्त कराने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । दग्ध बीज भाव को प्राप्त कराने के बाद क्लेशायुक्त वृत्तियाँ पुनः नहीं उत्थित हो पातीं और इस प्रकार उनका आत्यन्तिक विनाश हो जाता है । इन पकाए गए कषायों के बाद अब और कितने बचे का विभाग करना व्यतिरेकसंज्ञकवैराग्य है । क्लेशों के पक जाने या भर्जित हो जाने के उपरान्त इन्द्रियाँ अप्रवर्तनशील हो जाती हैं और चित्त एकाग्रता को प्राप्त हो जाता है । चित्त का एकाग्र होना ही एकेन्द्रियसंज्ञक वैराग्य है । जब साधक सभी दृष्ट-अदृष्ट विषयों को विनाश, ताप और असूयादि दोषों से युक्त देखता है तब इनके प्रति भी उसके चित्त में वितृष्णा जग जाती है फलतः साधक उन विषयों के प्रति उपेक्षाबुद्धि रखता हुआ वशीकारसंज्ञक वैराग्य को प्राप्त करता है¹ ।

अपरवैराग्य के बाद ही परवैराग्य की प्राप्ति होती है । इसी बात को ध्यान में रखते हुए मणिप्रभाकार ने लिखा है – " पूर्ववैराग्यमुत्तरवैराग्ये हेतुः ।" योगांगों के अनुष्ठान से चित्त जब शुद्ध होकर विषयों के प्रति दोषदृष्टि रखता हुआ वैराग्य प्राप्त कर लेता है तब उसे पुरुषख्याति होती है । पुरुषख्याति को ही विवेकख्याति भी कहते हैं । विवेकख्याति के निरन्तर होते रहने पर चित्त नितान्त

- -

1 - " तत्र रागादिभिः चित्तस्थानां कषायाणां विषयेष्विन्द्रियप्रवर्तकानां पाकाय प्रयत्नो यतमानसंज्ञावैराग्यं, ततः पक्वानां केषांचित्कषायाणां पच्यमानेभ्यो विभागावधारणं व्यतिरेकसंज्ञा वैराग्यं, ततः पक्वानां सर्वेषामिन्द्रियप्रवर्तनाशक्तानां मनस्यौत्सुक्यरूपेणावस्थानमेकेन्द्रिय संज्ञा वैराग्यं, - - - - - - दृष्टेषु - - - - आनुश्रविकेषु - - - विनाशपरिताप-सातिशयत्वासूयादिदोषाणामभ्यासेन साक्षात्कारात् "वितृष्णा" "ह्युपेक्षाबुद्धिः" "वशीकारसंज्ञा" "वैराग्यमित्यर्थः ।"

— मणिप्रभा पृ० 8 ।

शुद्ध सात्त्विक रूप में स्थित होता हुआ धर्ममेघसमाधि को प्राप्त होता है[1]। धर्ममेघ-समाधिस्थ चित्त जब गुणों से मुक्त होकर कृतकार्य हो जाता है तब उसे असम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति होती है। असम्प्रज्ञातसमाधि को परवैराग्य की पूर्णता का अभिन्न फल कहा गया है[2]।

योगसूत्रार्थबोधिनी

यमनियमादि योग के साधन जिनके द्वारा चित्त रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों से शून्य होकर एकाग्र स्थिति में स्थित होता है। चित्त की इस एकाग्रता के लिए किया गया प्रयत्न अथवा अनुष्ठान ही अभ्यास है[3]। यह अभ्यास ब्रह्मचर्य और श्रद्धादि संस्कारों से आसेवित होने पर दृढ़ होता है। अभ्यास के सुदृढ़ होने पर तदनुरूप ही दृढ़संस्कार चित्त में बनते हैं जिसके कारण चित्त की एकाग्र स्थिति खण्डित नहीं होती। क्योंकि सुदृढ़ अभ्यास व्युत्थान-संस्कारों से सर्वथा अनभिभूत रहता है[4]।

वृत्तिनिरोध का दूसरा उपाय वैराग्य है। वैराग्य के दो भेदों का उल्लेख किया गया है। अपरवैराग्य और पर-वैराग्य। अपरवैराग्य परवैराग्य की तुलना में कम श्रेष्ठ है सम्भवतः इसीलिए इस वैराग्य का नाम अपरवैराग्य रखा गया है।

- -

1 - "सोऽयमतिशुद्धचित्तधर्मः प्रसादो धर्ममेघस्योत्तरावधिः तस्यैव फलीभूतः परं गुणेभ्यो वैतृष्ण्यं वैराग्यमुच्यते यं मुक्ति हेतु साक्षात्कारं वदन्ति मोक्षविदः। यस्योदये प्रक्षीण सर्वक्लेशो विधुताशेषकर्माशयः कृतविवेकख्यातावप्युपेक्षकः कृतं कृत्यं प्राप्तं प्रापणीयमिति मन्यते योगी।"

— मणिप्रभा पृ० 9।

2 - "चित्तमसम्प्रज्ञातसंस्कारमात्रशेषं भवति तत्परं वैराग्यम्।"

— वही पृ० 9।

3 - "रजस्तमोवृत्तिशून्यस्य चित्तस्य एकाग्रतास्थितिः। तस्यां कार्याणि यमनियमादीनि। तद्विषयकः प्रयत्नोऽनुष्ठानमभ्यासः इत्यर्थः।"

— सूत्रार्थबोधिनी पृ० 5।

4 - "सः व्युत्थानसंस्कारैर्नाभिभूयते, किन्तु स्थितिसमर्थो भवतीत्यर्थः।"

— वही पृ० 6

जब दृष्ट और अदृष्ट विषयों के प्रति उपेक्षाबुद्धि होने पर विषयों के प्रति वितृष्णा उत्पन्न होती है तब वशीकारसंज्ञक वैराग्य प्राप्त होता है जो अपरवैराग्य की भूमिकाओं में से अन्तिम वैराग्य है । अपरवैराग्य के चारों भेदों का उल्लेख इस व्याख्या में औरों से भिन्न रूप में किया गया है ।

स्वीकृत विषय जिनका त्याग नहीं हो सकता उनके प्रति उदासीनभाव रहते हुए उनके समान वस्तुओं का त्याग करना ही यतमानसंज्ञकवैराग्य है । प्रिय विषयों के प्रति राग का अभाव होना व्यतिरेकसंज्ञकवैराग्य है । विषयवृत्तियों के प्रति हृदय में राग का शिथिल हो जाना एकेन्द्रियसंज्ञकवैराग्य है । जब एकेन्द्रियसंज्ञकवैराग्य के प्रति भी उदासीनता आ जाती है तब वशीकार-संज्ञक वैराग्य होता है । वशीकार-संज्ञक वैराग्य में चित्त पूर्णतया सभी विषयों की तरफ से उदासीन होकर केवल अपने आप में स्थित रहता है[1] ।

अपरवैराग्य के पश्चात परवैराग्य की स्थिति आती है । पुरुष और प्रधान का विविक्तज्ञान हो जाने पर गुणों के प्रति वितृष्णा का हो जाना ही पर-वैराग्य है । पर का अर्थ है श्रेष्ठ है । अतः 'परवैराग्य' इस पूरे पद का अर्थ श्रेष्ठ वैराग्य हुआ । इस वैराग्य द्वारा परमज्ञान प्राप्त हो जाता है और साधक सद्यः कैवल्य प्राप्त कर मुक्त हो जाता है[2] ।

- -

1 - "तत्र स्वीकृतविषयान् सम्यक्त्यक्तुमशक्नुवतोऽपि समानेच्छा त्यागेनाद्यम् । ततोऽपिविषयाणां मध्ये प्रियवस्तुत्यागेनापि व्यतिरेकेणाऽपि वृत्तिर्द्वितीयम् । तथा वृत्तावपि मनसि रागशैथिल्येन बाह्येन्द्रियैरेव सेवनं तृतीयम् । तत्राप्यौदासीन्यं चतुर्थमित्यर्थः ।"

— सुबोधिनी पृ0 6 ।

2 - "पुरुषस्य या ख्यातिः प्रधानादिभ्यो विवेकस्य यः साक्षात्कार उच्यते तदभ्यासाद्योग गुणत्रयव्यवहारेषु वैतृष्ण्यम् । तृष्णाविरोधिनी चित्तवृत्तिर्या भवति तत्परं श्रेष्ठं फलभूतं वैराग्यं तत्परिपाकाच्चित्तोपशमपरिपाकस्ततोऽखिलयोग कैवल्यमित्यर्थः ।"

— वही पृ0 7 ।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका –

चित्त की क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों का निरोध करने के उपरान्त परमात्मा में चित्त को एकाग्र करने के हेतु जिन प्रयत्नों का अनुष्ठान किया जाता है उस अनुष्ठान को ही अभ्यास कहा गया है[1]। 'अभ्यास' के निमित्त किए गए प्रयत्न ये हैं उत्साह, साहस, धैर्य, अध्यात्मविद्या, शास्त्रों का अध्ययन और योग के आठों साधनों के अनुष्ठान द्वारा चित्त एकाग्रस्थिति में स्थित होता है। यह अभ्यास बहुत समय तक निरन्तर विधि और श्रद्धापूर्वक सेवित होने पर दृढ़-भूमिवाला होता है। दृढ़अभ्यास से दृढ़अभ्याससंस्कार बनते हैं जो व्युत्थान संस्कारों से बाधित नहीं होते और चित्त इस प्रकार दृढ़ अभ्यास द्वारा स्थितिशील होने में समर्थ होता है[2]।

वृत्तिनिरोध का दूसरा उपाय वैराग्य है। वैराग्य के दो भेद हैं – अपरवैराग्य और परवैराग्य।

अपरवैराग्य – दृष्ट और आनुश्रविक विषयों के प्रति उपेक्षाबुद्धि के होने पर जो वैराग्य होता है उसे अपरवैराग्य कहते हैं। अपरवैराग्य के चारों भेदों का उल्लेख 'सूत्रार्थबोधिनी' की भाँति ही इस व्याख्या में भी किया गया है।

परवैराग्य – यह वैराग्य अपरवैराग्य से श्रेष्ठ वैराग्य माना गया है[3]। यह वैराग्य कैवल्यदायक होता है तथा इसवैराग्य में ही प्रकृति पुरुष का विवेकज्ञान हो जाता है जिससे गुणों के प्रति वितृष्णा उत्पन्न होने पर साधक को गुणों से वैराग्य हो जाता है।

- -

1- " तत्रतयोर्मध्ये तस्मिन् परात्मनि सच्चिद्रूप वृत्ति वा स्थितिरेकाग्रता तदर्थं प्रयत्न उत्साहसाहसधैर्याध्यात्मविद्याध्ययन महतसेवनयमनियमाद्यनुष्ठानलक्षणोऽभ्यास इत्यर्थः।"
– योगसिद्धान्तचन्द्रिका पृ0 16।

2- " सोऽभ्यासो दीर्घकालं नैरन्तर्येण विधिवद्श्रद्धासत्कारेणसेवितो दृढ़भूमिर्दृढ़संस्कारः सन्। व्युत्थानसंस्कारैरनभिभवेन स्थितौ समर्थो भवतीत्यर्थः।"
– वही पृ0 17।

विवेकज्ञान अर्थात् तत्त्वज्ञान के मुख्य उपाय अभ्यास और वैराग्य हैं। अतः विवेकज्ञान के साधनों का पुनः-पुनः अनुष्ठान ही अभ्यास है[1]। 'अभ्यास' की विशद व्याख्या इस प्रकार से की गयी है – चित्त की स्थिति के लिए प्रयत्न करना अभ्यास है। चित्त की स्थिति क्या है ? इसका विवेचन करते हुए लिखते हैं – चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाने के उपरान्त निरुद्धवृत्तिक शान्त चित्त ही चित्त की वास्तविक "स्थिति" है। चित्त की यह 'स्थिति' चित्त की 'एकाग्र' और 'निरुद्ध' भूमियों में होती है[2]। इस स्थिति के लिए योग के साधनों का अनुष्ठान ही अभ्यास है। यमनियमादि योग के साधन हैं जिनके अभ्यास द्वारा चित्त वृत्तियों का निरोध होता है और चित्त स्थिर होता है। इन साधनों का अभ्यास, जब निरन्तर श्रद्धापूर्वक नियमपूर्वक, तपस्या और विद्या के साथ अर्थात् ज्ञान के साथ आदरातिशय के साथ किया जाता है तब वह अभ्यास सुदृढ़[3] होता है अर्थात् ऐसा अभ्यास व्युत्थान-संस्कारों के द्वारा अभिभूत नहीं होता है।

अपरवैराग्य – चित्तवृत्ति-निरोध का दूसरा उपाय वैराग्य है। वैराग्य के दो भेदों का उल्लेख सूत्रकार ने किया है, अपरवैराग्य और परवैराग्य। अपरवैराग्य में लौकिक और अलौकिक विषयों के प्रति वैराग्य हो जाता है।

- -

1 - " विवेकस्य साधनानामपि पुनः पुनरनुष्ठानमभ्यासः ।"

— भास्वती पृ0 45 ।

2 - " अवृत्तिकस्य = निरुद्ध वृत्तिकस्य चित्तस्य या प्रशान्तवाहिता निरुद्धावस्थायाः प्रवाहः सा हि मुख्या स्थितिः, तदनुकूलैकाग्रावस्थाऽपि स्थितिः ।"

— वही पृ0 46 ।

3 - " दीर्घकालं यावत् आसेवितः = अनुष्ठितः, निरन्तरं = प्रत्यहं प्रतिक्षणमासेवितः, तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया च सम्पादितः सत्कारवानभ्यासः = सत्कारासेवितः, - - - - तथाभूतोऽभ्यासो दृढभूमिर्भवति, व्युत्थानसंस्कारेण न द्राक् = सहसाऽभिभूयत इति ।"

— वही पृ0 46 ।

जितने भी दृष्ट अर्थात लौकिक विषय हैं तथा अदृष्ट अर्थात अलौकिक विषय हैं उनके प्रति चित्त का आकर्षण बना रहना अवैराग्य है और जब इन दोनों प्रकार के विषयों के प्रति चित्त में वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है तब वैराग्य हो जाता है । अपरवैराग्य के कई भेदों का उल्लेख प्राप्त है यथा — यतमानसंज्ञक-वैराग्य, व्यतिरेकसंज्ञक-वैराग्य, एकेन्द्रिय और वशीकार-संज्ञक-वैराग्य ।

इनमें से पूर्ण वैराग्य की स्थिति का निरूपण वशीकार-संज्ञक वैराग्य में ही होता है अतः वशीकारसंज्ञक वैराग्य को अन्य वैराग्यों की अपेक्षा अधिक उपयोगी माना गया है । इस संदर्भ में इन सभी वैराग्यों का स्वरूप वर्णनीय है । राग को उखाड़ फेंकने की चेष्टा को यतमानसंज्ञक वैराग्य कहा गया है, कितने विषयों के प्रति वैराग्य हो चुका है, अब और कितने शेष रह गए हैं, इस प्रकार की अवधारणा करते हुए वैराग्य में लगे रहना 'व्यतिरेकसंज्ञक' वैराग्य है, राग के क्षीण हो जाने पर उत्सुकतापूर्वक मन में स्थापित हो जाना एकेन्द्रियसंज्ञक वैराग्य है, जब एकेन्द्रियसंज्ञक राग का नाश हो जाता है तब वशीकार-संज्ञक वैराग्य हो जाता है[1] । वशीकारसंज्ञक वैराग्य के उत्पन्न होने पर साधक के चित्त में विवेकी और प्रकृतियों की प्राप्ति तथा अन्य भी दिव्य - भविष्य वस्तुओं के प्रति अनाभोगात्मिका प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे वह इन सभी पदार्थों एवं उपलब्धियों को क्षणिक तुच्छता को देखकर उनको तुच्छ मानकर विरक्त हो जाता है[2] । यही वैराग्य अपरवैराग्य के नाम से जाना जाता है ।

- -

1 - " रागोत्पाटनाय चेष्टमानता यतमानम्, केषुचिद्विषयेषु विरागाः सिद्धाः केषु विरागः साध्य इति यत्र व्यतिरेकेणावधारणं तद् व्यतिरेकसंज्ञकम्, ततः परं यदेकेन्द्रिये मनस्यौत्सुक्य मात्रेण क्षीणो रागस्तिष्ठति तदेकेन्द्रियेण तादृश्यापि रागस्य नाशाद् वशीकारः सिद्ध्यतीति ।"

— भास्वती पृ0 47 ।

2 - " तुच्छताख्यातिमती, हेयोपादेयशून्येत्यर्थः । वैतृष्ण्यावस्था वशीकारसंज्ञा, तच्चापरं वैराग्यम् ।"

— वही पृ0 48 ।

परवैराग्य — जब विवेकख्याति द्वारा पुरुष और प्रकृति का भेदज्ञान हो जाता है तब यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी लौकिक और अलौकिक विषय गुणों के ही व्यक्त रूप हैं। अतः विवेकख्यातिलब्ध साधक को इन सबके मूलकारण गुणों के प्रति वैराग्य हो जाता है। गुणों के प्रति वैराग्य का होना ही परवैराग्य है। परवैराग्य की स्थिति में साधक का चित्त रजोगुण तथा तमोगुणयुक्त वृत्तियों से हीन होकर केवल पुरुषख्याति में लीन हो जाता है[1] इस अवस्था में चित्त के समस्त कषाय समाप्त हो चुके रहते हैं और साधक को केवल पुरुष के स्वरूप का ज्ञान होता रहता है। इस प्रकार की ज्ञानात्मक स्थिति को ही 'परवैराग्य' की संज्ञा दी गयी है। परवैराग्य को ज्ञान की पराकाष्ठा भी कहा गया है क्योंकि ज्ञान की अन्तिम सीमा 'पुरुषख्याति' है। इस वैराग्य में ही यह ख्याति होती है अतः पर वैराग्य को ज्ञान की पराकाष्ठा कहना सर्वथा उचित है।[2]

- -

1 - "तत् यदुत्तरं परवैराग्यं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम् = ज्ञानस्य यः प्रसादस्तत्परमोत्कर्षो रजोलेशमलरहितता, अतएव सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रता।"

— भास्वती पृ0 50।

2 - "एवं ज्ञानस्य पराकाष्ठा वैराग्यं, नान्तरीयकम् = अविनाभावि।"

— वही पृ0 50

चित्तवृत्तियों का निरोध विवेकज्ञान तथा चित्त की अत्यन्तएकाग्रता द्वारा होता है । ये दोनों अभ्यास और वैराग्य द्वारा ही चित्तवृत्ति निरोध करने में समर्थ होते हैं । अतः अभ्यास और वैराग्य विवेकज्ञान और चित्त की आत्यन्तिक एकाग्रता के प्रयोजक हैं[1] । इन दोनों में से पहले अभ्यास का स्वरूप द्रष्टव्य है । संप्रज्ञात समाधि की अवस्था में चित्त आत्यन्तिक रूप से एकाग्र और शान्त रहता है । चित्त की इस एकाग्रता और शान्ति को दृढ़ करने के लिए इन अवस्थाओं के अनुकूल प्रयत्न ही "अभ्यास" है[2] ।

चित्त-वृत्तियों के निरोध तथा वृत्तियों के संस्कारों का निरोध करने के लिए समाधि की दृढ़ता अनिवार्य है । अतः अनेकों संस्कारों का क्षय करने के लिए समाधि की दीर्घकालीनता अपेक्षित है । चित्त पुनः-पुनः अभ्यास द्वारा ही स्थिर होता है अतः समाधि की दृढ़ता के लिए, दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक अभ्यास का आसेवन वांछनीय है । सत्कार का अर्थ 'श्रद्धा' और 'आदर' इस व्याख्या में किया गया है ।

वैराग्य :- दृष्ट-अदृष्ट विषयों में राग का अभाव होना ही वैराग्य है । इसके दो भेद किए गए हैं । (1) अपरवैराग्य (2) परवैराग्य । अपरवैराग्य के पुनः तीन भेद किए गए हैं । यतमानसंज्ञक वैराग्य, व्यतिरेकसंज्ञक वैराग्य और एकेन्द्रिय-संज्ञक वैराग्य । पर-वैराग्य केवल एक प्रकार का होता है वह है वशीकारसंज्ञकवैराग्य ।

- -

1- " चित्तवृत्तिनिरोधं प्रति विवेकज्ञानम् अत्यन्तैकाग्रचित्तावस्था चेत्युभयं प्रयोजकम् तत्र चोभयेऽस्त्वभ्यासौ वैराग्यश्चेत्युभयं क्रमशः प्रयोजकमिति ।"

— स्वामिनारायणभाष्य पृ0 80 ।

2 - " तादृशशान्तिमयैकाग्रतावस्थाया दृढीकरणाय पुनः पुनरेकाग्रतावस्थानुकूलः प्रयत्नएव अभ्यास-पदवाच्यः ।"

— वही पृ0 80 ।

कामक्रोधादिककषायों से रागयुक्तचित्त की इन्द्रियाँ जिन-जिन विषयों में प्रमित होती रहती हैं, उनकी इस प्रवृत्ति को रोकने का प्रारम्भिक प्रयत्न यतमानसंज्ञक वैराग्य है[1]। कितने चित्तकषाय नष्ट हो चुके हैं कितने अभी अवशिष्ट हैं इस प्रकार के कषायों का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त उन्हें भी नष्ट करने के हेतु प्रयत्न करना व्यतिरेकसंज्ञकवैराग्य है[2]। सभी चित्त कषायों के नष्ट हो जाने पर और इन्द्रियों के शिथिल, असमर्थशील हो जाने के उपरान्त मन में ही विद्यमान रहते हुए तथा कुछ समय पश्चात् मन के प्रति भी वैराग्य की भावना होने पर एकेन्द्रियसंज्ञकवैराग्य होता है[3]। उक्त तीनों वैराग्यों में लौकिक-अलौकिक विषयों के प्रति तृष्णा का अभाव कथंचित् ही रहता है अतः इन वैराग्यों को अपरवैराग्य नाम दिया गया है।

- -

1 - " यतमानसंज्ञको यथा 'कामक्रोधादिकषाया रागयुक्तस्यापि चित्तवर्तिनो यथास्वं विषयेष्विन्द्रियाणि प्रेरयन्ति तन्मा प्रवर्तिषत विषयेष्विन्द्रियाणीति रागादिपरिपाचनाय प्रारम्भितप्रयत्नो यतमानसंज्ञकवैराग्यः।"

— स्वामिनारायण भाष्य पृ० 82।

2 - " इत्थं पक्वेभ्योऽपक्वानां व्यतिरेकेणाऽवलोकनमनुसन्धायाऽपक्वानां परिपाचनायऽनुष्ठितप्रयत्नो व्यतिरेकसंज्ञक वैराग्य इति।"

— वही पृ० 82।

3 - " सर्वेषु चित्तकषायेषु पक्वेषु बहिरकाऽसामर्थ्येनेन्द्रियाणां प्रवृत्त्यसम्भवेऽपि पक्वासु मनस्येव स्वकस्थाऽवस्थानमात्रेण तिरोभावतया सूक्ष्मत्वेन संस्थिताः सन्तो मनस्येव विषयोत्सुक्यसम्पादका भवन्ति येन मनस्येवाङ्कुरसमो विषयाऽभ्यासो भवति तस्यापि विलयाय कृतप्रयत्नः एकेन्द्रियसंज्ञक वैराग्यो।"

— वही पृ० 82।

परवैराग्य :- वशीकारसंज्ञक वैराग्य को ही इस व्याख्या में 'परवैराग्य' कहा गया है इस वैराग्य में लौकिक और अलौकिक विषयों के प्रति आत्यन्तिक वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है फलस्वरूप सुख, दुःख और मोहसंज्ञक त्रिगुणों के प्रति भी वैराग्य हो जाता है इसके अतिरिक्त बुद्धि जिसका स्वरूप त्रिगुणात्मक हो है उसके प्रति भी दुःखदृष्टि होने के कारण बुद्धि के प्रति भी वैराग्य हो जाता है । इस प्रकार विषयों से सम्पर्क बनाने वाले साधन 'बुद्धि' तथा त्रिगुणात्मक विषयों के प्रति आत्यन्तिक वैराग्योदय के कारण इस वैराग्य को परम वैराग्य कहा गया है[1]। परवैराग्य का उदय होने पर साधक अपने स्वच्छ आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है और अन्त में परम् कैवल्य को प्राप्त कर जीवन्मुक्त हो जाता है ।

- -

1 . " चतुर्थे वैराग्ये तु - लौकिकालौकिकविषयतृष्णात्यन्ताभावेऽपि सुखदुःख मोहसंज्ञकेषु बुद्ध्यात्मकत्रिगुणेष्वपि तृष्णाया अभावः । बुद्धावपि दुःखदृष्टिरिति, अतः चतुर्थः परमो वैराग्य इति । "

— स्वामिनारायणभाष्य पृ0 82 ।

सम्प्रज्ञातसमाधि

व्यासभाष्य

'चित्त की वृत्तियों का निरोध 'योग' है' । इस परिभाषा के अनुसार संप्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधियाँ दोनों ही 'योग' कही जा सकती हैं । सम्प्रज्ञातयोग में चित्त के क्लेश, कर्मादि का निरोध होता है[1] । सम्प्रज्ञातसमाधि निरोधरूप असम्प्रज्ञात-समाधि को अभिमुख करती है ।

सम्प्रज्ञातसमाधि -- सम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त की राजस और तामस वृत्तियों का निरोध हो जाता है । केवल चित्त की सात्त्विकवृत्ति शेष रह जाती है । चित्त की एकाग्रभूमि में ही राजस और तामस वृत्तियों का निरोध होता है, अतः एकाग्र भूमि में हुआ वृत्तिनिरोध ही सम्प्रज्ञातसमाधि है । सम्प्रज्ञातसमाधि क्लेशों को नष्ट करती है और असम्प्रज्ञातसमाधि को सम्मुख लाती है । इस समाधि में साधक को अपने ध्येय का सम्यक्ज्ञान या संप्रज्ञान प्राप्त होता है । अतः इस समाधि का नाम 'सम्प्रज्ञात' समाधि है । सम्प्रज्ञातसमाधि की सिद्धि चार क्रमिक सोपानों में होती है । (1) वितर्कानुगत, (2) विचारानुगत, (3) आनन्दानुगत और (4) अस्मितानुगत ।

वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि में साधक का चित्त स्थूलभूतों के आकार से पूर्णतया आकारित रहता है । उसे उन स्थूल पदार्थों का पूर्ण तथा वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता रहता है । चित्त की इस स्थिति का नाम वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि है[2] ।

---

1 - "यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते ।"

— व्यासभाष्य पृ0 1 ।

2 - "वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः ।"

— वही पृ0 54 ।

विचारानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त सूक्ष्मपंचतन्मात्राादि के आकार से पूर्णतया आकारित रहता है । आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त एकाग्रता आनन्दस्वरूपवृत्तियों के आकार से पूर्णतया अनुगत हो जाता है । अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में साधक को पुरुषप्रतिबिम्बयुक्त बुद्धि रूप अस्मितातत्त्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता रहता है । इनमें प्रथमसमाधि बाद की तीनों समाधियों से युक्त होती है, द्वितीय अपने बाद की दो समाधियों से युक्त, तृतीय अपने बाद एक समाधि से युक्त और चतुर्थ केवल अपने आप में रहती है । यह सभी समाधियाँ सालम्बन होती हैं ।[1]

तत्त्ववैशारदी

सम्प्रज्ञातसमाधि चित्त की एकाग्र भूमि में होती है । यह समाधि अविद्यादि क्लेश तथा कर्मरूपी बन्धनों को शिथिल कर असम्प्रज्ञातसमाधि को सम्मुख करती है । सम्प्रज्ञातसमाधि के चार क्रमिक सोपान हैं । (1) वितर्कस्वरूपानुगत (2) विचारस्वरूपानुगत (3) आनन्दस्वरूपानुगत (4) अस्मितास्वरूपानुगत ।

स्वरूपसाक्षात्कारवती प्रज्ञा आभोग है । स्थूल विषयों का साक्षात्कार प्राप्त होने पर चित्त का पूर्ण रूप से स्थूल विषय के आकार का हो जाना वितर्क-स्वरूपानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि है । चित्त का सूक्ष्म तन्मात्राओं के आकारसे आकारित होते

- -

1 - " सर्व एते सालम्बनाः समाधयः ।"

— व्यासभाष्य पृ0 54 ।

रहना विचारस्वानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि है[1]। सत्त्वप्रधान अहंकार से उत्पन्न ज्ञानेन्द्रियाँ ही सुखरूप हैं इसलिए ज्ञानेन्द्रियों में चित्त का आभोग या तदाकाराकारित होना आनन्दस्वानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि है[2]। बुद्धि में उपस्थित पुरुष प्रतिबिम्ब ही 'अस्मितातत्त्व' है। जब सम्प्रज्ञातसमाधि काल में चित्त उक्त अस्मिता-तत्त्व के आकार से पूर्णतया अनुगत होता रहता है, तब 'अस्मितास्वानुगत' सम्प्रज्ञातसमाधि होती है[3]।

राजमार्तण्डवृत्ति

संशय और विपर्यय से रहित होकर सम्यक् प्रकारेण ध्येय के स्वरूप का प्रकृष्ट ज्ञान जिस समाधि में होता है वह सम्प्रज्ञात समाधि है[4]। सम्प्रज्ञातसमाधि के चार भेद हैं। सवितर्क, सविचार, आनन्द और सास्मित।

जब स्थूल विषय जैसे पंचमहाभूत तथा स्थूल इन्द्रियों के पूर्वापर अनुसंधान द्वारा तथा शाब्दिक और आर्थिक विश्लेषण द्वारा उनके बारे में ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उक्त तत्त्व में भावना की जाती है तब उन पदार्थों का साक्षात्कार होने लगता है। यही सवितर्क समाधि है[5]। तन्मात्राओं तथा

- -

1 - " एवं चित्तस्यालम्बने सूक्ष्म आभोगः स्थूलकारणभूतसूक्ष्मपंचतन्मात्र लिंगालिंग विषयो विचारः।" — त0वै0पृ0 54।

2 - " इन्द्रिये स्थूलालम्बने चित्तस्याभोगोऽह्लाद आनन्दः।" — वही पृ0 54।

3 - " अस्मितामयत्वानीन्द्रियाणि। तेनैवमस्मिता सूक्ष्मं रूपम्। सा चात्मना ग्रहीत्रा सह बुद्धिरेकात्मिका संवित्।" — वही पृ0 55।

4 - " सम्यक्संशयविपर्ययरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्य स्वरूपं येन स संप्रज्ञातः।" — रा0मा0वृ0 पृ0 40।

5 - " यदा महाभूतेन्द्रियाणि स्थूलानि विषयत्वेनाऽऽदाय पूर्वापरानुसंधानेन शब्दार्थोल्लेख संभेदेन च भावना क्रियते तदा सवितर्कः समाधिः।"
— वही पृ0 41।

अन्तःकरण रूप सूक्ष्मविषय को आलम्बन मानकर देश, काल और धर्म सहित जब भावना की जाती है तब सविचार-समाधि होती है[1]। जब चित्त रजोगुण और तमोगुण से रहित होकर सात्त्विक रूप में भावना करता है तब सत्त्वप्रकाशसम्पन्न चितिशक्ति के ध्यान से चित्त 'आनन्द' को प्राप्त होता है। इस समय की समाधि को 'सानन्द' समाधि कहा गया है[2]। व्याख्याकार भोज ने 'महत्तत्त्व' को 'अस्मिता' माना है। जब चित्त की रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब चित्त में केवल सात्त्विकवृत्तिशेष रह जाती है। इस शुद्धसत्त्वगुण के प्रकाश से प्रकाशितचित्त में जब केवल महत्तत्त्व की ही सत्ता आलम्बनरूप से रह जाती है, तब इस सम्प्रज्ञातसमाधि को सास्मित-सम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं[3]। सास्मित-सम्प्रज्ञात समाधि काल में चित्त में केवल पुरुष का प्रतिबिम्ब ही अवभासित होता रहता है[4]।

- -

1 - "अन्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मविषयमालम्ब्य तस्य देशकालधर्मावच्छेदेन यदा भावनां प्रवर्तते तदा सविचारः।" रा0मा0 वृ0 पृ0 41।

2 - "यदा तु रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते तदा गुणभावाच्चितिशक्तेः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात् सानन्दः समाधिर्भवति।"
— वही पृ0 41।

3 - "ततः परं रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धसत्त्वमालम्बनीकृत्य या प्रवर्तते भावना तस्यां ग्राह्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भावात् चितिशक्तेरुद्रेकात् सत्तामात्रावशेषत्वेन समाधिः सास्मित इत्युच्यते।"
— वही पृ0 41।

4 - "न चाहङ्कारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः यतो यत्रान्तःकरणमहमित्युल्लेखेन विषयान् वेदयते सोऽहङ्कारः यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामे प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमवभाति साऽस्मिता।"
— वही पृ0 41।

विवरण

सम्प्रज्ञातसमाधि चित्त की एकाग्र भूमि में होती है। यह ध्येयभूत अर्थों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराती है और अविद्यादि क्लेशों, कर्म से उत्पन्न जन्मादि बन्धन को शिथिल करती है और निरोध रूप असम्प्रज्ञात-समाधि को अभिमुख करती है।[1] वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मिता-रूपानुगत के भेद से सम्प्रज्ञातसमाधि के चार भेद किए गए हैं। यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि 'रूप' शब्द का प्रयोग इन्होंने केवल 'अस्मितारूपानुगत' समाधि के साथ ही किया है, पूर्वोक्त तीन समाधियों के साथ 'रूप' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। 'रूप' शब्द यहाँ 'मात्रा' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2]

यहाँ चारों प्रकार की सम्प्रज्ञात समाधियों का उल्लेख किया जा रहा है। जब चित्त स्थूल आलम्बन के आकार से आकारित हो जाता है तब वितर्कानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि होती है। जब सूक्ष्म आलम्बन का आभोग अथवा साक्षात्कार चित्त को होता है तब विचारानुगत-सम्प्रज्ञात-समाधि होती है। जब विचारानुगत से भी सूक्ष्म आलम्बन का आभोग होता है तब आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि होती है। यद्यपि आनन्दानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि भी सूक्ष्मविषयक होती है परन्तु इस समाधि में, पूर्व की

- -

1 - " एकाग्रता भूमेः समाधिर्यः स भूतमर्थं यथास्थानं प्रद्योतयति अवगमयति । - - - - - क्षिणोति, क्षपयति पंचपर्वणोऽविद्यादीन् क्लेशान् । कर्मबन्धनानि, कर्मैव बन्धनानि, धर्माधर्मौ यैः कर्मजातानि जन्मादि निबन्धनानि श्लथयति, शिथिली करोति निरोधमभिमुखी करोति ।"

विवरण पृ० 8 ।

2 - " वितर्कानुगमाद्विचारानुगमादानन्दानुगमादस्मितारूपानुगमादिति । रूपान्तो मात्रार्थो वितर्कादिषु सर्वत्र संबन्धनीयः ।"

— वही पृ० 47 ।

समाधि की तुलना में एक वैशिष्ट्य निहित है और वह है आनन्द का आभासित होना[1]। चौथी और अन्तिम सम्प्रज्ञात-समाधि है, 'अस्मितारूपानुगत'- सम्प्रज्ञातसमाधि। 'अस्मिभावोऽस्मिता' इति मानते हुए विवरणकार ने अस्मिता शब्द को अहंकार' के अर्थ में लिया है। जब अहंकार मात्र ही चित्त में भासित होता है तब, 'अस्मिता-रूपानुगत' सम्प्रज्ञात समाधि होती है[2]। इस समाधि में, 'अहंकारमात्र' ही केवल भासित होता है अतः इस समाधि के साथ 'रूप' शब्द का प्रयोग किया गया है। इन चारों समाधियों में से प्रथम समाधि बाद की तीनों समाधियों से अनुगत रहती है। दूसरी अपने बाद की दो समाधियों से और तीसरी समाधि अपने बाद की ऊपर समाधि से अनुगत रहती है और अन्तिम अर्थात चौथी समाधि केवल अपने रूप मात्र से अनुगत रहती है। अतः चौथी सम्प्रज्ञात समाधि के साथ 'रूप' शब्द का प्रयोग उसके स्वरूप के अनुसार विवरणकार ने ठीक ही किया है[3]।

- -

1 - " आनन्दो ह्लादः विचारः सूक्ष्मतर आभोगस्तृतीयः।"

— विवरण पृ0 47 ।

2 - " एकरूपात्मिका संविदस्मिता यथार्थं प्रकृतावस्मितायां समापन्नस्य अस्मिता प्रत्ययमात्रता एकरूपात्मकत्वम्।"

— वही पृ0 47 ।

3 - " तत्र पूर्वः पूर्वः स्वकीयोत्तरोत्तरधर्मानुगतः। परः परस्तु पूर्वपूर्वधर्मविकलः।"

— वही पृ0 48 ।

योगवार्तिक

सम्प्रज्ञातसमाधि चित्त की एकाग्रभूमि में होती है । इस समाधि में ध्येयवस्तु के परमार्थतः सत्यस्वरूप का साक्षात्कार होता है । यह समाधि अविद्यादि पाँचों क्लेशों को नष्ट करती है तथा धर्म-अधर्म रूप कर्माशयों को जिनसे बुद्धि और पुरुष का संयोग होता है शिथिल कर देती है । सम्प्रज्ञातसमाधि ही निरोध रूप असम्प्रज्ञातसमाधि को सम्मुख करती है । इस प्रकार सम्प्रज्ञातयोग का संक्षिप्त वर्णन यह है कि जिस समाधि में ध्येय के स्वरूप का सम्यक्प्रकारेण ज्ञान हो अर्थात साक्षात्कार हो, उसे सम्प्रज्ञातयोग कहते हैं । सम्प्रज्ञातयोग के चार सोपानों का वर्णन वार्तिककार ने भी किया है । तत्त्ववैशारदीकार ने इन चारो नामों में 'रूप' शब्द का प्रयोग किया है यथा-वितर्करूपानुगत, विचाररूपानुगत, आनन्दरूपानुगत, और अस्मितारूपानुगत । वार्तिककार इस 'रूप' शब्द के प्रयोग को अनावश्यक एवं प्रामादिक कह कर इसकी उपेक्षा करते हैं । उनका कहना है कि " आनन्दरूपानुगमादिति पाठः प्रामादिकत्वादुपेक्षणीयः भाष्ये वितर्क-विचारः सविचार इत्यादि प्रयोगेषु रूप-पदाप्रयोगात् । " -- यो०वा०पृ० 52 ।

योनिज, विराट्, चतुर्भुजादि पदार्थों में से किसी भी एक को आलम्बन रूप में लेकर उसमें एकाग्रचित्त होकर भावना करनी चाहिए । यहाँ स्मरणीय है कि चारो सम्प्रज्ञातसमाधियों में आभोग के लिए अर्थात परिपूर्ण ज्ञान के लिए चित्त की एकाग्रता अनिवार्य है । इसके अतिरिक्त एक ही आलम्बन के स्थूल सूक्ष्म पहलुओं का आभोग होता है । स्थूल का आभोग जिस समाधि में होता है उसे वितर्कानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि कहा गया है । इसमें धारणा ध्यान और समाधि द्वारा

- -

1 - " स्थूलाकारस्यात्स्थूल आभोगः परिपूर्णता, स्थूलयोर्मूर्तीन्द्रिययोरदृष्टा श्रुतामताशेष विशेषसाक्षात्कारः सवितर्क इत्यर्थः ।"

" विशेषेण तर्कणमवधारणं वितर्कस्तेनानुगतो युक्तो निरोधो वितर्कानुगत नाम योग इति भावः । " यो०वा०पृ० 55, 56 ।

चित्त स्थूल विषय का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है । पुनः धारणाध्यान और समाधि द्वारा उसी आलम्बन में स्थित सूक्ष्मतन्मात्राओं का आभोग प्राप्त करने पर जो समाधि होती है, उसे विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं[1]। विज्ञानभिक्षु का सिद्धान्त आनन्दानुगत के संबन्ध में वाचस्पति मिश्र से भिन्न है । वाचस्पतिमिश्र ने "सत्त्वप्रधान अहंकार से उत्पन्न इन्द्रियाँ सुखरूप हैं" ऐसा माना है । वार्त्तिककार ने इसका खण्डन किया है और लिखा है कि इन्द्रियाँ स्थूल हैं अतः स्थूल का आभोग तो वितर्कानुगत में ही आ गया । पुनः आनन्दानुगत में उनका ग्रहण करना दोषपूर्ण है । इनकी दृष्टि में इस समाधि का आलम्बन वह 'सुख' होता है जो उसी ध्येय विषय के स्थूल और सूक्ष्मरूपों का साक्षात्कार करने से स्वतः अनुभूत होता है इस सुखविशेष का आभोग होने पर आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञात समाधि होती है[2]। पुरुष और बुद्धि की एक रूपता को इन्होंने 'अस्मिता' माना है । जब चित्त ध्येय रूप में केवल आत्मा का साक्षात्कार करता है, तब अस्मितानुगत-समाधि होती है । उक्त सभी समाधियाँ सालम्बन होती है । क्रम से वितर्क विचारों से युक्त, विचार वितर्क रहित और बाद वालों से युक्त, इसी प्रकार अन्य भी अपने पूर्व से वियुक्त तथा पश्चात् से युक्त होती चलती हैं[3]।"

- -

1 - " सूक्ष्मविचार इति । तत्रैवालम्बने कारणत्वादिनाऽनुगता ये प्रकृतिमहदहङ्कार-पञ्चतन्मात्ररूपा भूतेन्द्रिययोः सूक्ष्मा अर्थास्तदाकार स्तात्स्वरूपो यश्चित्तस्याभोगः सूक्ष्मगता-विशेषसाक्षात्कारः स विचार इत्यर्थः ।"

यो०वा० पृ० 56

2 - " तथा तेष्वेवाकारसत्त्वादिन्द्रियेष्वो यश्चित्तस्याभोगः ।साक्षात्कारः स आनन्द इत्यर्थ' भवति ।" — वही पृ० 56 ।

3 - " या चित्तस्य केवलपुरुषाकारा संवित् साक्षात्कारोऽस्मीत्येतावन्मात्रा कारत्वाद-स्मितेत्यर्थः । — - - तेनानुगतो युक्तो निरोधोऽस्मिता युक्तनामा योगश्चेति भावः । "

— वही पृ० 56 ।

योगदीपिका

सम्प्रज्ञातसमाधि में ध्येय विषय का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है । सम्प्रज्ञातसमाधि के वार्तिककारानुसार चार भेद किए गए हैं । (1) वितर्कानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि (2) विचारानुगत (3) आनन्दानुगत और (4) अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि । चित्त की राजस, तामस वृत्तियों का निरोध हो जाने के उपरान्त किसी भी स्थूलपदार्थ को ध्येय मानकर पहले उसे ध्येय के स्थूलरूप का विशेष साक्षात्कार प्राप्त किया जाता है । किसी भी पदार्थ का स्थूल रूप भूतेन्द्रियात्मक होता है । अतः यदि चतुर्भुजादि रूप ध्येय को आलम्बन माना जाता है तो उसके स्थूलरूप का बोध अर्थात् पूर्णसाक्षात्कार वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है[1] । पुनः उसी ध्येय के सूक्ष्मरूप का परिपूर्ण साक्षात्कार प्राप्त करने पर विचारानुगत-सम्प्रज्ञात-समाधि होती है[2] । प्रकृति, महत्, अहंकार और तन्मात्राएँ ही किसी भी स्थूल पदार्थ के सूक्ष्मकारण हैं । इन सूक्ष्मपदार्थों का परिपूर्णसाक्षात्कार प्राप्त होने पर ही विचारानुगत-समाधि होती है ।

जब उक्त आलम्बन के चौबीसों तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान हो जाता है तब सभी विषय सुखों के प्रति वैराग्य हो जाता है । इस वैराग्य के होने पर चित्त को सुख नहीं प्रत्युत आनन्द की प्राप्ति होती है, इस समय के आनन्द से अनुगत

- -

1- " एकस्मिन्नेव चतुर्भुजादिविग्रहाभिव्यक्तसमष्टिसर्वात्मकस्थूलालम्बने चतुर्विधः सम्प्रज्ञातः क्रमेण भवति । तत्र भूतेन्द्रिययोरद्भुतसमस्तविशेषसाक्षात्कारो वितर्क परिभाषा ।"

— योगदीपिका पृ0 13 ।

2- " सूक्ष्मद्रव्यतद्गुणादिविशेषसाक्षात्कारे विचारसंज्ञा । तेन च फलेनोपहितचित्तवृत्तिनिरोधो विचारानुगतः ।"

— वही पृ0 13 ।

समाधि को ही आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि कहा गया है[1]। आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञात समाधि में स्थित चित्त का योगजसिद्धियों से प्राप्त उपलब्धियों के प्रति भी वैराग्य हो जाता है। उसी आलम्बन में जब जीवेश्वररूप पुरुष का ही साक्षात्कार होता है तब अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि होती है[2]।

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

'ग्राह्य' के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान जिस समाधि में होता है उस समाधि को सम्प्रज्ञातसमाधि कहते हैं। नागोजीभट्ट ने सम्प्रज्ञातसमाधि के भोजराजानुसारी चार भेद स्वीकार किए हैं। सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित। सम्प्रज्ञातसमाधि के इन चारों भेदों का उल्लेख भावना के क्रमिक विकास को ध्यान में रखते हुए किया गया है। सबसे पहले साधक ग्राह्य के 'स्थूल' रूप का साक्षात्कार प्राप्त करता है। स्थूलरूप का साक्षात्कार प्राप्त करने वाली समाधि को सवितर्क-सम्प्रज्ञातसमाधि कहा गया है[4]। इस समाधि में साधक को साधना के आलम्बन रूप के स्थूलरूपों तथा महाभूतेन्द्रिय का ओष विशेष ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस ज्ञान में ग्राह्य के अतीत, अनागत और वर्तमान कालिक गुणधर्मों का ज्ञानशब्दार्थ के द्वारा होता है। सम्प्रज्ञातसमाधि के ही सवितर्क और निर्वितर्क नामक भेद भी हैं जिनका उल्लेख समापत्तियों के क्रम में किया गया है।

- -

1 - " तथा तत्रैवालम्बने यत्किंचिदाशितत्वानुगतः सुखरूपः पुरुषार्थोऽस्ति तद्गतदोषविशेषसाक्षात्कारे आनन्दसंज्ञा। तेन च फलेनोपहितैतत्सवृत्तिनिरोध आनन्दानुगतः।" — योगदीपिका पृ० 13।

2 - " तथा तत्रैवालम्बने जीवेश्वररूपं यत्पुरुषतत्त्वमस्ति तदन्यतरस्यापि विशेषसाक्षात्कारे अस्मितासंज्ञा।" — योगदीपिका पृ० 13।

3 - " सम्यक् संशयविपर्ययरहितेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्वरूपं येन स संप्रज्ञातसमाधिः भावनाविशेषः। स सवितर्कः सविचारः सानन्दः सास्मितश्च।"
— पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ० 14।

4 - " तत्रालम्बने स्थूलयोर्महाभूतेन्द्रिययोर्विद्यमानानामशेषविशेषाणामतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टानां गुणदोषाणामदृष्टाश्रुतामतानामपि पूर्वापरानुसंधानेन शब्दार्थोल्लेखेन च भावनया यः साक्षात्कारः स वितर्क इत्युच्यते।" — वही पृ० 14।

जब उसी आलम्बन में उसके स्थूल ज्ञान को त्यागकर, आलम्बन के सूक्ष्म कारण का धारणाविषय द्वारा सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है तब सविचार सम्प्रज्ञात-समाधि होती है[1]। तन्मात्राएँ, अहंकार और प्रकृति ये भूतेन्द्रियों के सूक्ष्म कारण हैं जिनका सम्यक्ज्ञान इस समाधि में प्राप्त होता है। इस समाधि के भी दो भेदों सविचारा और निर्विचारा का उल्लेख समापत्तियों के वर्णन में किया गया है।

उसी आलम्बन में पूर्वकृत स्थूल, सूक्ष्म को त्याग कर दोषरहित तत्वों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद जो सुख होता है उसे आनन्द कहा गया है। आनन्द की अवस्था में ज्ञान और ज्ञेय में अभेद हो जाता है और ज्ञाता सानन्द सम्प्रज्ञात समाधि में स्थित हो जाता है। सानन्द सम्प्रज्ञातसमाधि में सात्त्विकआनन्द की उपलब्धि होती है। किसी भी प्रकार के विषयसुखों के प्रति तथा योगजसिद्धियों से प्राप्त उपलब्धियों के प्रति कोई मोह या लोभ नहीं होता। इन विषयसुखों तथा योगजसिद्धियों से प्राप्त सुखों के प्रति वैराग्य हो जाने से मन को जो सन्तोष सुख मिलता है यथार्थतः वही आनन्द है[2]।

जब आनन्द के प्रति भी दोषदृष्टि हो जाती है तब साधक पुरुष के वास्तविक रूप का ध्यान करता है। पुरुष के यथार्थ रूप के आकार से आकारित हो जाना

- -

1- "तत्रस्मिन्नेवालम्बने दोषदर्शनेन स्थूलाकारवृत्तिं त्यक्त्वा कारणतेनानुगता ये तन्मात्राहंकार प्रकृतिरूपा भूतेन्द्रिययोः सूक्ष्मा अर्थास्तेषु क्रमेण धारणाविषयेण यस्त-द्गततयाविर्भावः साक्षात्कारः स सविचारः।" — पा0यो0सू0वृ0 पृ0 14

2- "तत्रस्मिन्नेवालम्बने सामपि वृत्तिं दोषदर्शनेन त्यक्त्वा चतुर्विंशतितत्त्वानुगतसुख-रूपपुरुषार्थे धारणाविषयेण पूर्ववदाविर्भावितः सुखाकारः स आनन्दः। ज्ञानज्ञेययोर भेदोपचारात् तद्युपहितः सानन्दः।" — वही पृ0 14।

ही अस्मिता है । सास्मित सम्प्रज्ञातसमाधि को सालम्ब की चरमावस्था और धर्ममेघ समाधि की पराकाष्ठा कहा गया है[1] । क्योंकि सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध हो जाने के बाद जीवेश्वर का साक्षात्कार ही अन्तिम लाभ तथा उपलब्धि है ।

मणिप्रभा

चित्त की एकाग्रभूमि में रजोगुण तथा तमोगुण से युक्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है और चित्त में सात्त्विकवृत्ति शेष रह जाती है । यह सात्त्विकवृत्ति-विशेषवाला चित्त ध्येय के वास्तविक अर्थ का प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करता है । क्लेशों और कर्म के बन्धन को क्षीण करता है और निरोध रूप असम्प्रज्ञात समाधि को सम्मुख लाता है । इस समाधि को ही सम्प्रज्ञातसमाधि कहा गया है[2] ।

मणिप्रभाकार ने सम्प्रज्ञातसमाधि के चारो भेदों की वही संज्ञा निश्चित की है जो भोजराज ने की थी । और उनका लक्षण क्रमशः वही दिया है जो वाचस्पतिमिश्र ने दिया है । सम्प्रज्ञातयोग के चार भेद बताये गए हैं । — (1) सवितर्क (2) सविचार (3) सानन्द और (4) सास्मित । इन चारों का भेदक लक्षण यह है कि

- -

1 - " सैवावस्थाने जीवेश्वरयोः यत्पुरुषयतुरमस्ति सवन्दतरस्य कूटस्थचिन्मात्रं स्वरूप जडेभ्यो विवेकेन य आत्माकारः साक्षात्कारः सो भिमतः । "

— पा0यो0सू0वृ0 पृ0 15

2 - " एकाग्रे तु सत्त्वप्रधाने एकविषयस्थिते चित्ते रजस्तमोवृत्तिनिरोधः सात्त्विकवृत्ति-विशेषः संप्रज्ञातयोगो भवति ।"

मणिप्रभा पृ0 2 ।

क्रमशः वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के स्वरूपों के साक्षात्कार से अनुगत होकर यह चारों संप्रज्ञात के भेद परस्पर भिन्नरूप में स्थित होते हैं। ग्राह्यग्रामादि स्थूल पदार्थ के साक्षात्कार को 'वितर्क', पंचतन्मात्रादि सूक्ष्मपदार्थों के साक्षात्कार को 'विचार', इन्द्रिय के साक्षात्कार को 'आनन्द' और ग्रहीता पुरुष के साथ एकीभूताबुद्धि के साक्षात्कार को 'अस्मिता' कहते हैं[1]। मणिप्रभाकार ने इसी प्रसंग में भोजवृत्ति के अस्मिताविषयक सिद्धान्त का खण्डन भी किया है[2] और 'आस्मिता' विषयक अपने सिद्धान्त को मान्य ठहराया है।

- -

1 - " स्थूलमेव ग्राह्यग्रामादिकं ध्यानेन साक्षात्करोति स स्थूलसाक्षात्कारो "वितर्कः"

" तस्य स्थूलस्य कारणं पंचतन्मात्रादिकं सूक्ष्मं तस्य ध्यानेन साक्षात्कारो "विचारः"

" इन्द्रियाणि स्थूलानि प्रकाशात्मकत्वात्सत्त्वरूपाणि तेषां ध्यानेन साक्षात्कार "आनन्दः"

" तत्र स्थूलं च ग्राह्यमिन्द्रियाणि ग्रहणानि अस्मिताऽख्यो ग्रहीता तेषु ग्रहीतृ ग्रहण-ग्राह्येषु ध्यानपरिपाकः सम्प्रज्ञातो योगः।"

— मणिप्रभा पृ० 9 ।

2 - " भोजवृत्तौतु इन्द्रियेषु सवितर्कमुक्तया, तन्मात्रेषु सविचारमुक्तयाऽहङ्कारे सानन्दो, महत्तत्त्वे सास्मित इत्युक्तम् ।"

— वही पृ० 10 ।

योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका

इन व्याख्याओं में भी सम्प्रज्ञातसमाधि के चार भेदों का उल्लेख किया गया है । सम्प्रज्ञातसमाधि के चार भेदों का नाम इस प्रकार से दिया गया है । वितर्कसम्प्रज्ञातसमाधि, विचारसम्प्रज्ञातसमाधि, आनन्दसम्प्रज्ञातसमाधि और अस्मितासम्प्रज्ञातसमाधि । इन व्याख्याओं में इन भेदों के नाम के साथ 'अनुगत' शब्द नहीं लगाया गया है परन्तु इससे अर्थ में कोई भी अन्तर नहीं आया है । वितर्कसम्प्रज्ञातसमाधि में स्थूल-विषय का ध्यान किया जाता है । इस समाधि में ध्येयविषय चतुर्भुजादि रूप स्थूल विषय होते हैं ।[1] 'वितर्क' शब्द का शाब्दिक विश्लेषण योगसिद्धान्तचन्द्रिका में इस प्रकार से किया गया है — "विशेषेण तर्कणमिति व्युत्पत्तेः"। स्थूल-भूतों का कारण तन्मात्राएँ, अहंकार, महद् और अव्यक्तादि सूक्ष्म ध्येय-विषय हैं जिनका साक्षात्कार 'विचारसम्प्रज्ञातसमाधि' में होता है ।[2] विचार शब्द की व्याख्या इन शब्दों में की गई है — 'विशेषेण सूक्ष्मपर्यन्तं चरणमिति व्युत्पत्तेः ।' इस समाधि में स्थित हो जाने के उपरान्त बुद्धि की प्रकृष्टता बढ़ जाती है और प्रकृष्ट बुद्धि का आह्लाद से साक्षात्कार होने पर 'आनन्दसम्प्रज्ञातसमाधि' होती है ।[3] ग्रहीता पुरुष के साथ बुद्धि का एकीभूत हो जाना 'अस्मितानामक-सम्प्रज्ञातसमाधि' होती है ।[4] इन चारों समाधियों से जब चित्त शुद्ध हो जाता है तब चित्त को ध्येय-विषय का सम्यक्-ज्ञान प्राप्त होता है । समाधि की इन अवस्था विशेष को ही 'सम्प्रज्ञातयोग' कहा गया है ।

---

1 - " प्रथमं भावनाविषयध्यानेऽभिनिवेशतः स्थूलचतुर्भुजाद्देः साक्षात्कारो वितर्कः ।"
— यो०सि०च० पृ० 19 ।

2 - " स्थूलकारणपर्यन्ततन्मात्राहंकारमहदव्यक्तसूक्ष्मसाक्षात्कारो विचारः ।"
— वही पृ० 19 ।

3 - " तत्परिपाकात् सत्त्वप्रकर्षेण आत्मनाह्लादस्य साक्षात्कार आनन्दः । "
— वही पृ० 19 ।

4 - " सा ग्रहीत्रैकीभूताऽस्मि तेत्युच्यते । तद्विषयकसाक्षात्कारोऽप्यस्मिता ।"
— वही पृ० 19 ।

निरन्तर अभ्यास और वैराग्य से स्थिति प्राप्त एकाग्रचित्त में जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है उससे युक्त समाधि ही सम्प्रज्ञातयोग है[1]। चित्त की क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढभूमियों में हुई समाधि सम्प्रज्ञातसमाधि नहीं है क्योंकि ये निष्फल एवं सम्प्रज्ञान-रहित होती हैं। समाधियाँ केवल समाधियाँ हैं, इनमें चित्तवृत्ति निरोध अल्पकालिक होता है। सम्प्रज्ञातसमाधि चित्त की एकाग्रभूमि में होने वाली समाधि है, यह समाधि, समाधि और योग दोनों हैं, सम्प्रज्ञातयोग में चित्त ध्येयविषय का आभोग या परिपूर्णज्ञान प्राप्त करता है। आभोग का अर्थ परिपूर्णज्ञान है। सम्प्रज्ञातसमाधि चार प्रकार की होती है। (1) वितर्कानुगत (2) विचारानुगत (3) आनन्दानुगत और (4) अस्मितानुगत। स्पष्ट ही ये भेद वार्तिककार की शब्दावली का अनुसरण करते हैं।

स्थूल विषयों के आभोग से अनुगत समाधि वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि है[2]। स्थूलविकारों का परिपूर्ण ज्ञान ही आभोग है। वितर्कानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि, विचारानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि, आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि से युक्त होती है। सूक्ष्म विषयों का ग्रहण विचार द्वारा होता है अतः विचार से अनुगत समाधि विचारानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि है[3]। सूक्ष्म विषयों में तन्मात्राएँ, अहंकार और अस्मितातत्त्व सम्मिलित हैं। इनका चित्तवृत्तियों द्वारा आभोग ही विचारानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि है। यह समाधि वितर्करहित और आनन्द अस्मितासहित होती है। स्थूलइन्द्रियों की

- -

1 - " निरन्तराभ्यासात् स्थितिप्राप्त एकाग्रभूमिके चित्ते याः प्रज्ञा जायेरन्, ताः प्रतिनिष्ठेयुः, तासिद्ध चित्ते परिपूर्णं तिष्ठेत् स एव सम्प्रज्ञातयोगो " ।

— भास्वती पृ० 52 ।

2 - " तत्र चोदशस्थूलविकारविषया समाधिजा प्रज्ञा यदा चेतसि सर्वेव प्रतितिष्ठति तदा वितर्कानुगतः सम्प्रज्ञातः। "

— वही पृ० 52

3 - " विचारेणाधिगतसूक्ष्मविषयया प्रज्ञया चेतसः परिपूर्णता विचारानुगतः सम्प्रज्ञातः ।"

— वही पृ० 52 ।

रचना सात्त्विक अहंकार से हुई है । सत्त्वगुण प्रकाशपूर्ण होता है और प्रकाश आह्लाददायक होता है अतः सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न स्थूल इन्द्रियों से आनन्द की प्राप्ति होती है । चित्त जब इन्द्रियों से अनुगत हो जाता है तब आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि होती है[1] । आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि अपने पूर्व समाधियों से रहित और अस्मितानुगत-समाधि सहित होती है । सभी बौद्धिकवृत्तियों में अहम् का आरोप अस्मिता है । चित्त का अहम्वृत्ति के साथ परिपूर्ण रूप से तदाकारित होना 'अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि' है । अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि वितर्क, विचार और आनन्दानुगत-समाधियों से रहित होती है[2] ।

- -

1 - " अत्र स्थूलेन्द्रियाणां योऽयं सहगतसात्त्विकप्रकाशात्मक आनन्दः प्रथममालम्बनी-क्रियते, ततश्चाम्लानक रजस्थैर्यजातस्य ह्लादस्याधिगमो भवति। "

— भास्वती पृ0 54 ।

2 - " चतुर्थे ध्याने आनन्दस्यापि " ज्ञाताऽहम्" इत्यस्मितामात्रं सविशेषालम्बनं ततस्तदानन्दादधिकसम् ।"

— वही पृ0 54 ।

चित्त की एकाग्रभूमि में जब चित्त की राजस और तामस वृत्ति का निरोध हो जाता है और केवल सात्त्विक वृत्ति शेष रह जाती है उस समय जो समाधि होती है उसे सम्प्रज्ञातसमाधि कहते हैं । इस एकाग्रचित्त में चित्त की मधुमती, मधुप्रतीका और विशोकानामक तीन भूमिकाएँ विद्यमान रहती हैं । जब स्थूल विषय का साक्षात्कार होता है तब 'मधुमती' भूमि होती है । जब सूक्ष्म विषय का साक्षात्कार होता है तब मधुप्रतीका और बुद्धि में चेतन पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने पर ध्येय विषय का ज्ञान कराने वाली भूमि 'विशोका' नामक भूमि होती है । अब सम्प्रज्ञातसमाधि के उल्लिखित चारों भेदों का वर्णन किया जा रहा है[1] ।

पाञ्चभौतिकवस्तु या चतुर्भुजाविग्रह युक्त परमेश्वर के स्थूल रूप का साक्षात्कार होने पर 'सवितर्क'-सम्प्रज्ञातसमाधि होती है[2] । इस समाधि में आलम्बन के स्थूलआकार का साक्षात्कार प्राप्त होता है। जब स्थूल विषयक ज्ञान को त्याग कर आलम्बन के सूक्ष्म रूप का ज्ञान प्राप्त होता है और चित्त वृत्ति सूक्ष्मरूपाकार हो जाती है तब 'सविचार-' सम्प्रज्ञातसमाधि होती है[3] । जब आलम्बन के सूक्ष्म आकार को छोड़कर सत्त्वगुण से उत्पन्न इन्द्रियों के कारण 'अहंकार' का ज्ञान होता है तब चित्तसानन्द-सम्प्रज्ञातसमाधि को प्राप्त करता है[4] । जब 'आनन्दानुगत' ज्ञान को भी त्याग कर बुद्धि में आत्मा की एकरूपता

- -

1 - " अत्र चैकाग्रे चेतसि शुद्धसत्त्वमय्या वृत्तेः सद्भावात् सम्प्रज्ञायते मनाक् सत्त्ववृत्तिपर्यन्तमिति व्युत्पत्त्या सम्प्रज्ञातयोग इति व्यपदिश्यते । स चायमपरोयोगोऽभिधेयः, तस्य चत्वारो भेदा एकाग्रे चित्ते एव विभज्यन्ते ते यथा — सवितर्कसम्प्रज्ञातः, सविचारसम्प्रज्ञातः सानन्दसम्प्रज्ञातः, सास्मितसम्प्रज्ञातश्चेति ।"

— स्वामिनारायण भाष्य पृ० 18 ।

2 - "प्राथमिको योगी स्थूलमेव स्वामियं पाञ्चभौतिकं वस्तु परमेश्वरस्य चाक्षिकं साक्षात्करोति तत्तेनैकाग्रता भवति सोऽयं सवितर्क इति ।" — वही पृ० 85 ।

3 - " सविचारः विशेषेण चरणं सूक्ष्मतत्त्वपर्यन्तमिति विचारः ।" — वही पृ० 85 ।

4 - " एवं सामान्यः सूक्ष्मपदार्थानपि विहाय -इन्द्रियाणां सात्त्विकतया तत्कारणीभूतोऽहंकारोऽपि सत्त्वप्रधान आनन्दपूर्ण इति—आनन्देनैव लब्धे चित्तैकाग्रतासानन्द इति ।"

— वही पृ० 85 ।

स्थापित हो जाती है । बुद्धि और पुरुष का संयोग होने पर दोनों में अभेद वाली स्थिति का होना ही 'अस्मिता' है । इस समय 'अहमेवास्मि', 'अहंकर्ता' इस प्रकार की अनुभूति बुद्धि और पुरुष के संयोगजन्य अभेद का ही फल या परिणाम है । इस स्थिति का पूर्णसाक्षात्कार 'सास्मित' समाधि की स्थिति में होता है ।

- -

1 - " तावुभावन्यमपि विहाय कारणीभूता बुद्धिरात्मना सहैकात्म इव तिष्ठति तत्र तयोः संयोग एवोऽभेदाऽध्यासकः, तादृशैकात्मकताऽभिधानायां संयोगात्मिकायां सूक्ष्मतायां तत्त्वीभूतायां यच्चित्तस्यैकाग्रत्वं स सास्मितसंप्रज्ञात इति ।"

नारायणतीर्थ भाष्य पृ0 85 ।

असम्प्रज्ञातयोग

व्यासभाष्य

असम्प्रज्ञातयोग में चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है। केवल निरोध-संस्कार शेष रह जाते हैं। चित्त की यह संस्कारशेषावस्था ही असम्प्रज्ञात-योग की अवस्था है। असम्प्रज्ञात-योग की स्थिति में चित्त को कोई भी विषय ज्ञान नहीं होता[1]। चित्त निरालम्बन-समाधि में स्थित रहता है। निरालम्बन-समाधि इस लिए कि इस समाधि में ध्याता, ध्येय-रहित-समाधि में लीन रहता है, सकलविषय हीन परवैराग्य ही असम्प्रज्ञातयोग का उपाय है। असम्प्रज्ञातयोग को ही निर्बीजसमाधि भी कहते हैं। क्योंकि इस समाधि में चित्त में केवल निरोध-संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं अन्त में निरोध-संस्कारों सहित चित्त भी प्रधान में लीन हो जाता है और पुरुषमात्र केवल रह जाता है। इस अवस्था में पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर कैवल्य की दशा का अनुभव करता है अर्थात सभी प्रकार के बन्धनों से विनिर्मुक्त होकर केवली रह जाता है[2]।

असम्प्रज्ञातसमाधि दो प्रकार की होती है (1) भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि (2) उपायप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि।

- -

1 - "न तत्र किञ्चित्संप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातः।"

— व्यासभाष्य पृ० 10।

2 - "तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्र प्रतिष्ठितोऽतः शुद्धः केवली मुक्त इत्युच्यते"

— वही पृ० 132।

भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि — भवप्रत्यय का अर्थ है जन्मकारणक अथवा अविद्याकारणक । विदेहों और प्रकृतिलीनों को भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि होती है । इस समाधि में चित्त सर्ववृत्तिशून्य रहते हुए, केवल संस्कार-मात्र अवशिष्ट रहता है[1]। परन्तु चित्त के संस्कार कृतकार्य नहीं होते अर्थात् चित्त के इन संस्कारों में कार्यारम्भ की योग्यता नहीं रहती है । विदेह साधक संस्कारमात्र-अवशिष्ट-चित्त द्वारा कैवल्यपद का सा अनुभव करते हैं और संस्कारों के फल का भोग करते रहते हैं । जब यह फल भोग समाप्त हो जाता है तब पुनः वे जन्म ले लेते हैं । पुनः जन्म ले लेने के कारण ही विदेह प्राप्त योगी को भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातनिष्ठ कहा गया है ।

इसी प्रकार प्रकृतिलीनों का चित्त भी अकृतकार्य होता है । चित्त में जब केवल संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं तब चित्त प्रकृति में लीन हो जाने पर कैवल्य पद के समान मुक्तता का अनुभव करता है ; जब तक कि फिर से संस्कार में जन्म नहीं ले लेते । ये दोनों समाधियाँ जन्मकारणक हैं ; विवेकख्याति के बिना होती हैं । ये मोक्षदायक नहीं होती अतः इन्हें असम्प्रज्ञातयोग के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता । ये योगाभासमात्र हैं ।

- -

1. " विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः । ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति।

— व्यास-भाष्य पृ० 99

उपायप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि – उपायप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि योगियों को होती है[1]। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा नामक योग के उपायों के पूर्व में होने पर योगी को असम्प्रज्ञातसमाधि होती है,। श्रद्धा योगी की रक्षा करती है, वीर्य से विवेकार्थी योगी का उत्साह मिलता है, श्रद्धाऔर वीर्य से युक्त योगी ध्यानस्थ होता है। ध्यान से समाधिनिष्ठ होता है और तत्पश्चात् योगी को प्रकृष्टज्ञान प्राप्त होता है। विवेकख्याति ही प्रकृष्टज्ञान है जब विवेकख्याति के प्रति भी परवैराग्य हो जाता है तब असम्प्रज्ञातसमाधि होती है[2]।

तत्त्ववैशारदी

असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है वृत्तियों के इस कृत्स्न निरोध का उपाय 'परवैराग्य' है। परवैराग्य द्वारा साधक का दृष्टिकोण विषयों के प्रति दोषदृष्टि वाला हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप साधक योग प्राप्ति के उक्त उपाय द्वारा सभी विषयों का परित्यागकर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है और चित्त तब असम्प्रज्ञात-समाधि में स्थित होता है[3]।

- -

1 – "उपायप्रत्ययो योगिनां भवति।" — व्यासभाष्य पृ0 62।

2 – "समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते येन यथार्थं वस्तु जानाति तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति।"

— वही पृ0 62

3 – "विषयदोषदर्शी समस्तविषयपरित्यागाच्च स्वरूपप्रतिष्ठा सन्निरालम्बनः संस्कारमात्रशेषस्य निरालम्बनस्य समाधेः कारणमुपपद्यते।"

— तत्त्ववैशारदी पृ0 58।

असम्प्रज्ञात समाधि निरालम्बन होती है । इस समाधि में चित्त को कोई वैषयिक ज्ञान नहीं होता, समस्त वृत्तियों का निरोध हो चुकता है केवल निरोध संस्कार शेष रह जाते हैं । असम्प्रज्ञात समाधि को ही "निर्बीज समाधि" कहते हैं क्योंकि क्लेश और कर्माशय रूपी बीज इस समाधि में सर्वथा नष्ट हो जाते हैं ।

असम्प्रज्ञात योग के दो भेद हैं (1) भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि (2) उपायप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि ।

भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि — 'भव' शब्द का अर्थ वाचस्पतिमिश्र ने अविद्या किया है । अविद्या से ही जन्म होता है अतः जन्म अविद्यामूलक है । विदेह और प्रकृतिलीनों को भवप्रत्यय-समाधि होती है[1] । जब विदेह लोग भूतेन्द्रियों में लीन हो जाते हैं तब उनके चित्त में संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं । संस्कार मात्र चित्त द्वारा वे कैवल्यपद के समान मोक्ष का अनुभव करते हैं परन्तु जब व्युत्थान-वृत्तियों का आगमन होता है तब वे चित्त द्वारा प्रारब्ध भोग करने लग जाते हैं । भोग समाप्त होने पर उनका पुनः इस संसार में जन्म होता है । इस तरह विदेह प्राप्त सिद्ध लोगों की समाधि को योग नहीं कहा जा सकता क्योंकि इससे कैवल्य नहीं प्राप्त होता अतः विदेहों की समाधि भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि है, योग नहीं है ।

- -

1. " भवोऽविद्या, - - - - भूतेन्द्रियाणामन्यतममात्मत्वेन प्रतिपन्नास्तदुपासनया तद्वासनावासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरमिन्द्रियेषु भूतेषु वा लीनाः संस्कारमात्रावशेषमनसः षाट्कौशिकशरीररहिता विदेहाः । ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः प्राप्नुवन्तो विदेहाः ।"

— त०वै० पृ० 59,60 ।

विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस समाधि को असम्प्रज्ञात भी नाम नहीं देना चाहिए क्योंकि इसमें चित्त विदेह लोग एक निश्चित अवधि के पश्चात् पुनः संसार में प्रविष्ट हो जाते हैं । सम्भवतः चित्त के संस्कारशेषावस्थायुक्त हो जाने से भव-प्रत्यय को भी असम्प्रज्ञात-समाधि नाम दे दिया गया है । परन्तु भव-प्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त के संस्कार साधिकार होते हैं । जब कि असम्प्रज्ञातयोग में चित्त के संस्कार साधिकार नहीं होते । प्रत्युत चित्त के साथ संस्कार भी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं अतः असम्प्रज्ञातयोग के संस्कारों से भवप्रत्यय-समाधि के संस्कारों में कोई समानता नहीं है ।

प्रकृतिलीन उपासक भी जब अव्यक्त, महत्, अहंकार, पंचतन्मात्राओं में से किसी में भी लीन हो जाते हैं और व्युत्थान आने पर कौंदुपक रूप से प्रारब्ध फल भोग करते हैं । भोग की अवधि के समाप्त हो जाने पर वे पुनः इस संसार में जन्म लेते हैं[1] । जन्म अविद्यामूलक है यह पहले ही कहा जा चुका है अतः इस अविद्याजन्य समाधि को योग नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र के विवेचन के आधार पर भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि को योग नहीं कहा जा सकता ।

<u>उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि</u> — श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा नामक उपायों से भी असम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होता है । असम्प्रज्ञातसमाधि कैवल्यदायक होती है । अतः इस समाधि के लिए उक्त उपायों का अनुष्ठान साधक के लिए मोक्षफलदायक है । उपायों का विवेचन इस प्रकार से किया गया है ।

- -

1 - " प्रकृतिलयाश्चाव्यक्तमहदहंकार पंचतन्मात्रेष्वन्यतममात्मत्वेन प्रतिपद्यमानास्तदुपासनया तद्वासनावासितान्तःकरणाः पिण्ड पातानन्तरमव्यक्तादीनामन्यतमे लीनाः । "

— त0वै0पृ0 60 ।

श्रद्धा— आगम, अनुमान, आचार्योपदेश में असम्प्लतापूर्वक अभिरुचि श्रद्धा है ।[1] श्रद्धावान् विवेकार्थी के अन्दर उत्साह की भावना स्वयमेव जागृत होती है जिसे वीर्य कहा गया है । स्मृतिका अर्थ ध्यान से है । अर्थात् ध्यान नामक उपाय भी असम्प्रज्ञात-योग में सहायक बनता है ।[2] समाधि का होना योग के लिए परम आवश्यक है । सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञातसमाधि में हुआ चित्तवृत्तिनिरोध ही योग है । समाधि योग के आठ अंगों में से आठवाँ अंग है । अतः समाधि का योग के लिए बहुत महत्व है ।[3] प्रकृष्टज्ञान के होने पर ही सम्प्रज्ञातयोग में प्राप्त ज्ञान के प्रति भी वैराग्य होता है जिसके परिणामस्वरूप परवैराग्य से असम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि होती है जो मोक्षदायक योग या समाधि है । इस प्रकार उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात-समाधि योगी के लिए बहुत उपादेय है । इन्द्रियादि चिन्तक भी इन उपायों के अनुष्ठान से योगनिष्ठ हो सकते हैं ।[4]

- -

1 - " चेतसः संप्रसादोऽभिरुचिरतीच्छा श्रद्धा ।" — त०वै० पृ० 62 ।

2 - " स्मृतिर्ध्यानम् ।" — वही पृ० 62 ।

3 - " तदेवमखिलयोगाङ्गोपपन्नस्य संप्रज्ञातो जायत इत्याह — समाहितचित्तस्येति ।" — वही पृ० 62 ।

4 - " प्रज्ञाया विवेकः प्रकर्ष उपजायते । संप्रज्ञातपूर्वमसम्प्रज्ञातोऽवान्तरव्यापार- - - - - स हि कैवल्य हेतुः । सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिपूर्वो हि निरोधोऽविरतसमाधिना कार्यकरणेन चरितार्थमधिकं निरवसादयति ।" — वही पृ० 62 ।

राजमार्तण्डवृत्ति

असम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त की सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध हो जाता है और चित्त में कोई ज्ञानात्मक वृत्ति नहीं बनती । चित्त में केवल संस्कार मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं । असम्प्रज्ञातसमाधि को निर्बीज-समाधि भोज ने भी स्वीकार किया परन्तु 'निर्बीज' का विवेचन अन्य आचार्यों से भिन्न है । किसी भी प्रकार का ज्ञान न होना निर्बीज-समाधि है[1] । असम्प्रज्ञातयोग में चित्त में केवल निरोध-संस्कार रह जाते हैं । चित्त की एकाग्रभूमि में उत्पन्न सभी संस्कारों को तथा अपने संस्कारों को भी निरोध संस्कार जला देते हैं[2] । असम्प्रज्ञातसमाधि के दो भेद हैं । (1) भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि (2) उपायप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि ।

भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि — यह विदेह और प्रकृतिलीनों को होती है । इनका योग सांसारिक ऐश्वर्य के अन्तर्गत है अतः उन्हें परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता । अतः भवप्रत्यय को योग नहीं योगाभास मानना चाहिए[3] । ऐसा भोज का मत है ।

- -

1 - न तत्र किञ्चिद्वेद्यम् सम्प्रज्ञायते इति असम्प्रज्ञातो निर्बीजः समाधिः ।

— रा०मा०वृ० पृ० 46 ।

2 - " एवमेकाग्रताजनितान् संस्कारान् निरोधजाः स्वात्मानं च निर्दहन्ति।"

— वही पृ० 47 ।

3 - " तेषां परतत्त्वादर्शनाद्योगाभासोऽयम् ।"

— वही पृ० 51 ।

<u>उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि</u> :- श्रद्धादि उपायों के अभ्यास से जो समाधि होती है वह उपायप्रत्ययअसम्प्रज्ञातयोग है । श्रद्धा, वीर्य, स्मृति समाधि आदि उपायों के द्वारा सम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होता है । इन उपायोंके निरन्तर अभ्यास से और परवैराग्य से असम्प्रज्ञातसमाधि होती है[1] ।

<u>विवरण</u>

असम्प्रज्ञात-समाधि सम्प्रज्ञातसमाधि से पर्याप्त भिन्न है । असम्प्रज्ञात-समाधि चित्त की निरुद्धभूमि में होती है[2] । इस समाधि में चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है । असम्प्रज्ञातकाल में चित्त में केवल वृत्तियों के संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं[3] । असम्प्रज्ञातसमाधि को निर्बीज-समाधि की संज्ञा दी गई है । यह संज्ञा सम्भवतः इस समाधि की विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए दी गयी है । सबसे पहली विशेषता इस समाधि की यह है - (1) 'निर्बीज' समाधि में चित्त की क्लिष्ट वृत्तियों के क्लेश रूप बीजों का निरोध हो जाता है । (2) यह समाधि निरालम्बन होती है इसका उपाय 'परवैराग्य' है[4] (3) इस समाधि में चित्त में केवल संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं[5] । इस प्रकार इन विशेषताओं के कारण ही असम्प्रज्ञात-समाधि का निर्बीज-समाधि कहा गया है ।

- -

1 - " स एते सम्प्रज्ञातश्च समाधेरुपायाः । तदभ्यासात् पराच्च वैराग्यात् भवत्यसम्प्रज्ञातः ।" — रा0मा0 वृ0 पृ0 53 ।

2 - " एतस्यां निरोधभूमौ यः समाधिः स निर्बीजः । निर्गतं बीजमत्र क्लेशादिबीजं सर्वमुत्सन्नमस्मिन्निति ।" — विवरण पृ0 12 ।

3 - " निरुद्धासु वृत्तिषु वृत्तिजनिताः संस्कारा एवावतिष्ठन्ते ।" — वही पृ0 1? ।

4 - " तत्र परं वैराग्यमुपायः तस्य समाधेः परमुत्तरम् ।" — वही पृ0 49 ।

5 - " स एष निर्बीजः संस्कारोपलक्षणाद् समाधिरसम्प्रज्ञात इति ।" — वही पृ0 49 ।

असम्प्रज्ञातसमाधिनिष्ठ चित्त को और अधिक सुस्पष्ट करने के हेतु विवरणकार ने निम्नलिखित किन्तु सटीक उदाहरण प्रस्तुत किया है यथा – सभी विषयों का विनिवर्तन हो जाने पर चित्त उसी प्रकार शान्त हो जाता है जिस प्रकार दहकता हुआ अंगारा धीरे-धीरे क्षीण होने के उपरान्त अन्त में एकदम शान्त अर्थात् राख के रूप में हो जाता है । यह उपमा असम्प्रज्ञातकाल में निरुद्धवृत्तिक चित्त के लिए बहुत ही उपयुक्त है । इस उदाहरण द्वारा व्याख्याकार का इस संबन्ध में यह विचार सामने आता है कि असम्प्रज्ञातकाल में चित्त की वृत्तियों का पूर्ण-निरोध हो जाता है । परिणामतः चित्त में पुनः उनका प्ररोह नहीं हो पाता । जिस प्रकार जलती आग के धीरे-धीरे शान्त होने पर केवल राख बची रह जाती है उसी प्रकार वृत्तियों का निरोध हो जाने पर केवल उनके संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं । ये संस्कार निरोध-संस्कार कहे जाते हैं । इनसे पुनः किसी भी प्रकार की वृत्तियाँ नहीं बनतीं ।

असम्प्रज्ञात-समाधि के दो भेद हैं । (1) उपायप्रत्यय-असम्प्रज्ञात-समाधि (2) भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि । भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञात समाधि विदेह तथा प्रकृतिलीन उपासकों को होती है । इन उपासकों को अपनी अपनी उपासना के द्वारा 'कैवल्य' पद के समान मुक्ति का 'अनुभव' होता है । कैवल्य का यथार्थ अनुभव तथा लाभ नहीं होता अतः इन साधकों के योग को योगाभास ही मानना चाहिए । 'विदेह' और 'प्रकृतिलीन' उपासक अपनी साधना एवं उपासना के बल पर मुक्त की सी अवस्था को प्राप्त करते हैं ।

- -

1 – " पावकस्य ज्वलतः प्रदीप्तस्येन्धनस्य सन्निवृत्तेरुपशान्तस्य प्रशान्तस्य भस्मापत्तेर्वासितात्मकता ।"

— विवरण पृ0 49 ।

उपायप्रत्यय-असम्प्रज्ञात-समाधि — प्रथमपाद के 20वें सूत्र के आधार पर असम्प्रज्ञातसमाधि का यह दूसरा विभेद है । यहाँ पर असम्प्रज्ञातसमाधि के उपायों का वर्णन किया गया है । श्रद्धा, स्मृति, समाधि आदि असम्प्रज्ञातसमाधि के उपाय दिए गए हैं । 'श्रद्धा' द्वारा प्रसन्नचित्त होने पर उत्साहसहित योग के आठों साधनों का अनुष्ठान करने पर आगमज्ञानविषयक स्मृति सुदृढ़ हो जाती है । स्मृति के सुदृढ़ होने पर विवेकार्थी का चित्त चंचलता से रहित हो जाता है और इस प्रकार का अनाकुलचित्त ही समाधि के योग्य होता है । ऐसा चित्त ही समाधिस्थ होकर प्रकृष्टज्ञानयुक्त बुद्धि के द्वारा सभी प्रकार के ज्ञानों को प्राप्त करने में समर्थ होता है । वह आत्मादि के यथार्थ रूप का ज्ञान प्राप्त करता है । इस प्रकार के ज्ञान के निरन्तर होते रहने पर अन्त में 'पर-वैराग्य' द्वारा इस ज्ञान के प्रति भी वैराग्य हो जाता है जिसके फलस्वरूप असम्प्रज्ञातसमाधि होती है[1] ।

इस प्रकार उक्त उपायों द्वारा योगी असम्प्रज्ञातयोग को प्राप्त करता है । असम्प्रज्ञातयोग के निर्दिष्ट द्विविध भेदों के विवेचन से यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि असम्प्रज्ञातसमाधि का दूसरा भेद ही अर्थात् उपायप्रत्यय-असम्प्रज्ञात-समाधि ही 'योग' माना जा सकता है । इस समाधि के स्वरूप से 'असम्प्रज्ञातयोग' के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है । प्रथमपाद के 18वें सूत्र से असम्प्रज्ञातयोग का लक्षण निर्दिष्ट होता है और प्रथमपाद के 20वें सूत्र से तथा उसकी व्याख्या द्वारा असम्प्रज्ञातयोग की प्राप्ति के साधन के ऊपर प्रकाश डाला गया है । अतः यह सर्वथा उचित है कि 'उपायप्रत्ययासम्प्रज्ञातसमाधि' योग है ।

- -

1 - "तदभ्यासात् - एतदुक्तं भवति - आत्मदर्शनाभिरामस्याभ्यासादिति । तद्विषयाख्य वैराग्या (ख्यातिविषया) तु परमाद्वैराग्यादिति । असम्प्रज्ञातः समाधिः इति ॥" —— विवरण पृ० 5।

असम्प्रज्ञात योग में चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है । केवल निरोध संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं[1] । यह समाधि निरालम्बन होती है । यह समाधि ही निर्बीज समाधि कही जा जाती है । चित्त के सारे संस्कार ही चित्त के बीज हैं अतः इन संस्कारों का इस समाधि में दाह हो जाने के बाद नाश हो जाता है । संस्कारों का नष्ट हो जाना ही निर्बीज समाधि है । निर्बीजसमाधि में चित्त में केवल निरोध संस्कार रह जाते हैं, इससे निर्बीज समाधि को कोई हानि नहीं होती है क्योंकि निरोधसंस्कार चित्त के बीज नहीं माने जाते[2] ।

यहाँ विज्ञानभिक्षु का विवेचन वाचस्पतिमिश्र से भिन्न है । वाचस्पतिमिश्र ने क्लेशसहित कर्माशयों को बीज माना है, उनका चित्त से निकल जाना ही निर्बीज समाधि है । विज्ञानभिक्षु के अनुसार चित्त के जितने भी संस्कार हैं सभी बीजरूप हैं, इन सभी का दाह हो जाना निर्बीज-समाधि है । असम्प्रज्ञातयोग के विविध भेदों का उल्लेख वार्तिककार ने अधोलिखितशब्दों में किया है ।

- -

1 - " निरस्तसमस्तवृत्तिकं संस्कारमात्रावशं चित्तं निरुद्धम्" ।
योगवा0 पृ0 4 ।

2 - " सबीजस्य निरोधाख्यचित्तसंस्कारोपरमे संस्कारमात्रानुसारि संस्कारस्वरूपेण प्राणधारणादि भवति । तेन प्राणधारणादिना स पूर्वोक्तो निर्बीजः समाधिः निरोधयोगः न किंचित्ताम योगे बाधक इति विशेषणाद्यभावात्मा बोध्य सत्यार्थः । - - - बीजत्वाद्येव बाध्य निरोधस्य स्वरूपाभिव्यक्ति हेतुतया क्लेशाकर्मादि परिपन्थितया च न तत्त्वगोतीत्याशयः ।" — वही पृ0 15 ।

<u>भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि</u> - विदेह उपासक दैनन्दिन प्रलय में और कभी कभी सृष्टिकाल में भी निरोधसंस्कारयुक्त चित्त द्वारा कैवल्य पद के समान मुक्त अनुभव करते हैं । व्युत्थान होने पर वे प्रारब्ध कर्माशयों का भोग करते हैं । इस भोग द्वारा वे प्रारब्ध-कर्माशय-संस्कारों को समाप्त कर मुक्त हो जाते हैं[1] । यहाँ विज्ञानभिक्षु का मत वाचस्पति मिश्र से भिन्न है-वाचस्पतिमिश्र के अनुसार विदेह लोग समाधि से व्युत्थान होने पर प्रारब्ध भोग करने के पश्चात् पुनः इस संसार में जन्म लेते हैं इसी लिए विदेह और प्रकृतिलीन की समाधि योग नहीं कही जाती । इसके विपरीत योगवार्तिककार के अनुसार प्रारब्ध-भोग के पश्चात् विदेह तथा प्रकृतिलीन मुक्त हो जाते हैं । मोक्षफलदायक होने के कारण यह समाधि भी योग कही जा सकती है ।

इसी तरह प्रकृतिलीन उपासक भी ईश्वर तथा प्रकृति देवता की उपासना द्वारा संसार को त्याग कर लिंग शरीर से प्रकृति या अव्यक्त में लीन हो जाते हैं । प्रकृतिलीन होने के उपरान्त भी व्युत्थान होने पर भोग द्वारा अपने प्रारब्धकर्माशय संस्कारों को समाप्त कर जीवन्मुक्त की भाँति मुक्त हो जाते हैं[2] । इस प्रकार विज्ञानभिक्षु के अनुसार भवप्रत्यय प्राप्त विदेह और प्रकृतिलीन

---

1 - " ते हि दैनन्दिनप्रलये कदाचिच्च सर्गकालेऽपि स्वसंस्कारमात्रोपगतेन चित्तेन संस्कारशेषेण निरोधावस्थेन चित्तेन, कैवल्यपदमिव प्राप्नुवन्तो व्युत्थानकाले च स्वसंस्कारस्य देवभावप्रापकसंस्कारस्य विपाकं कर्मानुरूपं भोगं प्रारब्धकर्मण्यभिमतं अभिभवन्ति अतिक्रामन्ति, ततो मुच्यन्त इति शेषः ।" — यो०वा० पृ० 61 ।

2 - " ईश्वरोपासनया प्रकृतिदेवतोपासनया वा ये ब्रह्माण्डं सावरणं त्यक्त्वा लिंगशरीरेण सह प्रकृत्यावरणे गताः तेऽत्र प्रकृतिलीनाः । तेऽपि यावन्मात्र-कालं केवलं स्वेच्छयैव प्रकृतिलीने संस्कार-शेषे सत्यसम्प्रज्ञातयोगेन कैवल्यपदमिव प्राप्नुवन्ति यावदधिकारसमाप्ति, चित्तं पुनर्व्युत्थितं न भवति - - - । अधिकार समाप्तौ च तेऽपि मुच्यन्त इत्याशयः ।"

— वही पृ० 61 ।

उपासक भी असम्प्रज्ञातयोग को प्राप्त कर कैवल्य लाभ करते हैं।

<u>उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि</u> – शास्त्रोक्त उपायों द्वारा असम्प्रज्ञातयोग को प्राप्त करना उपायप्रत्यय-असम्प्रज्ञातयोग है[1]। ये उपाय हैं श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा। योग के प्रति प्रीति श्रद्धा है। श्रद्धालु का योग साधना के लिए प्रयत्न करना वीर्य है। प्रयत्न से ध्यान करना स्मृति है। समाधि योग का चरम अंग है। सम्प्रज्ञातयोग से उत्पन्न ज्ञेय वस्तु का विवेकज्ञान ही प्रज्ञा है। इन उपायों के अनुष्ठान से साधक शीघ्र असम्प्रज्ञातयोग प्राप्त करता है।

---

1 - "इतरेषां विवेकप्रवृत्तिलयातिरिक्तानां देवानां वा मनुष्यादीनाम् वा न जन्ममात्रादसंप्रज्ञातो भवति, किन्तु श्रद्धाऽऽदिभ्यः, प्रज्ञापर्यन्तेभ्यो-भवत्यर्थः।"

– योगवार्तिक पृ0 62।

असम्प्रज्ञात-समाधि में विवेकख्याति रूप ज्ञान का भी निरोध परवैराग्य द्वारा हो जाता है । ज्ञान के प्रति वैराग्य-भावना का होना ही 'परवैराग्य' है । इस परवैराग्य द्वारा सम्प्रज्ञातसमाधिजनित प्रज्ञा तथा सम्प्रज्ञातयोग की पराकाष्ठा रूप विवेक ज्ञान का भी निरोध हो जाने पर चित्त में कोई ज्ञानात्मक वृत्ति शेष नहीं रह जाती । इस समय चित्त में केवल निरोध संस्कार रह जाते हैं । अतः इस समय जो समाधि होती है उसे असम्प्रज्ञातसमाधि नाम दिया गया है । असम्प्रज्ञात-समाधि में स्थित रहने पर ही योगी कैवल्य प्राप्त करता है[1] । वृत्ति-निरोध के उपरान्त चित्त का प्रकृति में आत्यन्तिक विलय तथा पुरुष की स्वरूपावस्थिति ही कैवल्य है । असम्प्रज्ञात-समाधि के द्विविध भेदों का उल्लेख इन्होंने भी किया है ।

<u>भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि</u> — यह समाधि विदेह तथा प्रकृति-लीनों को होती है । इस समाधि में देह की अपेक्षा बिना किए हुए, अर्थात् देह रहित होकर केवल बुद्धि द्वारा समाधि के साधनों का अनुष्ठान करते हैं । इस व्याख्या में व्याख्याकार ने भवप्रत्यय का ही अर्थ किया है । विदेह, प्रकृति-लीन के स्वरूप का विधिवत विवेचन नहीं किया है । केवल विदेहों के स्वरूप का विवेचन किया है कि जो देह की अपेक्षा नहीं रखते हैं वे विदेह कहे जाते हैं[2] ।

- -

1. " ज्ञानेऽप्यलंबुद्धिः परवैराग्यम् । तदभ्यासात् पौनःपुन्यात् यः संस्कार-मात्रावशेषो वृत्तिनिरोधः स असंप्रज्ञाताख्योऽसम्प्रज्ञात इत्यर्थः । - - - - योगे तु चिरसत्कारत्यन्तविलयात्तस्य क्लेशोऽपि न तिष्ठतीति विशेषः ।" — योगदीपिका पृ० 15

2. " विदेहानां प्रकृतिलयानां च असंप्रज्ञातो भवप्रत्ययसंज्ञको भवति । भवो जन्मैव प्रत्ययः कारणं यस्येति व्युत्पत्तेरित्यर्थः । देहमनपेक्ष्यैव बुद्धिवृत्तिमन्तः स्थिता विदेहा इति । ते च महदादयो देवाः तेषां न साधनानुष्ठानम् ।"
— वही पृ० 16 ।

यह समाधि योग है अथवा नहीं इस विषय पर भी व्याख्याकार मौन हैं । अतः इस व्याख्या के आधार पर भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि के बारे में कोई भी निर्णय नहीं लिया जा सकता ।

<u>उपायप्रत्ययासम्प्रज्ञातसमाधि</u> – इस समाधि के विषय में व्याख्याकार भावागणेश ने कोई विवेचन नहीं किया है ।

<u>पातंजलयोगसूत्रवृत्ति</u>

इस व्याख्या में असम्प्रज्ञातयोग का उल्लेख योगदीपिका के ही समान किया गया है । असम्प्रज्ञातयोग के द्विविध भेदों को इस व्याख्या में भी स्वीकार किया गया है ।

<u>भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि</u> – यह समाधि विदेह और प्रकृतिलीन साधकों को होती है । विदेह और प्रकृतिलीन में द्वन्द्व समास है । विदेह स्थूल देह की अपेक्षा नहीं करते हैं । वे भूतेन्द्रिय, तन्मात्राओं, अहंकार इत्यादि की उपासना द्वारा अपने स्थूल शरीर का परित्याग कर वृत्तिरहित और संस्कार-शेष बुद्धिद्वारा कैवल्य के समान अनुभव करते हैं । परन्तु एक निश्चित अवधि के आने पर विदेह उपासक संसार में प्रविष्ट हो जाते हैं अर्थात जन्म ले लेते हैं । इसी लिए इस समाधि का नाम भव-प्रत्यय है अर्थात 'जन्म है कारण जिसका'[1] ।

प्रकृतिलय प्रकृतिदेवता की उपासना द्वारा ब्रह्माण्ड को छोड़कर प्रकृति में अपने स्थूल शरीर को लीन कर, स्थूल देह तथा उस समय की वृत्तियों से रहित होकर विवेकख्याति द्वारा मुक्ति का अनुभव करते हैं और पुनः इस अवधि के समाप्त हो जाने पर प्रकृति लीन देवादि इस संसार में प्रविष्ट हो जाते हैं।

- -

1 - "भवो जन्म प्रत्ययः कारणं यस्येत्यर्थात् ।" – पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ0 16 ।

प्रकृति की उपासना द्वारा मुक्त होना तथा पुनः संसार में प्रविष्ट होने का क्रम पूर्व की भाँति चलता रहता है । प्रकृतिलीन तथा विदेहों को संसार की प्राप्ति होती रहती है अतः भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि हेय है ।

उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि — व्याख्याकार ने इस समाधि का वर्णन योग दीपिका की ही भाँति किया है ।

मणिप्रभा

असम्प्रज्ञातसमाधि का ही 'संस्कारशेषः' नाम दिया गया है । परवैराग्य-द्वारा जब सम्प्रज्ञात कालिक सात्त्विकवृत्ति का भी निरोध हो जाता है तब चित्त में वृत्तियों के संस्कार-मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं[1]। पुनः उनका भी निरोध निरोध-संस्कारों के द्वारा कर देने के पश्चात चित्त में केवल निरोध-संस्कार ही अवशिष्ट रह जाते हैं जो चित्त के साथ ही प्रधान में लीन हो जाते हैं । असम्प्रज्ञात-समाधि को निर्बीज-समाधि कहा गया है, क्योंकि यह समाधि आलम्बन रहित होती है तथा इसमें कर्मक्लेशबीज का अभाव रहता है[2]। असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद इस ग्रन्थ में भी किए गए हैं ।

- -

1 - "तदा चित्तं संस्कारमात्रशेषमित्यसंप्रज्ञातः ।"

— मणिप्रभा पृ० 10 ।

2 - "स निर्बीजः समाधिः । निरालम्बनत्वात्कर्मबीजाभावाच्चेत्यर्थः ।"

— वही पृ० 10 ।

योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका

इन व्याख्याओं में भोजवृत्ति का पर्याप्त अनुकरण किया गया है। अभ्यास और वैराग्य द्वारा वृत्तियों का अभाव होने पर असम्प्रज्ञातसमाधि होती है। असम्प्रज्ञातयोग का कारण परवैराग्य है। परवैराग्य द्वारा सम्प्रज्ञात-समाधि का निरोध कर निर्बीज रूप-असम्प्रज्ञातसमाधि सिद्ध होती है। निर्बीज-समाधि में कर्मरूपी बीजों का अभाव हो जाता है। केवल निरोध संस्कार चित्त में रह जाते हैं।[1] असम्प्रज्ञातसमाधि के द्विविध भेदों को इस व्याख्या में भी स्वीकार किया गया है।

भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि — 'भव' का अर्थ अविद्या किया गया है। इस समाधि के मूल में अविद्या है अतः यह समाधि हेय है।

उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि — योगियों के लिए उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि ही उपादेय है। अन्य विवरण भोज-वृत्ति के समान हैं।

---

1. "परं वैराग्यं सम्प्रज्ञातयोगमभिभूय स्वसंस्कारं शेषयति स निर्बीजः समाधिः कर्मबीजाभावात्।"

— यो०सि०च० पृ० 71

भास्वती -

असम्प्रज्ञातसमाधि में सम्प्रज्ञात सात्विक चित्त की सात्विकवृत्ति का भी निरोध हो जाता है । चित्त में केवल वृत्तियों के संस्कारमात्र शेष रह जाते हैं और इसके पश्चात चित्त में कोई नई बौधिक वृत्ति नहीं बनती । चित्त के प्रज्ञाकृत संस्कारों का निरोध निरोधसंस्कारों से होता है । इस प्रकार असम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त में किसी भी प्रकार के प्रत्यय नहीं रह जाते । केवल निरोधसंस्कार चित्त में तब तक बने रहते हैं जब तक चित्त अव्यक्त में लीन न हो जाये । चित्त के साथ ही ये निरोधसंस्कार भी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं । इस समय पुरुष अकेला अपने रूप में अवस्थित होकर कैवल्य की दशा का अनुभव करता है ।

असम्प्रज्ञातसमाधि का उपाय 'परवैराग्य' है । परवैराग्य द्वारा ही सम्प्रज्ञातसमाधि की पराकाष्ठा-विवेकख्याति तथा धर्ममेघसमाधि के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है और साधक निर्बीज-समाधि में लीन हो जाता है । निर्बीज-समाधि असम्प्रज्ञातसमाधि का ही दूसरा नाम है । असम्प्रज्ञातसमाधि में ध्येयरूप आलम्बन नहीं होता है, निरालम्बन समाधि होने के कारण ही इस समाधि को असम्प्रज्ञातसमाधि कहा गया है । असम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त की सभी वृत्तियों तथा संस्कारों का निरोध हो जाता है । बीजरूप वृत्ति तथा वृत्तिजन्यसंस्कारों का निरोध हो जाने से ही यह समाधि निर्बीज कही गयी है ।[1]

- -

1 - " सम्प्रज्ञानं तथा तदपि निरुध्य यथाप्रत्ययहीनां निरवग्रहविषयाऽधिगमपरे तथा सोऽसम्प्रज्ञातयोग इति । ध्येयविषयरूपस्य बीजस्याभावात् निरोधः समाधि-र्निर्बीज इत्युच्यते । " — भास्वती पृ0 17 ।

निर्बीज समाधि के दो भेद किए गए हैं। उपायप्रत्यय-निर्बीज-समाधि और भवप्रत्ययनिर्बीजसमाधि।

<u>भवप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि</u> — भवप्रत्यय निर्बीजसमाधि कैवल्य के लिए उपयोगी नहीं होती। यह समाधि विदेह तथा प्रकृतिलयों को होती है। स्थूलसूक्ष्मशरीर से हीन को विदेह कहते हैं। विदेह साधक को जब शरीर के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है तब वे वैराग्य के द्वारा अपने शरीर का त्याग कर देते हैं। स्थूलशरीर प्रकृति में लीन हो जाता है और उस समय साधक विदेहकैवल्य के समान दशा का अनुभव करता है। विदेहों को पुरुषख्याति नहीं होती। अतः पुरुषख्याति के अभाव में चित्त के संस्कारों का सम्यक् प्रकारेण नाश नहीं होता। इधर वैराग्य से उत्पन्न वैराग्यसंस्कारों की शक्ति जब क्षीण हो जाती है तब पुनः उनका इस संसार में जन्म होता है। पुनः जन्म लेने तथा पुरुषख्याति से हीन होने के कारण विदेहों की समाधि भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि होती है।[1]

इसी तरह प्रकृतिलीन उपासक भी वैराग्य द्वारा अपने शरीर का त्याग प्रकृति में कर देते हैं परन्तु विवेकहीनता के कारण तथा साधिकारचित्त के कारण वैराग्य से उत्पन्न निरोध-संस्कार की शक्ति का क्षय होने पर प्रकृतिलीन इस संसार में फिर से जन्म लेते हैं। वैराग्य की भावना द्वारा उक्त साधक देहपात करते हैं। अतः इस समय की समाधि को निर्बीज कहा गया है।

- -

1 - "विदेहानां देवानां, तथा प्रकृतिलयानामपि वेदितव्यम्, ये तु पुरुषख्यातिहीनाः संसारमार्गस्थे मनोन्यौन विरागवन्तो न देहमात्रे, तद्विरागात् तत्समुत्थसंस्कारेण तेषां विवेकहीनत्वात् साधिकारं चित्तं प्रकृतौ लीयते।"

— भामती पृ० 57।

परन्तु वैराग्यसंस्कार की शक्ति के क्षीण होते ही निर्बीजसमाधि दूर हो जाती है और पुनः उसका जन्म इस संसार में हो जाता है । निर्बीज समाधि वृत्ति अविकल हो जाती है अतः यह समाधि योग नहीं है ।

<u>उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि</u> - श्रद्धादि उपायों के अनुष्ठान से व्युत्थानसंस्कारों का नाश हो जाने पर परवैराग्य के द्वारा असम्प्रज्ञातसमाधि सिद्ध होती है । प्रज्ञा विवेक का अर्थ = विवाद या विशिष्ट ज्ञान का उत्कर्ष किया गया है । यह समाधि ही योगी के लिए वेयतर वाचक है[1] ।

<u>स्वामिनारायणभाष्य</u>

चित्त की सभी वृत्तियों का आत्यन्तिक विलय जिस समाधि में होता है उसे असम्प्रज्ञातसमाधि कहते हैं[2] । असम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त में केवल वृत्तियों के संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं अतः इसे संस्कारशेषसमाधि भी कहते हैं । असम्प्रज्ञातसमाधि में प्रभावभूतसंस्कारों का भी निरोध, निरोधसंस्कारों से हो जाता है और अन्त में सभी संस्कारों का निरोध हो जाने पर चित्त में केवल निरोध-संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं । ये निरोध-संस्कार चित्त में ही रहते हैं और चित्त के साथ ही अव्यक्त में लीन हो जाते हैं । इस समय पुरुष स्वरूपावस्थित होकर कैवल्य अपवर्मोक्ष को प्राप्त करता है ।

- -

1 - " प्रज्ञाविवेकः = वैशिष्ट्यं = उत्कर्ष इति यावत् ।"
" व्युत्थानसंस्कारनाशे परवैराग्ये सम्प्रज्ञातः समाधिर्भवतीति ।"

— भास्वती पृ0 60 ।

2 - " सर्वासां वृत्तीनां विरामश्च - अत्यन्तविलयश्च, प्रत्ययः - कारणं यत्परं वैराग्यं गुणवैतृष्ण्यात्मम्, तदभ्यासः - तदनुशीलनम्, तत्पूर्वः - तत्कारकः, अन्योऽसम्प्रज्ञातसमाधिर्भवति ।"

— स्वामिनारायणभाष्य - पृ0 85 ।

असम्प्रज्ञातसमाधि में कोई बौद्धिकवृत्ति नहीं बनती । परवैराग्य द्वारा दग्धबीजभावता को प्राप्त वृत्तियाँ चित्त में पुनः प्रबुद्ध नहीं हो पाती । अत इस इस समाधि में कुछ ज्ञान नहीं होता है इसी आधार पर इस समाधि का नाम असम्प्रज्ञात दिया गया है । असम्प्रज्ञातसमाधि को ही निर्बीज-समाधि भी कहते हैं । और आलम्बन रहित होने के कारण यह समाधि निर्बीज-समाधि है । असम्प्रज्ञात-समाधि के दो भेद किए गए हैं । (1) भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि (2) उपाय-प्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि ।

<u>भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि</u> — भवप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि विदेहों तथा प्रकृतिलयों को होती है । शरीर की अपेक्षा नहीं करते हुए केवल बुद्धिवृत्तियों के द्वारा रहने वाले विदेह कहे जाते हैं । ये सिद्ध योगी होते हैं जो केवल से बिना किसी साधन का अनुष्ठान किए एक शरीर के बाद दूसरे शरीर की रचना करने में समर्थ होते हैं । ऐसे सिद्धों को जन्म से ही असम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि प्राप्त रहती है ।[2] इसके लिए उन्हें किसी साधन के अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं होती । विदेहसिद्ध शरीर की अपेक्षा नहीं करते हुए केवल बौद्धिक वृत्तिमात्र अवस्था में रहते हुए अन्त में वृत्तियों के संस्कार शेषावस्था में पहुँच कर कैवल्य को दशा के समान मोक्ष की स्थिति का अनुभव करते हैं । जब प्रारब्ध कर्मों का विपाक पूरा हो जाता है तब वे कुछ काल पश्चात् अपनी इच्छानुसार स्थूल शरीर धारण कर लेते हैं । शरीर धारण उनकी इच्छा के अधीन है अतः संसार में लोग उन्हें ईश्वर तथा देवता की ही उपाधि भी देते हैं ।

---

1 - " नसम्प्रज्ञायते ध्येयोऽर्थो यत्र सः असम्प्रज्ञातः ।"

— स्वा०भा०भा० पृ० 86

2 - " शरीरनैरपेक्ष्येणबुद्धिवृत्तिमात्र आत्मनो देवाद्यो पुण्यविशेषभाजः तेषां साधनानुष्ठानं विनैवा सम्प्रज्ञातयोगो भवप्रत्ययो । भवः संसारः जन्म इति यावत् तन्निमित्तको भवति । ते तु योगिनः सिद्धयोगो एव ।"

— वही पृ० 86 ।

प्रकृत्यादि अष्ट तत्व को आत्मभाव कर उन्हीं अष्ट तत्वों की उपासना करते हुए अपने लिंग शरीर को अव्यक्त में या प्रकृति के किन्हीं भी आठ तत्वों में लीन कर संस्कार शेषावस्था में रहते हुए कैवल्यपद के समान मोक्ष का अनुभव करते हैं । कुछ निश्चित समय के उपरान्त वे फिर से इस संसार में जन्म ले लेते हैं । यहाँ स्मरणीय है कि पुनः जन्मधारण वे स्वेच्छा से करते हैं । प्रकृतिलय योगी जन्म से ही योगी कहलाते हैं इनका असम्प्रज्ञातयोग जन्मकारणक होता है । अतः इनके योग को भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि या योग कहा गया है । प्रकृतिलीनों को भी देवता, ईश्वर नाम से संसार में लोग अभिहित करते हैं ।

<u>उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि</u> -- श्रद्धादि उपायों के अनुष्ठान से जो असम्प्रज्ञातसमाधि होती है वह कैवल्य-दायक होती है । उपायों का निर्वचन इन शब्दों में किया गया है । योग का फल कैवल्य है अतः इसकी प्राप्ति के लिए योग में आस्था, प्रीति का होना श्रद्धा है । श्रद्धा के उत्पन्न हो जाने पर योगी के चित्त में उत्साह उत्पन्न होता है । वीर्य द्वारा योग के विरोधी व्याध्यादि विघ्नों का विध्वंस होता है और योगी को योग की प्राप्ति होने में सहायता मिलती है । आत्मविषयक अविरल ध्यान स्मृति है । समाधि उपायों से युक्त हुए चित्त में ही समाधि होतीहै इसमें आत्मविषयक सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है जिसे सम्प्रज्ञातयोग कहते हैं । प्रकृति और पुरुष का विविक्तज्ञान ही विवेकप्रज्ञा है । इन उपायों के अनुष्ठान से योगी कैवल्यदायक असम्प्रज्ञातयोग को प्राप्त करता है । असम्प्रज्ञातयोग का साक्षात् उपाय परवैराग्य है ।[2]

- -

1 - " प्रकृत्यादि अष्टतत्त्वान्यात्मत्वेनाभिमन्य तदुपासनया अव्यक्त मित्वा लिंग शरीरेण सह प्रकृत्याद्यष्टान्यतमेषु अष्टस्वेषु लीना आत्मनः । तेऽपि सत्त्वसंस्कार-शेषेण चित्तेन कैवल्यपदमनुभवन्त इव । "   -- भा0प्र0भा0 पृ0 86

2 -   " परवैराग्यात् पुन सर्ववृत्तिसंस्कारनिरोधकात् असम्प्रज्ञात समाधि रुदितिर्भवति । " स हि 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिपूर्वः परमकैवल्य हेतुरेवेति प्रागेव पर्यवेक्षणीय तथा परमकैवल्यं पुरुषाय समर्पयतीति । "

-- वही पृ0 86 ।

व्यासभाष्य

ईश्वर नितान्त शुद्ध तथा सभी प्रकार के क्लेशों से अपरामृष्ट है।[1] क्लेशों का उससे सम्पर्क न तो अतीत में था न वर्तमान में और न भविष्य में अर्थात वह सदा से क्लेशों से अपरामृष्ट है इसी लिए ईश्वर को पुरुष विशेष कहा गया है। ईश्वर नित्यमुक्त है। वह कैवल्य प्राप्त कर लेने वाले केवली की तरह मुक्त नहीं क्योंकि ये केवली पुरुष अतीतकाल में बन्धनों से बंधे रहते हैं और आगे चल कर अपनी साधना के बल पर उन बन्धनों को छोड़कर मुक्त होते हैं। ईश्वर की मुक्तता इनसे भिन्न है। ईश्वर तो सदैव से मुक्त है वह कभी भी किसी भी काल में बन्धनयुक्त नहीं रहा है अतः उसकी मुक्ति नित्यमुक्ति है।[2]

ईश्वर में भोक्तृत्वादि का भी व्यपदेश नहीं हो सकता क्योंकि सभी व्यक्तियों के अन्दर जो पुरुष-तत्त्वविद्यमान है उसमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेशों, धर्म-अधर्म-रूप कर्मों, उनके विपाकों तथा विपाकों से बनने वाले कर्माशयों के भोग का व्यपदेश होता है क्योंकि यद्यपि चितिशक्ति असंग है फिर भी व्युत्थानकाल में बुद्धि से सम्पर्क बने रहने के कारण वह बुद्धिगत सुखदुःखों का भोक्ता कहा जाता है। परन्तु ईश्वर में क्लेशों तथा वासनाओं का व्यपदेश मात्र भी नहीं होता क्योंकि ईश्वर का बुद्धिगत सुखदुःखादि से सम्पर्क नहीं होता।

---

1 - "यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः।" — व्यासभाष्य पृ0 66।

2 - "कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः। ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते, नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः संभाव्यते, नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति।" — वही पृ0 66।

ईश्वर ऐश्वर्ययुक्त है । ईश्वर का ऐश्वर्य साम्य और अतिशय से विनिर्मुक्त है । इसके समान ऐश्वर्य न तो किसी और का है और न इससे बढ़कर कोई अन्य ऐश्वर्य है अतः शास्त्रों में कहा गया है कि ईश्वर का ऐश्वर्य साम्यातिशय-विनिर्मुक्त है[1] । ईश्वर के इस ऐश्वर्य का प्रमाण हमें शास्त्रों से मिलता है । पुनः यह पूछा जा सकता है कि इन शास्त्रों की क्या प्रमाणिकता है ? उत्तर है — ईश्वर ही इन शास्त्रों का प्रमाण है । इस प्रकार ईश्वर के ऐश्वर्य और शास्त्र के बीच नित्य संबन्ध है । ईश्वर का उत्कर्ष इनका वाच्य है इस प्रकार ईश्वर और शास्त्रों में वाच्य-वाचक भाव संबन्ध भी सिद्ध होता है । यह संबन्ध भी नित्य सिद्ध है क्योंकि प्रत्येक 'सृष्टि' में ईश्वर के ऐश्वर्य का स्वरूप इन शास्त्रों के द्वारा ही जाना जाता है । ईश्वर का ज्ञान की पराकाष्ठा है क्योंकि ईश्वर को भूत, वर्तमान और भविष्य का अतीन्द्रिय ज्ञान रहता है । ईश्वर की दया-वृष्टि प्राणियों के ऊपर निष्कामभाव से होती है इसी बात को ध्यान में रखते हुए भाष्यकार ने लिखा है — "तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम् ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति ।" पृ0 66. योगशास्त्र के अनुसार ईश्वर अवतार नहीं धारण करता है। प्राणियों की रक्षा के लिए अपने संकल्प मात्र से जीवों का उद्धार करता है । ईश्वर अनादि है, सर्वव्यापी है, वह सभी गुरुओं का भी गुरु है क्योंकि ईश्वर का काल से अवच्छेद नहीं होता वह त्रिकालाबाधित है सभी सृष्टि में वह पूर्व से विद्यमान माना जाता है अतः अब तक जितने भी गुरु हुए हैं उन सभी का यह गुरु है ।

---

1 — "[illegible] स ईश्वरः स एव मुक्त इति । तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्, न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते ।"

— व्यासभाष्य पृ0 67 ।

तत्त्ववैशारदी

ईश्वर न तो चेतन है और नही अचेतन है बल्कि ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाकाशयों से अपरामृष्ट पुरुष विशेष है । ईश्वर सदैव मुक्त है । वह भूत वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में सभी प्रकार के बन्धनों से रहित है । यहाँ पर वाचस्पतिमिश्र ने प्रकृतिलय-प्राप्त तथा विदेहप्राप्त तथा कैवल्यप्राप्त योगियों से तुलना करते हुए यह विवेचन प्रस्तुत किया है कि जब योगी कैवल्य प्राप्ति के पूर्व बन्धन में अवश्य रहते हैं । अपनी साधना के बल पर बन्धनों को दूर कर कैवल्य को प्राप्त करते हैं । परन्तु ईश्वर तो सदैव से मुक्त है कभी भी बन्धनों का स्पर्श ईश्वर को नहीं हुआ इसीलिए ईश्वर को पुरुष-विशेष तथा सदैव-मुक्त कहा गया है ।[1]

ईश्वर प्रकृष्टसत्त्व को धारण करता है परन्तु ईश्वर के सत्त्व में अविद्या का लेशमात्र भी सम्पर्क नही होता है । ईश्वर अपनी इच्छा से प्राणियों का उद्धार करता है यह उद्धार की क्रिया, ज्ञान धर्म के उपदेश द्वारा सम्पन्न होती है । इस ज्ञान और धर्म का उपदेश हमें शास्त्रों के द्वारा प्राप्त होता है ।[2]

ईश्वर सृष्टि और संहार की क्रिया अपनी इच्छानुसार करता है । इस कार्य से ईश्वर की विशिष्टता में तथा ऐश्वर्य में कोई अन्तर नही आता । ईश्वर का उत्कर्ष शाश्वत् है । महाप्रलय के समय भी ईश्वर का चित्तसत्त्व प्रधान में विलीन नहीं होता क्योंकि ईश्वर का ऐश्वर्य, उत्कर्ष, शाश्वत है हमेशा रहने वाला है । अतः वह प्रकृति में विलीन नहीं होता ।[3]

---

1 - " इह तु पूर्वापरकोटिनिषेध इति । सोऽपि यदि विशेषं पश्यति स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति ।"
--- त०वै०पृ० 68 ।

2 - " न चेश्वरस्य सत्त्वमुपादायाविद्याप्रभवत्वात् ... सह सम्बन्धः ... संकल्पः सम्भवतीत्यत उक्तम् - प्रकृष्टसत्त्वोपादानादिति । ... तापत्रय - परीतान्प्राणभृतो महतो ... अनुग्रहीष्यामि ज्ञानधर्मोपदेशेन ।"
—— वही पृ० 68 ।

3 - " अनादौ तु सर्गसंहारप्रबन्धे सर्गान्तरसमुत्पन्नबीजहेतुभावावधिसमये पूर्णे मया सत्त्वप्रकर्षोऽपादेयः इति प्रणिधानं कृत्वा भगवाञ्जगत्संजहार --- न चेश्वरस्य चित्तसत्त्वं महाप्रलयेऽपि न प्रकृतिसाम्यमुपैतीति वाच्यं ।"
— वही पृ० 68 ।

प्रश्न उठता है कि ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष का क्या प्रमाण है ? उत्तर देते हुए कहते हैं - ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष का प्रमाण शास्त्र है । इस शाश्वतिक उत्कर्ष का कारण शास्त्र नहीं है । उसका कारण प्रकृष्ट-सत्त्व है । शास्त्र का प्रमाण प्रकृष्ट सत्त्व है साथ ही शास्त्र का कारण भी प्रकृष्ट-सत्त्व है । इस प्रकार शास्त्र और शाश्वतिक उत्कर्ष में अन्योन्याश्रय दोष नहीं है क्योंकि शास्त्र का कारण अथवा आश्रय प्रकृष्टसत्त्व है , शाश्वतिक उत्कर्ष नहीं । जब कि शाश्वतिक उत्कर्ष का कारण या आश्रय शास्त्र नहीं है । आश्रय रूप में दोनों स्थलों पर प्रकृष्ट सत्त्व ही प्रतीत है अर्थात शास्त्र और शाश्वतिक उत्कर्ष दोनों का कारण प्रकृष्टसत्त्व है न कि ये परस्पर एक दूसरे के कारण हैं । शास्त्र स्वतः प्रामाण्य हैं क्योंकि मन्त्र आयुर्वेद को व्यवहार में लाने पर यह देखा जाता है कि ये शास्त्र अपनी सच्चाई का प्रमाण स्वयं देते हैं । अतः इसके लिए वाचस्पतिमिश्र ने ठीक ही लिखा है कि 'प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थाव्यभिचारविनिश्चयात्प्रामाण्यं सिद्धम् । ' अतः यह स्पष्ट है कि इन शास्त्रों की प्रामाणिकता ईश्वर से नहीं सिद्ध होती अपितु स्वयं सिद्ध है । परन्तु कारण की दृष्टि से ईश्वर का प्रकृष्ट सत्त्व इन शास्त्रों का कारण है । ईश्वर का प्रकृष्टसत्त्व रजो, तमो गुणों के मलों से रहित निर्मल शुद्ध तथा प्रकृष्टस्वरूप प्रकाशमान है अतः उसका सत्त्वोत्कर्ष इतना अधिक उच्च कोटि का है कि उसमें रजोगुण तमोगुण का लेश मात्र भी नहीं होता । इसीलिए ईश्वर के सत्त्व को प्रकृष्टसत्त्व कहा गया है ।

- -

1 - " न चेश्वरप्रत्ययमन्तरेण शास्त्रमिति युक्तम् । कल्पादिष्वपि ध्रुवं भूयादरोत्पर्यवसानायेति भावः । परिहरति प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम् । "
— त०वै० पृ० 6[illegible] ।

राजमार्तण्डवृत्ति

अविद्यादि क्लेशों से विहित, प्रतिषिद्ध और व्यामिश्र रूप कर्मों, कर्मों के विपाक तथा कर्माशय संस्कारों से तीनों कालों में अपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर है।[1] ईश्वर अपनी इच्छा मात्र से सारे जगत की सृष्टि और उद्धार करने में समर्थ है।[2] यद्यपि सभी संसारी पुरुषों में निहित आत्मतत्त्व भी उसी का अंश है परन्तु बुद्धि से संयुक्त होने के कारण इन आत्माओं में क्लेश, कर्माशयादि का व्यपदेशमात्र तो होता ही है, परन्तु ईश्वर में क्लेशादि का व्यपदेशमात्र भी नहीं होता, क्योंकि ईश्वर का बौद्धिक वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं होता अतः तीनों कालों में भी उसका क्लेशादि से कोई सम्पर्क नहीं होता । अतः वह ईश्वर विलक्षण है अर्थात् विशेष लक्षणों वाला है ।

ईश्वर की विशिष्टताएँ —

1) ईश्वर का सत्त्वोत्कर्ष अनादि है ।

2) ईश्वर सदा मुक्त है अतः मुक्ति प्राप्त किए जीवों से उसकी कोई समानता नहीं है ।

3) ईश्वर एक है अनेक नहीं ।

4) ईश्वर का ऐश्वर्य अपनी पराकाष्ठा पर है । उसके ऐश्वर्य की कोई सीमा नहीं है । वह त्रिकालाबाधित नित्य तत्त्व है ।

5) ईश्वर अपने दयालु स्वभाव के कारण सृष्टि के अन्त में प्राणियों का उद्धार करता है ।

- -

1 - " क्लिश्नन्तीति क्लेशा अविद्यादयो वक्ष्यमाणाः । विहितप्रतिषिद्ध व्यामिश्ररूपाणि कर्माणि । विपच्यन्त इति विपाकाः कर्मफलानि जात्यायुर्भोगाः । आफल-विपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशया वासनाख्याः संस्कारास्तैरपरामृष्टस्त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृष्टः । पुरुषविशेषः — अन्येभ्यः पुरुषेभ्यो विशिष्यत इति विशेषः ।"

— राजमार्तण्डवृत्ति पृष्ठ 63 ।

2 - " ईश्वर ईशनशील इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरण क्षमः ।"

— वही पृ० 63 ।

6) ईश्वर सर्वज्ञ है । उसकी सर्वज्ञता सृष्टि के आदि से अन्त तक विद्यमान है । उससे बढ़कर कोई ज्ञानी नहीं है । ईश्वर ब्रह्मादि का भी गुरु है[1] ।

7) ईश्वर का ऐश्वर्य ज्ञानबल से प्राप्त नहीं प्रत्युत स्वाभाविक है । ईश्वर शाश्वत सत्ता है उसका ज्ञान और ऐश्वर्य भी शाश्वत है ।

8) ईश्वर का वाचक 'प्रणव' या 'ओंकार' है । वाचक और वाच्य का संबन्ध नित्य है । चूंकि ईश्वर नित्य है अतः उसका वाचक शब्द भी नित्य होगा । परिणामस्वरूप वाच्य ईश्वर और वाचक प्रणव का संबन्ध भी नित्य है[2] । इस प्रकार योगदर्शन में प्रतिपादित ईश्वर अपनी विशिष्टताओं के कारण ही पुरुष विशेष कहा गया है ।

- -

1. " आद्यानां गुरूणां ब्रह्मादीनामपि स गुरुरुपदेष्टा ।"
— रा०मा०वृ० पृ० 70 ।

2. " वाच्यवाचकभावलक्षणः संबन्धो नित्यः ।"
— वही पृ० 73 ।

6) ईश्वर सर्वज्ञ है । उसकी सर्वज्ञता सृष्टि के आदि से अन्त तक सिद्ध है । उससे बढ़कर कोई ज्ञानी नहीं है । ईश्वर ब्रह्मादि का भी गुरु है[1] ।

7) ईश्वर का ऐश्वर्य ज्ञानबल से प्राप्त नहीं प्रत्युत स्वाभाविक है । ईश्वर शाश्वत सत्ता है उसका ज्ञान और ऐश्वर्य भी शाश्वत है ।

8) ईश्वर का वाचक 'प्रणव' या 'ओंकार' है । वाचक और वाच्य का संबन्ध नित्य है । चूंकि ईश्वर नित्य है अतः उसका वाचक शब्द भी नित्य होगा । परिणामस्वरूप वाच्य ईश्वर और वाचक प्रणव का संबन्ध भी नित्य है[2] । इस प्रकार योगदर्शन में प्रतिपादित ईश्वर अपनी विशिष्टताओं के कारण ही पुरुष विशेष कहा गया है ।

- -

1 - " आद्यानां पूर्वेषां ब्रह्मादीनामपि स गुरुरुपदेष्टा ।"

— रा० मा० वृ० पृ० 70 ।

2 - " वाच्यवाचकभावलक्षणः संबन्धो नित्यः ।"

— वही पृ० 73 ।

विवरण

" ईश्वर " को पुरुष विशेष कहा गया है । 'ईश्वर' क्लेश, कर्म और विपाकाशयों से तीनों कालों में अपरामृष्ट है । सामान्यपुरुषों में कुछ पुरुषों का इन क्लेशों से संबन्ध जीवनपर्यन्त बना रहता है, कैवल्याभिलाषी योगी का मोक्ष की अवस्था के पूर्व काल में इन क्लेशों से संबन्ध बना रहता है, परन्तु ईश्वर ही एक ऐसा तत्त्व है जो तीनों कालों में इन क्लेशों से असंपृक्त रहता है[1] । 'अपरामृष्ट' का अर्थ विवरणकार ने 'असम्बन्ध' किया है । ईश्वर का क्लेशादि से किसी भी काल में कोई संबन्ध नहीं होता है[2] । वह सदैव मुक्त है ।

ईश्वर का ऐश्वर्य नित्य, निरतिशय तथा अन्य सभी ऐश्वर्यों से उत्कृष्ट प्रकार का ऐश्वर्य है[3] । प्रश्न उठता है कि ईश्वर का ऐश्वर्य सनिमित्त है या निर्निमित्त । 'निमित्त' शब्द को इन्होंने 'कारण' का पर्याय माना है जब कि अन्य व्याख्याकारों यथा, भाष्यकार, वाचस्पतिमिश्रादि ने 'निमित्त' शब्द को 'प्रमाण-वाची' माना है । विवरणकार का कहना है कि 'ईश्वर' के प्रकृष्टसत्त्व को न तो 'सकारण' माना जा सकता है और न ही निष्कारण, क्योंकि यदि ईश्वर के प्रकृष्टसत्त्व को सकारण मानते हैं तो ईश्वर की स्वरूपगत विशिष्टता अर्थात् 'सर्वेश्वरत्व' की हानि होती है और यदि ईश्वर के प्रकृष्टसत्त्व को निष्कारण अथवा निर्निमित्त मानते हैं तो स्वभाववादजन्य दोष की सम्भावना होती है ।

- -

1 - " न कालत्रितये, उपलक्षणार्थत्वं -- न परामृश्यते, नापि परामृश्यते- नापि परामृष्ट इति । "

— विवरण पृ0 54 ।

2 - " क्लेशकर्मविपाकाशयासंबन्धी (त्रयोऽपि) सर्वः ।"

— वही पृ0 54 ।

3 - " निरतिशयसर्वसामर्थ्यं सर्वेश्वर्यमतिशयवत्सर्वः ।"

— वही पृ0 54 ।

ईश्वर का प्रकृष्ट सत्त्व निष्कारण नहीं है। शास्त्र इसका निमित्त कारण है। 'शास्त्र' का तात्पर्य है 'ज्ञान'। शास्त्र के द्वारा ही हमें ईश्वर के उत्कृष्टसत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है अतः ईश्वर के उत्कर्ष को सनिमित्त माना जाता है। ईश्वर के उत्कर्ष और शास्त्र में परस्पर बीजाङ्कुरवत् अनादिसम्बन्ध है[1]। अतः यहाँ पर ईश्वरोत्कर्ष को ज्ञान (शास्त्र) का कार्य और 'शास्त्र' को 'ईश्वरोत्कर्ष' का कारण माना है[2]। शास्त्र और 'ईश्वरोत्कर्ष' में परस्पर प्रमाण-प्रमेय रूप अनादि सम्बन्ध है[3]। ईश्वर के उत्कर्ष का ज्ञान यद्यपि हमें शास्त्रों से ही प्राप्त होता है परन्तु ईश्वर का ज्ञान अनुमान प्रमाण के द्वारा होता है[4]।

'ईश्वर' के उत्कर्ष की सकारणता को सिद्ध करने के उपरान्त उसके ऐश्वर्य की विशेषताओं का वर्णन किया गया है। 'ईश्वर' का ऐश्वर्य 'साम्यातिशयविनिर्मुक्त' है। ईश्वर के ऐश्वर्य के समान प्रकृष्ट ऐश्वर्य और कोई नहीं है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए विवरणकार ने ईश्वर के स्वरूप का उल्लेख अधोलिखित पंक्तियों में किया है :— "

" तस्माद्यस्य साम्यातिशय विनिर्मुक्त[5] मैश्वर्यं स ईश्वर इति प्रधानपुरुष व्यतिरिक्तः पुरुषविशेषमीश्वरः सिद्धः ।"

- -

1 - " तत्र यथैव ज्ञानसंस्कारस्मृति प्रबन्धानामन्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन बीजाङ्कुरवदनादिसम्बन्धः ।"

— विवरण पृ0 55 ।

2 - " तदुत्कर्षो ज्ञानस्य कार्यमेव । ज्ञानमपि तस्य कारणमेव ।"

— वही पृ0 55 ।

3 - " एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोः प्रमाणप्रमेयसम्बन्धो निरवद्यमनः संबन्धः ।"

— वही पृ0 56 ।

4 - " ईश्वरप्रामाण्यस्यानुमानेन सिद्धावबोधः ।"

— वही पृ0 56 ।

5 - " द्रष्टव्य — विवरण पृ0 57 ।

ईश्वर निरतिशय तथा सर्वज्ञता का बीज है । इसके ज्ञान की कोई सीमा नहीं है । वह अतीन्द्रिय ज्ञानवान् है । 'अतीन्द्रियज्ञान' का[1] अर्थ है अतीत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान । ईश्वर ही एकमात्र ऐसा ज्ञाता है जिसे उक्त तीनों कालोंका सर्वथा ज्ञान रहता है । ईश्वर, ज्ञान की प्रकृष्टपराकाष्ठा है । इसीलिए उसे सर्वज्ञ कहा गया है ।

ईश्वर ही इस संसार का निर्माता है, पालक है और संहार कारक है[2] । ईश्वर में ही ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है इसीलिए उसे "परमेश्वर" की भी संज्ञा दी गई है । ईश्वर का ज्ञान प्रकृष्ट ज्ञान है, उसमें विपर्ययात्मिका लेश मात्र भी आभास नहीं होता । ईश्वर दयालु है । प्राणियों पर अनुग्रह कर उन्हें अविद्यादि पङ्क से विनिर्मुक्त कर धर्म और ज्ञान का उपदेश देता है और उनका इस संसार से उद्धार करता है । ईश्वर ही सभी प्राणियों को उनके कर्मों के अनुसार फल देता है[3] । ईश्वर की इन सभी विशेषताओं का ज्ञान, आगम और अनुमान प्रमाण से होता है ।

- -

1 - " अतीन्द्रियप्रत्यक्षं त्रिविषयम् — सूक्ष्मविषयं व्यवहितविषयं विप्रकृष्टविषयं च ।" - - - स सर्वज्ञः सिद्धः ।"

— विवरण पृ0 57 ।

2 - " तेन जगन्निर्माणस्थापनोपसंहारादिकर्तृत्वसिद्धिः । सर्वैश्वर्याणामपि वर्धमानस्य यत्र काष्ठाप्राप्तिः, स परमेश्वरः । तत्रैव ज्ञानस्यापि विपर्ययदोषाभावसिद्धिः ।"

— वही पृ0 57 ।

3 - " तस्मात् प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः सर्वप्राणिगतकर्मफलपरिपाकज्ञानात्तदनुग्रहकारणम् ईश्वरः सिद्धः । स प्रकृष्टसत्त्वोपादान ईश्वरः कथं कर्ता ? कथं चानुगृह्णाति ? इत्येतदपि न चोदयितव्यम् । आगमतः पर्यन्वेष्य वस्तुगतत्वात् । अनुमानस्य च तद्विषयव्याप्त्यनुपपत्तेः विशेषसम्बन्धाग्रहणमिति ।"

— वही पृ0 73 ।

योगवार्तिक –

विज्ञानभिक्षु ने ईश्वर को पुरुष विशेष मानते हुए ईश्वर को पुरुष से सर्वथा पृथक नहीं माना है । योगवार्तिक में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि – " तथा चेश्वरस्य पुरुषेऽन्तर्भावमनुपाधेः प्रधाने चेति भावः ।" यो०वा०पृ० 70।
अर्थात ईश्वर का अन्तर्भाव पुरुष में और उसकी उपाधि का अन्तर्भाव प्रधान में होना चाहिए। ईश्वर सामान्य पुरुष नहीं है । वह पुरुष-विशेष है । विशेषता इस बात की है कि साधारण पुरुषों में क्लेशों, कर्मों, विपाकों का व्यपदेश होता है क्योंकि प्रत्येक पुरुष की बुद्धि तद्-तद् कर्मों में अनुरक्त रहती है। अतः यद्यपि वह पुरुष भी असंग माना गया है परन्तु विविध प्रकार की वृत्तियों से युक्त, बुद्धि के कारण इन सांसारिकक्लेशों का व्यपदेश पुरुष में होता रहता है परन्तु ईश्वर में इन क्लेश कर्मादि का व्यपदेशमात्र भी नहीं होता अतः ईश्वर को विशेष पुरुष कहा गया है ।[1]

ईश्वर सदैव मुक्त है[2] । कैवल्य प्राप्त योगियों से ईश्वर के कैवल्यावस्था की तुलना नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर में त्रैकालिक परामर्शशून्यता है जब कि योगी अपने अतीत काल में बद्ध अर्थात् क्लेशों से परामृष्ट रहता है ।

- -

1 – " ते हि हिरण्यगर्भादयः प्राकृतिकानि बन्धनानि पूर्वं छित्त्वैव मुक्ताः, न तु क्लेशादि परामर्शशून्याः, ईश्वरस्तु सर्वदैव क्लेशात्मक बन्धन शून्यस्तथा मुक्तादि विमुख इत्यर्थः । ईश्वरस्य सदा क्लेशादि शून्यत्वेमानम् " ।
— यो०वा० पृ० 72।

2 – " सदैवमुक्त इति । मुक्तामुक्त इत्यर्थः।। सदैवेश्वर इति । "
— वही पृ० 72।

ईश्वर का ऐश्वर्य सभी ऐश्वर्य से बढ़कर है । ईश्वर की उपाधि - प्रकृष्टकोटि की है । ईश्वर की उपाधि- शाश्वत तथा नित्य है । सृष्टि और संहार नामक उपाधियाँ ही ईश्वर की उपाधि है । ईश्वर अपनी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति से सृष्टि और संहार का चक्र चलाता रहता है । ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण हमें शास्त्रों में प्राप्त होता है और शास्त्रों की प्रमाणिकता स्वयंसिद्ध मानी गयी है अतः ईश्वर और शास्त्रों की प्रमाणिकता के संबन्ध में अन्योन्याश्रय दोष नहीं पाया जाता है ।

ईश्वर कोई अवतार नहीं लेता । ईश्वर ब्रह्मा, विष्णु, शंकर का भी गुरु है । ईश्वर को सृष्टिकर्ता कहा गया है । कारण वही प्रकृति की साम्यावस्था को संक्षुब्ध कर सृष्टि के लिए समर्थ बनाता है । विज्ञानभिक्षु ने ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में स्वीकार किया है । इसके साथ ही साथ विज्ञानभिक्षु ने ईश्वर को निर्गुण भी कहा है । निर्गुण इस लिए कि ईश्वर गुणों के अभिमान से शून्य है इस विवेचन को पुष्ट करने के लिए, ही गीता से उध्दरण भी दिया गया है —

" परस्तु निर्गुणः प्रोक्तो ह्यहंकारयुतोऽपरः । "

योगदीपिका

'ईश्वर' का लक्षण-प्रतिपादक सूत्र के शब्दों में ही भावागणेश ने पुरुष के स्वरूप की विवेचना की है। क्लेश, कर्म, विपाक, आशय इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि इन सबसे भूत, वर्तमान और भविष्य में अपरामृष्ट पुरुष-विशेष 'ईश्वर' है। ईश्वर जीवों अर्थात् आत्माओं से पृथक् है, विशिष्ट है क्योंकि यद्यपि जीवात्मा भी क्लेशादि से शून्य है, परन्तु अविविक्त होने के कारण क्लेशादि का इन जीवात्माओं में व्यपदेश होता ही है। ईश्वर में क्लेशादि का व्यपदेश मात्र भी नहीं होता।

ईश्वर का ज्ञान निरतिशय है। ईश्वर अन्तर्यामी है, वह हिरण्यगर्भादि का भी गुरु है, गुरु होने के कारण ईश्वर को ज्ञान चक्षु प्रदान करने वाला भी कहा गया है। वह विश्वात्मा, अधिकारी है, भावागणेश, स्मृति-सम्मत सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए ईश्वर के संबन्ध में लिखते हैं कि जीवकार्योपाधि है और ईश्वर कारणोपाधि है।[1] भावागणेश ने 'ईश्वर' के स्वरूप के संबन्ध में वेदान्त दर्शन के वर्णन को भी स्वीकार किया है।

- -

1- "कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।" इति स्मृतेः।

— योगदीपिका पृ0 20 ।

क्लेश, कर्म, विपाकों तथा कर्माशयों से अपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर है । ईश्वर सदैव मुक्त है । कैवल्य प्राप्त मुक्त जीवों से ईश्वर का मोक्ष नितान्त पृथक है । केवली की मुक्ति भूतकाल में नहीं होती अर्थात् मोक्ष के पूर्व वे बद्ध रहते हैं परन्तु पुरुष किसी भी काल में बद्ध नहीं रहता है । वह तो सदा से ही विनिर्मुक्त है । वह तीनों कालों में क्लेशादि से असंस्पृष्ट होता हुआ मुक्त रहता है[1] ।

ईश्वर अपनी इच्छा मात्र से इस संसार का उद्धार करने में समर्थ है[2] । इस कार्य का सम्पादन ईश्वर ज्ञान, क्रिया और शक्ति द्वारा करता है । रजस, तमस रहित, विशुद्ध सत्व के प्रकर्ष से ही पुरुष प्राणियों का उद्धार करता है । सत्वगुण का परिग्रहण कर ईश्वर सृष्टि का कार्य करता है और तमोगुण का परिग्रहण कर संहार करता है । इन गुणों का ग्रहण कर लेने से ईश्वर के वास्तविक रूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । इस संबन्ध में शेष वर्णन भावागणेश की व्याख्या की ही तरह है ।

- -

1 - " कालत्रयेऽप्यपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इत्यर्थः ।"
— पा०यो०सू०वृ० पृ० 19 ।

2 - " ईश्वरश्च स्वेच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमत्वम् ।"
— वही पृ० 19 ।

क्लेश, कर्म, विपाकों तथा कर्माशयों से तीनों कालों में भी असम्बद्ध "पुरुष" "विशेष" ईश्वर" है।[1] "विशेष" शब्द द्वारा ईश्वर की मुक्ति की विशिष्टता दिखाई गई है। मुक्तजीव मुक्ति के पहले बन्धन में आबद्ध रहते हैं अतः उनका मोक्ष तीनों कालों में नहीं होता परन्तु ईश्वर तो स्वभाव से ही शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। वह तो सदा से मुक्त है अतः उसकी मुक्ति किसी काल विशेष से संबद्ध नहीं है यही कारण है कि ईश्वर की मुक्ति अन्य साधकों की मुक्ति से पृथक और विशिष्ट है। ईश्वर प्राकृत, वैकारिक और दक्षिणाबन्ध इन तीनों बन्धनों से सर्वथा अस्पृष्ट है। इन तीनों प्रकार के बन्धनों का वर्णन इस प्रकार से किया गया है।[2]

<u>प्राकृतबन्धन</u> – प्रकृति में लीन होने वालों का बन्धन प्राकृत बन्धन कहलाता है।

<u>वैकारिकबन्धन</u> – भूतेन्द्रियों में तथा प्रकृति के विकारों में लीन होने वालों का बन्धन वैकारिक बन्धन है।

<u>दक्षिणाबन्ध</u> – यह बन्धन देवताओं तथा संसारी मनुष्यों को होता है।

ईश्वर इन तीनों प्रकार के बन्धनों से तीनों कालों में विनिर्मुक्त है

- -

1 – "क्लेशादिभिरसम्बद्धः 'अपरामृष्टः' सांसारिकः पुरुषविलक्षणविवेकेन भोक्तृत्वात् तैः कालत्रयेऽप्यसम्बद्धः 'पुरुष' 'ईश्वरः' 'विशेष' पदेन कालत्रयासम्बन्धभाविना मुक्तजीवेभ्यो व्यावृत्तिः कृता।"

— मणिप्रभा पृ० 12।

2 – "प्रकृतौ लीनानां प्राकृतो बन्धः। भूतेन्द्रियेषु विकारेषु लीनानां विदेहानां वैकारिकः। अन्येषां देवनरादीनां दक्षिणाबन्धः।"

— वही पृ० 12।

यही उसकी विशेषता है जिसके कारण उसे 'विशेष' 'पुरुष' कहा गया है ।

ईश्वर निरतिशय ज्ञान, क्रिया और शक्ति से सम्पन्न है । ईश्वर शुद्ध सात्त्विक चित्त से सम्पन्न है । अपने इस सात्त्विक चित्त द्वारा वह संसार समुद्र में पड़े हुए दुःखी प्राणियों का उद्धार करता है । प्राणियों के उद्धारार्थ वह ज्ञान और धर्म का उपदेश देता है । इस क्रिया का संपादन ईश्वर सात्त्विक चित्त से ही करता है । इस प्रकार सात्त्विक चित्त की उपादेयता सिद्ध होती है क्योंकि बिना सात्त्विकचित्त की सहायता के ईश्वर ज्ञानधर्मोपदेशरूप कार्य करने में समर्थ नहीं होता । यह सारा कार्य ईश्वर अपने संकल्प से करता है ।

ईश्वर के चित्त सत्त्व के विषय में एक प्रश्न किया जा सकता है कि ईश्वर के इस चित्तसत्त्व का क्या नाम है ? इसका स्पष्टीकरण व्याख्याकार ने इन शब्दों में किया है । ईश्वर का चित्त सत्त्व स्वाभाविक ज्ञान क्रिया शक्ति से संपन्न है अर्थात सामान्य पुरुषों का चित्त जड़ होता है । उसमें ज्ञान, क्रिया और शक्ति का संचार पुरुष के सम्पर्क से चितिच्छायापत्ति पड़ने पर होता है । बिना पुरुष के सान्निध्य के चित्त जड़, अचेतन रहता है परन्तु ईश्वर का चित्त सत्त्व स्वाभाविक रूप से ज्ञान, क्रिया और शक्ति से संपन्न होता है ।

- -

1 - " स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च एष सर्वेश्वर" इत्यादिवेदवाक्येभ्यः सिद्धः । "

— मणिप्रभा पृ0 13 ।

निरतिशय ज्ञान से संपन्न ईश्वर ने ही वेद की रचना की है । ऐसा शास्त्रों से प्रमाण मिलता है । ईश्वर की सर्वज्ञता वेदों से प्रमाणित होती है[1] । ईश्वर का काल से अवच्छेद नहीं हो सकता । वह सदा से है । ईश्वर ने ही ब्रह्मादि की भी रचना की है[2] । अतः यह सर्वप्रकारेण सिद्ध है कि ईश्वर सर्ग के आदि के पूर्व से ही विद्यमान है अर्थात् ईश्वर अनादि और अनन्त है ।

<u>सूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका</u>

ईश्वर का स्वरूप निर्धारण इस व्याख्या में मणिप्रभा तथा भाष्यकार व्यास के समान किया गया है । ईश्वर की विशेषता का उल्लेख मणिप्रभा के सदृश किया गया है और ईश्वर के स्वरूप का विवेचन भाष्यकार की भाँति किया गया है ।

- -

1 - " वेदप्रामाण्यादिसिद्धः सर्वज्ञ ईश्वरः । "

— मणिप्रभा पृ0 14 ।

2 - " यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । " इत्यादयः ।

— वही पृ0 14 ।

योग शास्त्र में दो नित्य तत्त्व माने गए हैं । प्रधान और पुरुष । ईश्वर को यदि प्रधान के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं तो ईश्वर की चेतनता बाधित होती है । ईश्वर चिन्तन है और प्रधान 'जड़' है । अतः 'चेतन' 'ईश्वर' की परिकल्पना प्रधान में नहीं हो सकती । ईश्वर को पुरुषतत्त्व के अन्तर्गत भी नहीं स्वीकार किया जा सकता कारण लौकिक पुरुष में कर्तृत्व, भोक्तृत्व का आरोप होने से उसमें चित्त द्वारा अर्जित क्लेश, कर्म, विपाकाशयों का व्यपदेश भी होता है परन्तु ईश्वर में क्लेशादि का व्यपदेशमात्र भी नहीं होता है । वह इन सबसे अपरामृष्ट 'पुरुष विशेष' है ।

'ईश्वर ' की विशिष्टता संबन्धी, एक पृथक और विशेष विवेचन भास्वतीकार ने प्रस्तुत किया है । इनके अनुसार ईश्वर जो कि क्लेशादि से सर्वथा अपरामृष्ट है, उसका यथार्थ विद्यामूलक निर्माण चित्त से कदाचित होता है । ईश्वर अपने शरण में आए हुए विवेकार्थी योगियों को ज्ञान का उपदेश विद्यामूलक निर्माण चित्त द्वारा ही देता है । इस विशुद्ध सत्त्व द्वारा निर्मितचित्त का ईश्वर से परामर्श होने पर भी ईश्वर के नित्यत्व में कोई बाधा नहीं होती । विद्यामूलक निर्माण चित्त का ईश्वर से संपर्क होना भी उसकी विशेषता का ही द्योतक है ।

ईश्वर नित्यमुक्त है । उसकी मुक्ति त्रिकालों से अबाधित है अर्थात् वह भूत, वर्तमान, और भविष्य सभी काल में सदा मुक्त रहता है। नित्यमुक्त

- -

1 - "किन्तु विद्यामूलनिर्माणचित्तेन कदाचित् परामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः ।"

भास्वती पृ0 66 ।

ईश्वर की तुलना जीवन्मुक्त प्रकृतिलीन और विदेहों से नहीं की जानी चाहिए । कारण इनमें से कुछ मुक्ति के पूर्व बँधे रहते हैं बाद में मुक्त होते हैं, कुछ भविष्य में पुनः बन्धनयुक्त हो जाते हैं अर्थात् ये तीनों कालों में मुक्त नहीं होते । इसके विपरीत ईश्वर ही एक ऐसी सत्ता है जो सर्वदा सभी कालों में मुक्त है, ईश्वर ही नित्यमुक्त है ।

ईश्वर ऐश्वर्यवान है । 'ज्ञानक्रियाशक्ति' रूपी संपत्ति ही ईश्वर का ऐश्वर्य है[1] । सर्वज्ञता की पराकाष्ठा ईश्वर में ही है । इसी लिए ईश्वर को सर्वज्ञता का बीज कहा गया है । इसका ऐश्वर्य साम्य और अतिशय से विनिर्मुक्त है । अर्थात् ईश्वर निरतिशयऐश्वर्य से युक्त है । ईश्वर के ऐश्वर्य के लिए सृष्टि और संहार के कार्य का उसमें अनुमान करना न्यायसंगत नहीं है । सृष्टि और संहार के कार्य का कारण अपर ब्रह्म हिरण्यगर्भ है । हिरण्यगर्भ जगत की सृष्टि, पालन और संहार करता है । सृष्टि, स्थिति और विनाश के लिए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूप देवताओं का अनुमान किया गया है । इस प्रकार भास्वतीकार के मतानुसार सृष्टिसंहार की क्रिया का सम्पादक ईश्वर नहीं हिरण्यगर्भ है[2] ।

ईश्वर की विशिष्टता उसके दयालु स्वभाव के कारण भी सर्वविदित है । ईश्वर सर्वज्ञ है तथा दयालु है । अपने इसी विशेष स्वभाव के कारण वह दयावश शरण में आए हुए योगियों को ज्ञान और धर्म का उपदेश देकर उनकी रक्षा करता है[3] । ईश्वर एक है । ब्रह्मादि देवता अनेक हैं[4] । ईश्वर के विलक्षणत्व के शाश्वत उत्कर्ष का प्रमाण शास्त्रों से प्राप्त होता है । ईश्वर का वाचक प्रणव है ।

- -

1 - " स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः इति,भगवानेवानादिप्राप्ता एव नित्यमुक्तपुरुषाः समाख्याता इति,अर्थः । "

-- भास्वती पृ0 66 ।

2 - " स च भगवान परमेश्वरो जगद्व्यापारालिप्तो नित्यमुक्तत्वात्, मुक्तपुरुषस्य जगत्सर्जनमनुपपन्नं शास्त्रव्यापकोपपन्नं जगत्सर्जनपालनादिकार्यं भवति ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य । "

-- वही पृ0 73 ।

3 - " ईश्वरस्य कार्यं ज्ञानधर्मोपदेशेन संसारिणां पुरुषाणामुद्धरणम् ।"

-- वही पृ0 77 ।

4 - " ईश्वर एक एव ब्रह्मादयो देवा असंख्याताः ।"

-- वही पृ0 79 ।

इस व्याख्या में ईश्वर के लिए 'परमेश्वर' शब्द का भी प्रयोग हुआ है[1]। परमेश्वर अविद्यादिपंचक्लेशों, शुक्ल, कृष्ण और अशुक्लकृष्ण रूप तीनों प्रकार के कर्मों तथा उनके धर्म-अधर्म रूप फलों से और जन्म-भोगायुरूप वासनाओं से कभी भी किसी भी काल में स्पृष्ट नहीं होता है[2]। क्लेशकर्मविपाकाशय चित्त के धर्म हैं, अतः केवल उन्हीं पुरुषों को स्पर्श कर सकते हैं, जो सचित्त हों। पुरुष चाहे साधारण पुरुष हों या प्रकृतिलय या विवेक प्राप्त पुरुष हों, सभी सचित्त होते हैं अतः वे सभी भूत भविष्य और वर्तमान कालों में क्लेशादि से संबद्ध रहते हैं[3]। इसके अतिरिक्त जीवन्मुक्त योगी भी यद्यपि 'योग' द्वारा इन क्लेशों से मुक्त होकर ही कैवल्य प्राप्त करता है परन्तु भूतकाल में तो उसका भी सम्पर्क इन क्लेशों से बना ही रहता है। परन्तु परमेश्वर का इन क्लेशादि से कभी भी किसी भी काल में सम्पर्क या संबन्ध नहीं रहता है। परमेश्वर का साधारण पुरुषों से यही वैशिष्ट्य है इसीलिए परमेश्वर को या ईश्वर को पुरुष विशेष कहा गया है[4]।

- -

1 - " ईश्वरः – परमेश्वरः, स च तत्वः।" –

— स्वामिनारायणभाष्य पृ0 96।

2 - " तैः सर्वैः कदाऽपि कालविशेषेऽपरामृष्टोऽसंस्पृष्टः परमेश्वर इति।"

— वही पृ0 96।

3 - " तेषां सर्वेषां हि भूतभविष्यद्वर्तमानकालान्यतमकालद्वयेन क्लेशकर्मविपाकाशयानां भोगाख्यसंसर्गसत्त्वात्।"

— वही पृ0 96।

4 - " तद्वारणायैव "पुरुषविशेष" इति पदोपादानात्।"

— वही पृ0 97।

पुरुष-विशेष ईश्वर की स्वगत विशेषताएँ हैं -- सर्वज्ञत्वता, सर्वनियन्तृत्वता और सर्वेशानशीलत्वता । ईश्वर की इन्हीं विशेषताओं के कारण इसे पुरुषोत्तम तथा 'परमात्मा' कहा गया है[1] । उपनिषदों में 'ब्रह्म' और 'परब्रह्म' का वर्णन आया है तथा उनमें इन दोनों के स्वरूपगतभेद का भी उल्लेख है[2] । उपनिषदों में ब्रह्म से परब्रह्म को श्रेष्ठ माना गया है । ब्रह्म में सर्वेशानशीलत्व नहीं होता है, परब्रह्म में ही यह सर्वज्ञता तथा सर्वेशानशीलता होती है परन्तु योग में प्रतिपादित ईश्वर उपनिषद के परब्रह्म से भी उत्तम है । संभवतः इसी लिए योग के ईश्वर के लिए पुरुषोत्तम, परमात्मा और परमेश्वर शब्दों का प्रयोग किया गया है ।

'योग' में वर्णित ईश्वर का स्वरूप गीता के 'क्षर' और 'अक्षर' ब्रह्म से भी भिन्न है[4] । योग का ईश्वर तीनों लोकों को धारण करने वाला उत्तम पुरुष है । अद्वैतवेदान्त के अनुसार परमेश्वर-तत्त्व जीवतत्त्व से भिन्न नहीं है[5] । इसी तरह स्मृतियों में भी जीव को ईश्वर का अंश माना गया है[6] । इसके विपरीत

- -

1 - '' सर्वपिक्षया सर्वज्ञत्वमिति अतः पुरुषोत्तम इति परमात्मा कथ्यते ।''
— स्वा०ना०भा० पृ० 97 ।

2 - " कठवल्यां यथा-ह्येतदेवाऽक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम् ।"
— वही पृ० 97 ।

3 - " सर्वज्ञत्वम् परब्रह्मणः संभवति, ब्रह्मणस्तु न तथा सर्वज्ञत्वम् ।"
— वही पृ० 97 ।

4 - " द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः । यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम ।"
— वही पृ० 124

5 - " अद्वैतास्तु - परमेश्वरतत्त्वं जीवतत्त्वाद्भिन्नं न भवतीत्यभ्युपगच्छन्ति । तेषामयमाशयः - 'न हि जीवाद्भिन्ने परमेश्वरतत्त्वे किमपि प्रमाणं पश्यामः ।"
— वही पृ० 106

6 - " ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।"
— वही पृ० 107 ।

योग में प्रतिपादित 'ईश्वर' पुरुष से विशेषता रखता हुआ 'पुरुषविशेष' माना गया है।[1] स्वामिनारायणभाष्यकार ने 'ईश्वर' सम्बन्धी अन्य दर्शनों के सिद्धान्तित मतों की तुलना में 'योगदर्शन' में प्रतिपादित ईश्वर के स्वरूप को ही श्रेष्ठ माना है।[2]

'ईश्वर' में ऐश्वर्य की पराकाष्ठा के साथ साथ ज्ञान की भी पराकाष्ठा है। भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञान, स्थूल सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान, सामान्य और विशेष का बहुतम ज्ञान ही ज्ञान की पराकाष्ठा है। यह पराकाष्ठा ईश्वर में ही है और इसी लिए ईश्वर को सर्वज्ञता का बीज भी कहा गया है।[3] लौकिक अलौकिक सत्ता की तुलना करते हुए ईश्वर की ही सर्वज्ञता सुसिद्ध होती है। यथा- पशुओं की तुलना में मनुष्यों में ज्ञान अधिक होता है। मनुष्यों की तुलना में देवताओं में, देवताओं की अपेक्षा सत्यलोक में स्थित पितृ आदि में, पित्रादि की अपेक्षा प्रकृतिलीनों में, प्रकृतिलीनों की अपेक्षा विराडादि ईश्वरों में, इनकी अपेक्षा महत्कालस्थ ईश्वर में और इनकी अपेक्षा ब्रह्मलोकस्थ महामुक्तों में, महामुक्तों की अपेक्षा अक्षर ब्रह्म में

- -

1 - "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः ।"

— स्वा0ना0भा0 पृ0 96 ।

2 - "कपिलजैगीषव्यादिभ्यः प्रभवति परमं ब्रह्म मायाऽवभासात् । स्वतोपाध्यात्मना-वृत्ते वदति तदितरः कल्प्यमानात्मभेदात् ।। जीवत्वाभासस्तु साक्षात्परिणतिरचितस्वात्म-भेदात्त एते । अन्ताः, सिद्धान्तभेदाः स्वयमिह गदितो योगसिद्धान्तपक्षः ।।"

— वही पृ0 125 ।

3 - "यावतां भूतभविष्यद्वर्तमानानां स्थूलसूक्ष्मपदार्थानां सामान्यतो विशेषतश्च ज्ञातृत्वं यदपेक्षया यत्राधिकं तदपेक्षया तत्र विशिष्टत्वम्, एवमेव क्वचिदेव बहुज्ञत्वं क्वचिद्बहुतरज्ञत्वं क्वचिद्बहुतमज्ञत्वम्, सर्वैश्वर्यमानं यत्र निरतिशयतां - पराकाष्ठां प्राप्तं सैव सर्वज्ञताबीज-सर्वज्ञत्वाधिकरणमिति ।"

— वही पृ0 125 ।

और अक्षरब्रह्म की अपेक्षा परब्रह्म में सर्वज्ञता होती है परन्तु ईश्वर ही अकेला ऐसा तत्व है जिसके ज्ञान से बढ़कर अन्य किसी का ज्ञान नहीं है। ईश्वर की सर्वज्ञता न्यूनाधिक दोषों से मुक्त है[1]। ईश्वर का ज्ञान निरतिशय है। वह पूर्व पूर्व सर्गों में उत्पन्न ब्रह्मादिकों, मरीच्यादि का गुरु है। 'गुरु' शब्द यहाँ 'पिता' 'अन्तर्यामी' और ज्ञान-मोक्ष प्रदान करने वाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[2]। ईश्वर काल से अनवच्छेद्य है, नित्य है, सर्वज्ञ है[3]।

- -

1 - " तद्यथा – पश्वाद्यपेक्षया मनुष्याणामधिकमस्ति सर्वज्ञत्वं तदपेक्षया देवानां तदपेक्षया सत्यलोकस्थपितामहादीनां तदपेक्षया प्रकृतिलयानां तदपेक्षया विराजादीश्वराणां तदपेक्षया सूत्रात्मवासीश्वराणां तदपेक्षयाऽव्याकृतवासीश्वराणां तदपेक्षया अमृतमहाकाशवासीश्वराणां तदपेक्षया प्रकृतेर्मायातो बहिरवस्थितानां ब्रह्मलोकस्थानां महामुक्तानां, तदपेक्षयाऽक्षरब्रह्मणो ब्रह्मणोऽपेक्षया च परब्रह्मणोऽनन्तैश्वर्याधिक्यं निरवधिकमिति। यतः परमेश्वरात् कश्चिदधिकः समसमानो वा नास्ति यदपेक्षया परमेश्वरस्यापि सर्वज्ञत्वाधिक्यं न्यूनं समानं वा स्यादिति।"

स्वा०ना०भा० पृ० 128,129।

2 - " गुरुः – पिता-अन्तर्यामी विद्याया ज्ञानमोक्षप्रद इति यावत्।"

— वही पृ० 129।

3 - " तदनवच्छेदात्तु परमात्मा श्रीस्वामिनारायणो मुक्तकोटिपरिवृतो नित्यसर्वज्ञः सर्वगुरुरिति।"

— वही पृ० 130।

योग के विघ्न

व्यासभाष्य

योगसाधना के मार्ग में जो बाधाएँ आती हैं उन्हें योग के विघ्न कहते हैं। 'विघ्न' को ही अन्तराय भी कहते हैं। ये विघ्न-व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व के भेद से 9 प्रकार के हैं। ये विघ्न ही चित्त को विक्षिप्त करते हैं अतः विघ्नों को 'चित्त के विक्षेप' भी कहते हैं। सभी विघ्न चित्तवृत्तियों के साथ ही रहते हैं। चित्त की प्रमाणादिवृत्तियाँ विक्षेपों के उत्पन्न होने पर ही उदित होती हैं। वृत्तियों के बिना विक्षेपों की स्थिति चित्त में नहीं होती। इस प्रकार 'विक्षेप' और चित्त की वृत्तियाँ साथ साथ रहती हैं।

व्याध्यादि के प्रभाव से ही प्रमाणादि वृत्तियाँ उत्पन्न होती है। अतः विक्षेपों को वृत्तियों का उत्पन्न करने वाला मानना त्रुटिपूर्ण नहीं है। वृत्तियों को उत्पन्न करने वाला होने के कारण ही इन विक्षेपों को योग का विघ्न कहा जाना चाहिए। अब संक्षेप में 9 वों विघ्नों की व्याख्या की जा रही है --

शरीर के धातु, रस और इन्द्रियों में विषमता आने पर जो शारीरिक पीड़ा होती है उसे व्याधि कहते हैं। चित्त की अकर्मण्यता ही स्त्यान है उभयकोटिस्पर्शी ज्ञान संशय है। समाधि के साधनों का अभाव ही प्रमाद है। शरीर के भारीपन के कारण चित्त की अप्रवृत्ति ही आलस्य है। चित्त की विषयों के प्रयोग के प्रति लालसा अविरति है। मिथ्याज्ञान ही भ्रान्तिदर्शन है। समाधि साधना में भूमिकाओं का लाभ नहीं होना अलब्धभूमिकत्व है। प्राप्त हुई भूमिका में चित्त का प्रतिष्ठित न होना, अनवस्थितत्व है। ये सब चित्त के विक्षेप ही योग के विघ्न कहे जाते हैं।

- -

1 - " नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः। सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति एतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। "

-- व्यासभाष्य पृ0 90 ।

योग के नवो विघ्न, चित्तवृत्तियों के साथ रहते हैं । अतः वे सभी योग के प्रतिपक्षी कहे जाते हैं । चित्तवृत्तियाँ तो स्वयमेव योग के मार्ग में बाधायें हैं योग के लिए उनका निरोध परमावश्यक है । अतः योग निरोधक चित्तवृत्तियों के साथ रहने वाले व्याध्यादि भी योग के निरोधक सिद्ध हुए ।

नवो विघ्नों में संशय और भ्रान्तिदर्शन विपर्ययवृत्ति के अन्तर्गत ही आ जाते हैं अतः इनका वृत्ति होना स्वतः सिद्ध हो गया । शेष व्याध्यादि चित्तवृत्तियों से अलग रह कर वृत्तियाँ नहीं कहलाती हैं परन्तु व्याध्यादि के प्रकट होते ही तत्सदृश चित्तवृत्तियाँ उदित होती हैं जो योग के लिए बाधक होती हैं । इस प्रकार नवो विघ्न चित्त को प्रमाणादिवृत्तियों में अन्तर्भूत हैं । ये विघ्न चित्त को योग के मार्ग से दूर हटाते हैं अतः इन्हें योग का प्रतिपक्षी तथा चित्त का विक्षेपक कहा गया है । ये चित्त के विक्षेप हमेशा चित्त वृत्तियों के साथ साथ ही रहते हैं । इन विक्षेपों की पृथक्-पृथक् व्याख्या इस प्रकार से की गई है ।

<u>व्याधि</u> — धातु, रस और इन्द्रियों से शरीर की स्थिति है । वात, पित्त और श्लेष्मा धातु हैं । भोजन, जल से रस रक्त विशेष परिणाम बनता है और क्रियाशीलता जिनके द्वारा होती है वे ही इन्द्रियाँ हैं । जब धातु, रस और इन्द्रियों में किसी प्रकार की विषमता अथवा न्यूनाधिक्य होता है तब शरीर व्याधिग्रस्त हो जाता है और उस समय जो वृत्तियाँ उदित होती हैं वे चित्त को विक्षिप्त कर योग से हटाती हैं ।

- -

1 - " सोऽयमग्निशमि तावद्वृत्तितया वृत्तिनिरोध प्रतिपक्षौ । येऽपि न वृत्तयो व्याधिप्रभृतयस्तेऽपि वृत्तिसाहचर्यात्तत्प्रतिपक्षा इत्यर्थः । "

— त०वै०पृ० 90 ।

2 - " वैषम्यम् = न्यूनाधिकभाव इति । "

— वही पृ० 90 ।

अकर्मण्यता — तत्त्ववैशारदीकार ने 'अकर्मण्यता' का अर्थ कार्य करने में अयोग्यता किया है। अर्थात् कार्य न कर सकने वाली स्थिति ही अकर्मण्यता है।

संशय — उभयकोटिस्पर्शी ज्ञान ही संशय है। हाँ या ना के प्रति संदेहात्मक ज्ञान ही उभयकोटिस्पर्शी ज्ञान है।

विपर्यास — मिथ्याज्ञान ही विपर्यास नामक विघ्न है।

अभावनम् — प्रयत्न का न होना अभावनम् नामक योग का विघ्न है। प्रयत्न नहीं करने पर समाधि की भावना नहीं हो सकती। अतः प्रयत्नहीन होकर रहना समाधि के लिए एक प्रकार से बाधा ही है।

तमोगुण के कारण शरीर में शिथिलता का आ जाना भी योग के लिए बाधक है। यहाँ पर वाचस्पतिमिश्र ने विघ्न का नाम आलस्य नहीं दिया है पर आलस्यवाली स्थिति का ही वर्णन किया है। अतः यह वर्णन आलस्यरूप विघ्न के विषय में ही है।

तृष्णा — गर्धः का अर्थ वाचस्पतिमिश्र ने तृष्णा किया है। लालच की भावना ही तृष्णा है। इसके होने पर चित्त स्वभावतः लालचवश भ्रमित होता रहता है।

अलब्धभूमिकत्व — समाधि की मधुमती, मधुप्रतीका और विशोका नामक भूमियाँ हैं। इनको प्राप्त न होना अलब्ध भूमिकत्व नामक दोष है।

समाधि की भूमियों के प्राप्त होने पर भी यदि मन इसमें स्थित नहीं हो पाता है और समाधि की भूमियाँ अप्राप्य हो जाती हैं। इस तरह के विघ्न को अनवस्थितत्व नामक विघ्न कहा जाता है।

भोजवृत्तिकार ने मलों के प्रेरकतत्व, मूल तत्व का उल्लेख किया है । विषय की दृष्टि से इनका यह विवेचन विशेष स्थान रखता है । क्योंकि रजोगुण और तमोगुण ही मूलतत्व हैं, इन विक्षेपों के । इन विक्षेपों के मूल में यह गुण ही हैं जिनसे प्रवृत्त होकर ये नवों मल चित्त को विक्षिप्त करते हैं । चित्त की एकाग्रता को भंग करना ही विक्षेप है[1] । इन विक्षेपों का वर्णन उल्लेखनीय है ।

व्याधि — धातु के वैषम्य से ज्वरादि का होना व्याधि है । यहाँ पर वृत्तिकार भोज ने रस, और इन्द्रियों का नाम निर्देश नहीं किया है जब कि व्यास तत्ववैशारदीकार, योगवार्त्तिककार ने व्याधि के अन्तर्गत धातु, रस की विषमता से इन्द्रियों में वैषम्य का होना व्याधि माना है ।

स्त्यान — चित्त की अकर्मण्यता ही स्त्यान है ।

संशय — उभयकोटिक ज्ञान हो जिसमें आलम्बन हो उसे संशय कहते हैं । यथा — समाधि की साधना की जाय अथवा नहीं इस प्रकार के संशय से चित्त एकाग्र नहीं हो पाता है । फलतः समाधि साधना नहीं हो पाती[2] ।

---

1 - "नवैते रजस्तमोबलात्प्रवर्तमानाश्चित्तस्य विक्षेपाः भवन्ति । तैरेकाग्रता विरोधिभिश्चित्तं विक्षिप्यत इत्यर्थः ।"

— रा०मा०वृ० पृ० 79 ।

2 - "उभयकोट्यालम्बनं ज्ञानं संशयः योगः साध्यो न वेति ।"

— वही पृ० 79 ।

प्रमाद — समाधि के साधनों के प्रति उदासीनभाव हो जाने से उनका अनुष्ठान नहीं करना प्रमाद है ।

आलस्य — शरीर और चित्त का भारीपन के कारण योग प्राप्ति के हेतु अप्रवृत्तिशील होना आलस्य है ।

अविरति — चित्त का विषयों के साथ सम्पर्कशील होना तथा इच्छाओं से, तृष्णाओं से,युक्त होना अविरति नामक विघ्न है ।

भ्रान्तिदर्शन — विपर्ययज्ञान ही भ्रान्तिदर्शन है । यथा शुक्ति में रजत का ज्ञान ।

अलब्धभूमिकत्व — किसी कारणवश समाधि की भूमि को प्राप्त न कर सकना अलब्धभूमिकत्व नामक योग का विघ्न है ।

अनवस्थितत्व — समाधि की भूमियों के प्राप्त हो जाने पर भी चित्त का उसमें स्थित नहीं हो सकना अनवस्थितत्व नामक विघ्न है ।

विवरण

प्रथमपाद के सूत्र 31 में उल्लिखित चित्त के नव अन्तराय योगप्राप्ति के मार्ग में बाधक है । इन नवों अन्तरायों को चित्त का विक्षेप कहा गया है क्योंकि इन अन्तरायों के द्वारा समाधि का प्रवाह विच्छिन्न हो जाता है और समाधि भंग हो जाती है । ये अन्तराय समाधि को बाधित करने वाले हैं अतः इन्हें योग का प्रतिपक्षी तथा योग का अन्तराय भी कहा गया है ।[1] इन अन्तरायों के द्वारा चित्त विषयों में आसक्त हो जाता है ।[2]

योग के इन अन्तरायों के उदित होने पर ही प्रमाणादिवृत्तियाँ भी उदित होती हैं । ये दोनों चित्त में साथ-साथ ही रहती हैं । अन्तरायों के अभाव में चित्तवृत्तियों की स्थिति चित्त में नहीं होती और चित्तवृत्तियों के बिना इन व्याधि आदि विक्षेपों की स्थिति भी नहीं होती । इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे की सहायता से ही चित्त में रहते हैं । सूत्र में कथित 9वें अन्तरायों में से 'संशय' और 'भ्रान्तिदर्शन' की स्थिति विपर्ययवृत्ति में ही होती है । शेष सात अन्तराय ज्यों उदित होते हैं त्यों ही प्रमाणादिवृत्तियाँ उदित हो जाती हैं और इस प्रकार सभी अन्तराय चित्तवृत्तियों के साथ रहते हैं ।[3] इन अन्तरायों का संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है ।

व्याधि — शरीर के अन्दर वात, पित्त और श्लेष्मादि में विषमता आने पर व्याधि होती है ।

---

1 - " सहैते नवान्तरायाः । अन्तरं विवरं निरोधं कुर्वन्त आयान्तीत्यन्तरायाः विक्षेपः, प्रतिपक्षाः योगप्राप्तेरुपसर्गाः । "

— विवरण पृ0 82 ।

2 - " चित्तं विक्षिपन्ति विक्षेपयन्तीति चित्तविक्षेपाः ।" — वही पृ0 82

3 - " अथैषामभावे व्याधिप्रभृतीनामभावे सहायवत्ताभावान्न भवन्ति पूर्वोक्ताः प्रमाणादयश्चित्तवृत्तयः ।" — वही पृ0 82 ।

स्त्यान — चित्त की क्रियाशीलता का रुक जाना, स्तम्भित हो जाना ही 'स्त्यान' है।

संशय — 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति उभयकोटिस्पर्शी ज्ञान ही 'संशय' है।

प्रमाद — 'समाधि' के विहित साधनों का आचरण न करना प्रमाद है।

आलस्य — शरीर और चित्त का भारीपन जिससे दोनों में प्रवृत्ति न हो वह स्थिति ही 'आलस्य' है।

अविरति — चित्त का विषयों के प्रति आसक्ति 'अविरति' नामक विक्षेप है। इसे ही गर्द्ध या तृष्णा भी कहा गया है।

भ्रान्तिदर्शन — विपर्ययज्ञान ही भ्रान्तिदर्शन है।

अलब्धभूमिकत्व — समाधि की चित्तवृत्ति के भेद से चार भूमियाँ हैं इन भूमियों की अप्राप्ति ही अलब्ध-भूमिकत्व है।

अनवस्थितत्व — प्राप्त भूमियों में भी चित्त का प्रतिष्ठित, स्थित न होना अनवस्थितत्व है।

इस प्रकार ये 9 प्रकार के योगमल हैं जिनसे समाधि खण्डित होती है।

प्रथम-अध्याय के 30वें सूत्र में वर्णित नवों अन्तराय चित्त को योग मार्ग से विक्षिप्त करते हैं । अतः इन्हें विक्षेपक कहा गया है । ये नव विक्षेपक ही चित्त के विक्षेप हैं । ये विक्षेप चित्तवृत्तियों के साथ ही रहते हैं । विघ्नों के उदित होते ही उनसे संबद्ध चित्तवृत्ति बन जाती है । विघ्नों के उदित होने और तत् सदृश चित्तवृत्ति के बनने में जो सूक्ष्म-कालिक व्यवधान पड़ता है उससे वृत्तियों के सम्बन्ध में कोई बाधा नहीं पड़ती । 'व्याध्यादि संविलितचित्तवृत्तियाँ' तथा केवल चित्तवृत्तियाँ भी योग को भंग करती हैं । इसीलिए चित्तवृत्तियों तथा नवों अन्तरायों को 'योग-प्रतिपक्ष' कहा गया है ।[1]

वार्तिककार ने वाचस्पतिमिश्र की भाँति '9वां विघ्न' किस प्रकार चित्त-वृत्तियों के साथ रहते हैं, इसका विवेचन नहीं किया है। परन्तु इससे वर्णन में कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि परोक्षरूप से इन्होंने वाचस्पति और भाष्यकार के साथ साम्यत्व दिखाया है ।

व्याधि — धातु, रस और इन्द्रियों में वैषम्य होने पर शरीर व्याधि-ग्रस्त हो जाता है । धातुओं और रस की गड़बड़ी से शरीर की इन्द्रियों में विषमता उत्पन्न होती है और इस वैषम्य से ही शरीर रोगग्रस्त हो जाता है ।

अकर्मण्यता — अकर्मण्यता का अर्थ विज्ञानभिक्षु ने योग के अनुष्ठान में अक्षम किया है, अर्थात् योग के लिए विहित साधनों का अनुष्ठान नहीं कर सकना ही अकर्मण्यता है ।

- -

1 - सूक्ष्मकालानामन्तरमेव सहेतुत्वम् । एतेषामभावव्यवधानेनैव व्याध्यादिभिरोगेनाश्च सम्मिश्रवृत्त्युपायगोचरा वा चित्तस्य वृत्तयो भवन्ति योगप्रतिपक्षा इत्यर्थः ।"

यो०वा०पृ० 91 ।

<u>संशय और भ्रान्तिदर्शन</u> — यह ऐसा होना चाहिए अथवा ऐसा नहीं होना चाहिए इस प्रकार का द्विविध सविकल्प संशय है ।

गुरु और शास्त्रों द्वारा बताये गये समाधि के लिए साधन हैं । उन साधनों की भावना न करना अर्थात् उन साधनों का आचरण नहीं करने से भी योग भंग होता है । यहाँ प्रमाद नामक विघ्न का नाम नहीं लिया गया है । यद्यपि उसी की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है ।

शरीर में धातुओं की गड़बड़ी से शारीरिक आलस्य आता है, तमोवृत्ति से चित्त भारी होता है । शारीरिक और मानसिक गुरुता से समाधि के साधनों के अनुष्ठान में चित्त नहीं प्रेरित होता है अर्थात् चित्त अनुष्ठानों को करने में प्रवृत्तिशील नहीं हो पाता है और इस प्रकार की अप्रवृत्ति ही योग के लिए बाधक होती है[1] ।

विषयों के सामीप्य से उनकी प्राप्तिविषयक अभिलाषा 'गर्धः' है । गर्ध का अर्थ अभिलाषा है[2] । "संस्कार" अनन्त है अतः विषयों के सन्निकर्ष से अनन्त "संस्कार" उत्पन्न होती हैं जिनसे समाधि बाधित होती है अर्थात् चित्त, 'योग' की साधना करने में प्रवृत्त नहीं हो पाता । वह अभिलाषाओं की पूर्ति में ही रह जाता है ।

मधुमत्यादि भूमियों में से किसी एक भी भूमि की प्राप्ति नहीं होना अलाभ है ।

इसके अतिरिक्त लाभ प्राप्त हुई भूमि में चित्त का प्रतिष्ठित न होना अनवस्थितत्व नामक योग का विघ्न है ।

ये नव योग के मल अथवा विघ्न हैं जो चित्त को विक्षिप्त करते हैं ।

- -

1 - "कायगुरुत्वं कफादिभिः, चित्तगुरुत्वं तमसा, ताभ्यां हेतुभ्यामप्रवृत्तिः समाधिसाधनाननुष्ठानम् । 2- "विषयसंप्रयोगात्मा सन्निकर्षजन्यो गर्धोऽभिलाषः । "

यो०वा० पृ० 91 ।

योगदीपिका तथा पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

इन दोनों व्याख्याओं में इस विषय का समान विवेचन प्राप्त है । अतः दोनों के विवेचन को एक साथ ही उद्धृत किया जा रहा है । व्याधि आदि से चित्त विक्षिप्त होकर 'योगसाधना के योग्य नहीं रह जाता है अतः व्याधि आदि को योग का अन्तराय कहा गया है । ये अन्तराय 9 प्रकार के हैं ।

व्याधि – धातु, रस की विषमता के कारण इन्द्रियों में वैषम्य का होना व्याधि है ।

स्त्यान – अकर्मण्यता । योगानुष्ठान में चित्त का अक्षम होना ही स्त्यान है ।

संशय – गुरु तथा शास्त्र द्वारा उपदिष्ट योग के साधनों के प्रति उभयकोटिक ज्ञान ही संशय है ।[1]

प्रमाद – अनवधान ही प्रमाद है ।[2] समाधि के साधनों के प्रति ध्यान न देना प्रमाद है ।

आलस्य – शरीर और चित्त का भारीपन के कारण अप्रवृत्तिशील होना आलस्य है ।

अविरति – विषयों की अभिलाषा अविरति है ।

भ्रान्तिदर्शन – गुरु आदि द्वारा प्रमाणित उपदेशों के विपरीत निश्चय का होना ही भ्रान्तिदर्शन है ।[3]

- -

1 - " गुरुशास्त्रोक्त साधनेषु उभयकोटिकं ज्ञानम् । " — योगदीपिका पृ0 2

2 - " प्रमादोऽनवधानम् । " — वही पृ0 22 ।

3 - " गुर्वादिप्रमितार्थविपरीतनिश्चयः ।" — वही पृ0 22 ।

अलब्धभूमिकत्व — साधन का अनुष्ठान करने पर भी योग की भूमियों की अप्राप्ति अलब्ध भूमिकत्व है ।

अनवस्थितत्व — लब्ध योग की भूमियों में भी योग का स्थित न हो जाना अनवस्थितत्व नामक विघ्न है[1]।

मणिप्रभा

चित्त को योग से विक्षिप्त करने वाले चित्त विक्षेप ही योग के विघ्न या अन्तराय हैं[2]। ये विघ्न 9 प्रकार के हैं । 9वों प्रकार के विघ्नों का वर्णन इस व्याख्या में भी उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार व्यासभाष्य में किया गया है । केवल भ्रान्तिदर्शन[3] नामक योग के विघ्न का वर्णन औरों से भिन्न रूप में किया गया है । परन्तु इस विघ्न का स्पष्टीकरण इसी व्याख्या में हो पाया है । भ्रान्तिदर्शन के विषय में व्याख्याकार लिखते हैं यह 'एककोटिकोविपर्यय' है अर्थात इसमें हाँ या न का सन्देह नहीं बना रहता । इसमें जो वस्तु जिस रूप में दिखाई देती है उसके उसी रूप का उस समय दृढ़ ज्ञान रहता है । सन्देह नहीं रहता । यथा 'शुक्ति में रजत ज्ञान' जब होता है तब केवल यही लगता है कि यह रजत है अन्य कोई वस्तु नहीं है । यह सभी विक्षेप, योग को नष्ट करने वाले हैं । इनके अतिरिक्त दुःखदौर्मनस्यादि भी योग के नाशक होने से विघ्न ही माने जाते हैं ।

---

1 - " अनवस्थितत्वं योगभूमिलाभेऽपि योगाप्रतिष्ठा इति ।"

योग दीपिका पृ0 22 ।

2 - " य चित्तं योगाद्विक्षिपन्ति अपनयन्ति 'ते' 'चित्तविक्षेपाः' योग 'अन्तरायाः' विघ्ना मताः ।"

मणिप्रभा पृ0 16 ।

3 - " भ्रान्तिदर्शनमेककोटिको विपर्ययः ।"

— वही पृ0 16 ।

योगसूत्रार्थप्रबोधिनी, योगसिद्धान्त चन्द्रिका

जो चित्त को योग से विक्षिप्त करते हैं उन्हें योग का अन्तराय अथवा योग के विघ्न कहा गया है । सूत्र के आधार पर योग के विघ्न नव प्रकार के बताए गए हैं । इन विघ्नों के स्वरूप का उल्लेख इन व्याख्याओं में व्यासभाष्यादि के ही अनुसार किया गया है । किन्हीं विशेष बातों का उल्लेख नहीं किया गया है ।

भास्वती

भास्वतीकार ने योग के विघ्न से संबन्धित सूत्र पर व्याख्यान न देकर केवल भाष्य के ऊपर ही व्याख्या लिखी है । 'प्रमाद' और 'अनवस्थितत्व' नामक विक्षेपों का निर्वचन इनकी व्याख्या में अनुपलब्ध है । शेष वर्णन भाष्य के ही समान है ।

स्वामिनारायण भाष्य

चित्त को विक्षिप्त करने वाले व्याधि आदि ही विक्षेप हैं । विक्षेपों से योग बाधित होता है अतः इन्हें योग का अन्तराय भी कहते हैं । यह अन्तराय चित्त की वृत्तियों के साथ ही रहते हैं । इनका वर्णन कृष्णवल्लभाचार्य के अनुसार इस प्रकार है -

व्याधि — वात, पित्त और श्लेष्मा में विषमता आने पर तथा भोजन जल के परिणाम विशेष रसादि में वैषम्य आने से इन्द्रियों में विषमता आती है । जिससे वेदना अर्थात् कष्ट होता है और यही व्याधि है जो योग से चित्त को विक्षिप्त करती है ।[1]

- -

1. " व्याधयस्तु परम्परया चित्तविक्षेपका इति तत्र नाड़ीनियताधिः ।" तेन चित्तधर्मत्वेन लक्षणसङ्गमनं न तु रजोगुणे इति । "

स्वा०ना०भा० पृ० 133 ।

स्त्यान — योगांगों के अनुष्ठान में चित्त की अयोग्यता ही स्त्यान है ।

संशय — योग के फल के प्रति सन्देह 'संशय है'[1] ।

प्रमाद — समाधि के साधनों के अनुष्ठान में प्रयत्नशील नहीं होना प्रमाद है ।

आलस्य — कफादि के द्वारा शरीर में गुरुता आने पर तथा तमोगुण के कारण चित्त में गुरुता आने पर शरीर और चित्त का समाधि के लिए साधनों का अनुष्ठान नहीं करना आलस्य है ।

अविरति — विषयों की प्राप्ति के लिए चित्त का अभिलषित होना अविरति है ।

भ्रान्तिदर्शन — विपरीतज्ञान[2] ।

अलब्धभूमिकत्व — चित्त की मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा नाम से चार भूमियाँ हैं । उनमें से किसी एक को भी प्राप्ति न होना अलब्ध भूमिकत्व नामक विघ्न है ।

अनवस्थितत्व — मधुमत्यादि में से किसी भी एक का लाभ होने पर भी उसमें चित्त की आस्था का न होना अनवस्थितत्व है ।

ये विक्षेप चित्त को योग से अलग रखते हैं । चित्त में समाधि साधना की योग्यता होने पर भी इन विघ्नों के कारण चित्त योग के लिए अयोग्य हो जाता है ।

- -

1 - " योगस्य मुक्तिफलजनकत्व-तदजनकत्वोभयप्रकारकज्ञानम् । "
भा०मा०भा० पृ० 133 ।

2 - " योगस्य समाधि साधनत्वं नास्तीत्याकारकं विपरीतज्ञानम् । "
— वही पृ० 133 ।

व्यासभाष्य

वृत्ति निरोध के फलस्वरूप वृत्तिरहित चित्त का आलम्बन के साथ तदाकाराकारित हो जाना ही 'समापत्ति' है। 'समापत्ति' शब्द का शाब्दिक अर्थ तदाकारापत्ति है। वृत्तियों से रहित स्वच्छ निर्मल चित्त का जब ग्राह्यरूप आलम्बन से संपर्क होता है तब चित्त ग्राह्याकार हो जाता है। इसी तरह ग्रहण और ग्रहीतृ रूप आलम्बनों से भी उपरक्त हुआ चित्त तत्/आकार का हो जाता है। इस प्रकार स्वच्छ चित्त का आलम्बन के आकार से आकारित हो जाना ही 'समापत्ति' है। 'समापत्ति' के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने स्फटिकमणि का उदाहरण दिया है। जिस प्रकार अत्यन्तस्वच्छ, निर्मल स्फटिकमणि अपने ऊपर रखे हुए पदार्थों के आकारकोभासित होती है अर्थात् स्वच्छ स्फटिकमणि के संपर्क में जो भी पदार्थ आता है उसी के आकार और रंग को वह मणि भी भासित होने लगती है उसी प्रकार जब चित्त की वृत्तियाँ अस्त हो जाती हैं तब अति निर्मल चित्त अपने समीप में आए हुए आलम्बनों के आकार से आकारित हो जाता है।

समापत्ति और सम्प्रज्ञात समाधि के विषय में यह ज्ञातव्य है कि सम्प्रज्ञात-समाधि चित्त की एकाग्र भूमि में होती है। इसमें चित्त की क्लेशयुक्त, कर्मबन्धनयुक्त वृत्तियों का निरोध होता है और चित्त को अपने ध्येय-विषय का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है। समापत्ति में वृत्तियों का निरोध तो सम्प्रज्ञात काल में ही

---

1. "चेतसः ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु या तत्स्थतदञ्जनता तेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः सा समापत्तिरित्युच्यते।"

व्यासभाष्य पृ० 107।

हो चुकता है । अतः स्वच्छ चित्त स्थिरता को प्राप्त कर अपने आलम्बन के आकार से उपरक्त हो आलम्बनाकारित हो जाता है । अर्थात् समापत्ति काल में चित्त में तदाकारापत्ति होती है । समापत्ति के चार भेदों का उल्लेख किया गया है (1) सवितर्कासमापत्ति (2) निर्वितर्का (3) सविचारा (4) निर्विचारा समापत्ति ।

<u>सवितर्कासमापत्ति</u> — समापत्तिलाभ प्राप्त किए हुए योगी के चित्त में जब शब्द, अर्थ और ज्ञान के मिश्रित रूप का आभास होता है तब सवितर्का समापत्ति होती है । यथा — "गौ" शब्द के उच्चारण से समाहित चित्त वाले योगी के चित्त में "गौ" के शब्द, अर्थ और ज्ञान के मिश्रित रूप की समापत्ति सवितर्का समापत्ति है[1] ।

<u>निर्वितर्का समापत्ति</u> — निर्वितर्का समापत्ति में ग्राह्य विषय के केवल अर्थमात्र का आभास होता है और चित्त ग्राह्य पदार्थ के अर्थमात्राकार का हो जाता है । इस समापत्ति में शब्दानुमानज्ञान की स्मृति निवृत्त हो चुकी रहती है अर्थात् इस समापत्ति में चित्त शब्दानुमानज्ञान से शून्य होकर केवल ध्येय के अर्थमात्र के आकार से युक्त रहता है[2] ।

<u>सविचारासमापत्ति</u> — देशकाल और निमित्त के ज्ञान से युक्त तथा[3] पदार्थों के भूतसूक्ष्मतत्वों में चित्त की तदाकारापत्ति सविचारासमापत्ति है ।

---

1 — "तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवाद्यर्थः समाधिप्रज्ञायां समारूढः स चेच्छब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्ध उपावर्तते सा संकीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते ।"

व्यासभाष्य पृ० 109 ।

2 — "पदार्थमात्रस्वरूपा ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवति सा निर्वितर्का समापत्तिः ।"

— वही पृ० 111 ।

3 — तत्र भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते ।

— वही पृ० 118

निर्विचारासमापत्ति — जब देश काल और निमित्तों से रहित आधारभूत भूतसूक्ष्मों के स्वरूप से रहित तथा केवल आलम्बनविषयाकार रहती है तब उसे निर्विचारा समापत्ति कहते हैं।[1]

सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति स्थूल विषयक होती है और सविचारा निर्विचारा सूक्ष्मविषयक समापत्ति होती है। ये चारों समापत्तियाँ आलम्बन युक्त होने के कारण सबीज होती हैं। सबीज होने के कारण ये सम्प्रज्ञात-समाधि की ही श्रेणी में आती हैं।

तत्त्ववैशारदी

चित्त की रजोगुणी और तमोगुणी मलरूप वृत्तियों का निरोध हो जाने के पश्चात स्वच्छ चित्त जब ध्यान में परिपक्व होकर स्थिरता को प्राप्त कर लेता है तब सात्त्विक चित्त ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्य रूप विषयों के आकार से आकारित हो जाता है। चित्त सत्त्व का उक्त आलम्बनों के आकार से आकारित होना ही समापत्ति है।[2]

वाचस्पतिमिश्र की व्याख्या के अनुसार समापत्तिकाल में यद्यपि रजो, तमो, वृत्तियाँ सर्वथा निरुद्ध रहती हैं, परन्तु सात्त्विकवृत्ति बनी रहती है; क्योंकि इन्होंने सात्त्विक चित्त की विषय के साथ तदाकाराकारितता को ही समापत्ति माना है। भाष्यकार ने मलों से रहित किया हुआ स्वच्छ-चित्त को ही समापत्ति के योग्य माना है।

- -

1 - "प्रज्ञा च स्वरूपशून्येवार्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते ।"
व्यासभाष्य पृ० 118 ।

2 - "तेषु ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु, स्थितस्य वरिलयस्य ध्यानपरिपाकवशादपगत-रजस्तमोमलस्य चित्तसत्त्वस्य या तदञ्जनता तदाकारता सा समापत्तिः ।"
— त०वै० पृ० 108 ।

वाचस्पतिमिश्र के अनुसार आठ प्रकार की समापत्तियाँ हैं । (1) ग्राह्यविषया सवितर्कासमापत्ति (2) ग्राह्यविषयानिर्वितर्का समापत्ति (3) ग्राह्यविषयासविचारा समापत्ति (4) ग्राह्यविषया निर्विचारा समापत्ति (5) ग्रहणविषया सविचारा समापत्ति (6) ग्रहणविषया निर्विचारा समापत्ति (7) ग्रहीतृविषयासविचारा समापत्ति (8) ग्रहीतृविषया निर्विचारा समापत्ति ।

इनमें ग्राह्यविषया सवितर्का और निर्वितर्का स्थूल विषयक होती हैं और ग्राह्यविषया सविचारा निर्विचारा सूक्ष्म विषयक होती हैं ।

राजमार्तण्डवृत्ति

चित्त की वृत्तियों के क्षीण हो जाने पर चित्त जब केवल ध्येय-मात्र में ही स्थित रहता है तब ध्येय के आकार के समान ही आकार चित्त का भी हो जाता है । इस प्रकार चित्त में तद्रूपता रूप परिणाम का होना ही समापत्ति है ।[1] समापत्ति के चार भेदों का वर्णन इन्होंने भी किया है । चारों समापत्तियों का विवेचन भाष्य के ही समान है अतः वर्णन में समानता होने के कारण उन समापत्तियों का पुनः वर्णन नहीं किया जा रहा है ।

- -

1 - " क्षीणवृत्तेर्यस्य तत्क्षीणवृत्ति तस्य ग्रहीतृ ग्रहणग्राह्येषु आत्मेन्द्रिय-विषयेषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिर्भवति । तत्स्थत्वं तत्रैकाग्रता, तदञ्जनता तन्मयत्वं क्षीणवृत्ते चित्ते विषयस्य भाव्यमानस्योत्कर्षः, तथाविधा समापत्तिः, तद्रूपः परिणामो भवतीत्यर्थः । "

— रा०मा०वृ०पृ० 104 ।

विवरण –

'समापत्ति' शब्द सम्यगापत्ति का पर्याय है । क्षीणवृत्तिक चित्त का ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्य के आकार से आकारित हो जाना ही समापत्ति है । वैसे व्युत्थान काल में भी चित्त विषयाकाराकारित होता है परन्तु व्युत्थानकालिक तदाकाराकारितता को समापत्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि व्युत्थान-काल में चित्त में रजोगुण तथा तमोगुण का प्रभाव बना रहता है ।[1] 'समापत्ति' काल में चित्त की राजस और तामस वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी होती हैं और चित्त वशीकारसंज्ञ हो उन वृत्तियों से अनभिभूत होता हुआ ग्रहीत्रादि आलम्बन के आकार से आकारित होता हुआ तद्रूपाकार ही भासित होता है ।[2] विवरणकार ने 'समापत्ति' और 'संयम' के स्वरूप में समानता देखते हुए दोनों को समान माना है । 'समापत्ति' और 'संयम' दोनों स्थितियों में चित्त राजस और तामस वृत्तियों का निरोध कर वशीकार-संज्ञ अवस्था में रहता हुआ, अत्यन्त स्वच्छ चित्त आलम्बनोपरक्त होता हुआ तत् तत् आलम्बन का सम्यक्-ज्ञान प्राप्त करता है ।[3]

विवरणकार ने 'क्षीणवृत्तेरिति' पद का अर्थ 'बाह्यप्रमाणादिवृत्तियों का क्षीण हो जाना' किया है । समापत्तिकाल में चित्त क्षीणवृत्तिक होने के कारण

- -

1 – " सम्यगापत्तिः समापत्तिः सा च तादृशी तत्स्थतदञ्जनताक्षीणवृत्तेरेव भवति । यद्यपि व्युत्थितचित्तस्यापि समापत्तिरस्ति । तथाऽपि सा न समीचीनतरा रजस्तमोभ्यां चित्तसत्त्वस्याभिभूतत्वादिति ।"

— पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यविवरण पृ० 101 ।

2 – " एवं ह्येष चित्तवशीकारोऽर्थवान्, येन ग्रहीत्राद्युपसमापन्नं चित्तं तदाभासं भवतीति ।" — वही पृ० 98 ।

3 – क :– " तेषु ग्रहीत्रादिषु तिष्ठतीति तत्स्थं तत्स्थतावशिष्टा या ग्रहीत्राद्यञ्जनता ।

— वही पृ० 101 ।

3 – ख :– " सूर्येसंयमं कृत्वा समस्तं भुवनप्रस्तारं प्रत्यक्षीकुर्यादिति ।"

— वही पृ० 287 ।

अभ्यस्त स्वच्छ हो जाता है । ऐसा चित्त जब ग्रहीतृपुरुष के सम्पर्क में आता है तब उसी के रूप के आकार का भासित होने लगता है । बुद्धि की बोधकता ही 'ग्रहीतृ' का स्वरूप है । अतः जब बुद्धि विषय-वृत्तियों का बोद्धा न होकर केवल पुरुष और प्रकृति का विविक्त ज्ञान प्राप्त करती है[1] तब पुरुष क्लेशादि से मुक्त चित्त वाला होता है । ऐसे पुरुष के सम्पर्क में आने पर उसके क्लेशादि से विमुक्त चित्त के आकार से आकारित हो जाना ग्रहीतृ विषयक समापत्ति है । इसी तरह 'ग्रहण' और 'ग्राह्य' आलम्बनों से उपरक्त होने पर 'ग्रहण' तथा 'ग्राह्य' समापत्तियाँ होती हैं ।

समापत्ति के चार भेदों का उल्लेख विवरणकार ने भी किया है ।[2] जब शब्द, अर्थ और ज्ञान से मिश्रित ध्येयालम्बन से चित्त तदाकाराकारित होता है तब सवितर्कसमापत्ति होती है ।[3] जब वही ध्येयालम्बन शब्दसंकेतस्मृति से शून्य केवल स्वरूपमात्र रूप से ही भासित होता है तब निर्वितर्का समापत्ति होती है । इस समापत्ति में ध्येय का आलम्बन आगम और अनुमानज्ञान से भी शून्य होकर केवल ग्राह्यमात्र रूप से चित्त में विभावित होता है ।[4] सवितर्का और निर्वितर्का समापत्तियाँ स्थूल ग्राह्यविषयक होती हैं ।

- -

1 - " तथाग्रहीतृपुरुषसमापन्नं बुद्धिबोधकस्वरूप मित्यर्थः । स एव बुद्धेर्बोद्धा यदा विषयवृत्तिभिर्न बोद्धव्यावति तदा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रावस्था
— पातंजलयोगसूत्रभाष्य विवरण पृ0 99 ।

2 - " सैषा समापत्तिश्चतुष्टयी । "
— वही पृ0

3 - " स्थूलस्थूलसमाधिपर्यवसिंकयोः सङ्कीर्णा विभिन्ना इतरेतरप्रत्ययानुविद्धा सा सङ्कीर्णसमापत्तिः । " — वही पृ0 102 ।

4 - " ग्राह्यमात्रेण सा विभाव्यते । "
— वही पृ0 103 ।

जब भूतसूक्ष्म तन्मात्रादिविषय देशकालनिमित्तादि के अवच्छिन्न होते हुए ध्येयविषय बनते हैं तब उस ध्येय के तदाकाराकारित होने पर सविचारा-समापत्ति होती है[1] और जब भूतसूक्ष्मविषय देशकाल और निमित्त से अनवच्छिन्न होकर चित्त में भासित होते हैं तब निर्विचारा-समापत्ति होती है ।[2] सविचारा और निर्विचारा समापत्तियाँ सूक्ष्मविषयक होती हैं ।

योगवार्तिक

क्षीणवृत्तिक निर्मल चित्त का ग्रहीत्रादि विषयों में सम्यक् रूप से तदाकाराकारित हो जाना समापत्ति है । समापत्ति सम्प्रज्ञात समाधि का फलरूप है क्योंकि यहाँ सम्प्रज्ञातसमाधि में ध्येय-विषय का सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो जाने के पश्चात् ही समापत्ति में चित्त को ध्येय विषय का साक्षात्कार होता है ।[3]

- -

1 - " एवं हि वस्तु देशादिभिरवच्छिद्यमानं विषयीणां साक्षात्क्रियमाणं व्यवहाराय कल्पते । तेष्वेवंभूतेष्वेवं भूतेन देशादिविकल्पादिविशिष्टेन या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते ।" — विशारद पृ0 110 ।

2 - " तेष्वनवच्छिन्नेषु भूतसूक्ष्मेषु सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्माननुपतन्ति तानि सूक्ष्माणि सर्वविशेषारम्भकत्वात् । सर्वात्मकेषु सर्वेभ्यो विषयेभ्योऽनन्यत्वात्तस्याप्रमाणत्वात् । तत्र या समापत्तिः सा निर्विचारेति ।" — वही पृ0 111 ।

3 - " समापत्तिः सम्प्रज्ञातस्यावान्तरफलमिति पर्यवसितोऽर्थः ।"
" क्षीणवृत्तिकस्य निर्मलस्य मणेरिव ग्रहीत्रादिषु स्थितस्तदञ्जनता तदाकारता जायते, सा च समापत्तीत्याख्यायते भवतीत्यर्थः ।" — यो0वा0पृ0 108 ।
" अत्र सम्प्रज्ञातफलभूतायाः प्रज्ञायाः समापत्तिरिति सांख्यकी परिभाषाऽपि प्रसंगादुक्ता ।"
— वही पृ0 108 ।

'समापत्ति' की स्थिति सम्प्रज्ञातसमाधि में होती है क्योंकि दोनों समाधियाँ सालम्बन होती हैं। असम्प्रज्ञातसमाधि निर्बीज होती है अतः उसमें समापत्तियाँ नहीं हुआ करती। विज्ञानभिक्षु के अनुसार समापत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं। (1) सवितर्का, (2) निर्वितर्का (3) सविचारा (4) निर्विचारा और (5) ग्रहीतृविषयक-समापत्ति।

सवितर्का — स्थूलभूतेन्द्रियों के शब्द अर्थ और ज्ञान में अभेद रूप भ्रम से युक्त विषय का साक्षात्कार होने पर सवितर्कसंज्ञक समापत्ति होती है। सवितर्का समापत्ति में नारायण के स्थूल रूप की कल्पना कर उसमें चित्त के तदाकाराकारित हो जाने पर साधक को नारायण के रूप का आभास होता है[1]।

निर्वितर्का समापत्ति — वार्तिककार ने भी श्रुतानुमानज्ञान से शून्य केवल अर्थमात्राकार से आकारित चित्त की समापत्ति को निर्वितर्कासमापत्ति कहा है[2]।

सविचारा, निर्विचारासमापत्ति —— सविचारा और निर्विचारासमापत्ति सूक्ष्मभूतरूप आलम्बन वाली होती है। पृथिव्यादि के सूक्ष्मकारण तन्मात्राएँ हैं, इन वर्तमान सूक्ष्मभूतों में देशकालनिमित्तों सहित अनुभूत उन सूक्ष्मविषयों की आलम्बनकारिता सविचारा समापत्ति है। जब देश कालादि से रहित सूक्ष्मभूतों में चित्त का साक्षात्कार होता है तब निर्विचारा समापत्ति होती है।

ग्रहीतृविषयकसमापत्ति — ग्रहीतृविषयक समापत्ति का क्षेत्र पुरुष है। जब स्थिर चित्त पुरुष के शाश्वत स्वरूप के आकार से आकारित हो जाता है तब ग्रहीतृविषयकसमापत्ति होती है[3]।

- -

1 - "नारायणोऽयं भासते ' इत्यादि रूपेण सवितर्का समापत्तिर्भवति ।"
— यो०वा०पृ० 111

2 - "अखिल विकल्प शून्या या समापत्तिः सा निर्वितर्केत्यर्थः ।"
— वही पृ० 113

3 - "ग्राह्यग्रहणयोः स्थूलसूक्ष्म भेदेन सवितर्कादिचतुष्टयम्। पंचमी च ग्रहीतृविषयेति ।
— वही पृ०

विज्ञानभिक्षु ने समापत्ति विषयक अपने विचार की श्रेष्ठता बताई है कि ग्रहण और ग्राह्य का अन्तर्भाव सवितर्का, निर्वितर्का और सविचारा निर्विचारा में हो जाता है । परन्तु ग्रहीतृ का अन्तर्भाव इन स्थूल, सूक्ष्म भूतों में नहीं हो सकता । अतः इसके लिए अर्थात् पुरुषतत्व के लिए ग्रहीतृ विषयक समापत्ति की मान्यता अनिवार्य है । इन्होंने वाचस्पतिमिश्र द्वारा प्रतिपादित आठ प्रकार की समापत्तियों का खण्डन किया है और समापत्तियों के केवल पाँच प्रकार ही बताए हैं ।

योगदीपिका : पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

समापत्ति शब्द का अर्थ साक्षात्कार है । समापत्ति शब्द से 'साक्षात्कार' का अर्थ स्पष्ट होता है और साक्षात्कार शब्द से समापत्ति का अर्थ स्पष्ट होता है । इन दोनों शब्दों का अर्थ हुआ सम्यक्-रूप से तदाकाराकारित हो जाना[1] । 'समापत्ति' चित्त की उस स्थिति में होती है जब कि चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है और स्वच्छ चित्त स्वतः ही सभी विषयों के अर्थग्रहण में समर्थ हो जाता है[2] । निरुद्धवृत्तिक स्वच्छ चित्त समापत्तिकाल में ध्येय रूप आलम्बन के आकार को ग्रहण कर ध्येय विषयाकाराकारित हो जाता है । ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य ये तीन ध्येय विषय ही निरुद्ध वृत्तिक चित्त के आलम्बन हैं । 'ग्रहीता' से तात्पर्य है पुरुष सामान्य । ग्रहण अर्थात् प्रकाश की इन्द्रियाँ ही 'ग्रहण' हैं और स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ये तीन प्रकार के 'ग्राह्य' विषय हैं । पंच-भूतों को 'स्थूल' कहा गया है, पंच-तन्मात्राओं को 'सूक्ष्म' कहा गया है तथा प्रकृति-तत्व को सूक्ष्मतर ग्राह्य विषय माना गया है[3] । इन तीनों ध्येय विषयों में ही योग का समस्त विषय गृहीत हो गया है । इसलिए इन तीनों ध्येय विषयों के साथ चित्त का सम्यक्रूपेण तदाकाराकारित हो जाना ~~हो जाना~~ ही समापत्ति है । समापत्ति के चार भेदों का वर्णन इन व्याख्याओं में जो प्राप्त

- -

1. " समापत्तिरिति च साक्षात्कारपरिभाषा ।" - - - सा च तत्स्थतदंजनतास्था तेषु ग्रहीतृादिषु स्थितस्य चित्तस्यासंनिरोधैः सम्यगाकारतापत्तिरर्थः ।"

— योगदीपिका पृ० 26 ।

2. " यथा च चलितस्य चित्तस्य एव सर्वार्थग्रहणसमर्थं ।" — वही पृ० 26 ।
3. " अत्र ग्रहीता पुरुषसामान्यम् । ग्रहणं च ग्रह्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या करणसामान्यमयोपाधिविषयम् । ग्राह्यं च स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतररूपेण त्रिविधम् । पंच-भूतपंचतन्मात्रप्रकृतिरूपम् ।

— वही पृ० 26 ।

सवितर्का-समापत्ति — 'सवितर्क' शब्द का विश्लेषणात्मक अर्थ इस प्रकार से किया गया है — " विपरीततर्कयोगात्सवितर्केत्यर्थः, अत एव तत्कालीन योग एव सविकल्प इत्युच्यते[1] ।" अर्थात् विपरीत तर्क से युक्त सवितर्क समापत्ति है । अतः सवितर्क समापत्ति को सविकल्पक-योग की संज्ञा दी गई है । इस समापत्ति में स्थूल विषयों के शब्द, अर्थ और ज्ञान का अभेद अध्यास साक्षात्कार प्राप्त होता है[2] ।

निर्वितर्का-समापत्ति — यह समापत्ति भी स्थूल विषयक होती है । यह समापत्ति ध्येयार्थमात्र को ग्रहण करती है । विकल्प शून्य होने के कारण इस समापत्ति को निर्वितर्का समापत्ति कहा गया है[3] । यह समापत्ति अविद्या के लेश मात्र भी सम्पर्क से रहित होती है । सम्भवतः इसी लिए इस समापत्ति को 'परंप्रत्यक्षम्' यह संज्ञा भी दी गई है । अविद्या का लेशमात्र भी सम्पर्क न होने से चित्त को ध्येय विषय के अर्थ का ठीक साक्षात्कार होता है अतः (परप्रत्यक्ष) यह संज्ञा इस समापत्ति के लिए उचित ही दी गई है[4] ।

सविचारा और निर्विचारा समापत्तियाँ :- यह समापत्तियाँ सूक्ष्म विषयक आलम्बनों वाली होती हैं । स्थूल कार्यों का कारण सूक्ष्म-तत्त्व ही हैं । इन सूक्ष्म-तत्त्वों के साथ चित्त की समापत्ति सविचारा समापत्ति है[5] । यथा — वायु, जल पृथ्वी ये सभी स्थूल कार्य हैं जिनके सूक्ष्म कारण तन्मात्राएँ हैं । इन तन्मात्राओं के आकार से आकारित हो जाना ही निर्विचारा-समापत्ति है ।

- -

1 - " द्रष्टव्य - योगदीपिका पृ० 27 ।

2 - " तत्र समापत्तिसामान्ये गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यविवेकः शब्दार्थ ज्ञानानां ये विकल्पा अभेदभ्रमाः ।"

— वही पृ० 27 ।

3 - " ध्येयार्थमात्रावगाहिनी विकल्प शून्या स्थूल समापत्तिर्निर्वितर्केत्यर्थः ।"

— वही पृ० 28 ।

4 - " इयं समापत्तिः परंप्रत्यक्षमुच्यते अविद्यालेशेनाप्यसंपर्कात्" ।

— वही पृ० 28 ।

5 - " तत्र स्थूलस्य यत्कारणं तदुपरागेण सूक्ष्मे समापत्तिः सविचारा ।"

— पातञ्जलयोगसूत्र वृत्ति पृ० 29 ।

मणिप्रभा

जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिकमणि अपने समीप स्थित विविध फूलों के रंगों से उपरक्त होकर वैसी ही भासित होती है उसी प्रकार अभ्यास वैराग्य द्वारा वृत्तियों के क्षीण हो जाने पर नितान्त निर्मल स्वच्छ चित्त अपने रूप का परित्याग कर आलम्बन के आकार से आकारित हो जाता है।

स्वच्छ चित्त जब ग्रहण अर्थात इन्द्रियों के सम्पर्क में आता है तब वह ग्रहणाकार भासित होता और जब ग्रहीतृ अर्थात् अस्मिताख्य पुरुष से उपरक्त होता है तब अपने स्वरूप का परित्याग कर अस्मिताकार भासित होता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति पर्यन्त स्थूल सूक्ष्म ग्राह्य विषयों के सम्पर्क में आने पर उनके आकार का भासित होता है। इस प्रकार क्षीणवृत्तिक चित्त का स्वरूपपरित्याग द्वारा ग्रहीतृ ग्रहण और ग्राह्याकार से उपरक्त होने पर तद्रूपता या तदाकारापत्ति ही समापत्ति है। समापत्ति और सम्प्रज्ञात-समाधि में मणिप्रभाकार ने अभेद माना है क्योंकि सम्प्रज्ञातसमाधि में भी स्थूल और सूक्ष्म विषयों का सम्यक् ज्ञान होता है और समापत्ति में भी स्थूल तथा सूक्ष्म ध्येय पदार्थों की तदाकारापत्ति होती है। समापत्ति के चार भेदों का निरूपण भाष्य के आधार पर किया गया है।

योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका

योगसूत्रार्थबोधिनी, और योगसिद्धान्तचन्द्रिका में व्याख्याकार ने विषय का विवेचन मणिप्रभा के समान ही किया है।

- -

1 - अभ्यासवैराग्याभ्यां क्षीणराजसतमोवृत्तिकस्य चित्तस्य स्थूलसूक्ष्मभूतात्मकग्राह्येण ग्रहीतृभिरिन्द्रियैर्ग्रहीत्रा पूर्वोक्तसास्मिताऽऽत्मपुरुषेण चोपरक्तस्य स्वरूपापन्नत्वेन या ग्राह्याकारतद्रूपापत्तिः स सम्प्रज्ञात ॥ "

— मणिप्रभा पृ० 20

समापत्ति सम्प्रज्ञातयोग का पर्याय है । एकाग्रभूमिक चित्त में ही समापत्ति होती है । ग्रहीतृ ग्राह्य और ग्रहण ही समापत्ति के विषय हैं । समापत्ति-काल में चित्त इन विषयों के तद्रूप हो जाता है । चित्त का ध्येयालम्बन के प्रति तद्रूपापत्ति ही समापत्ति है ।[1]

समापत्तिकाल में ग्रहीता के सम्पर्क में चित्त ग्रहीत्राकार हो जाता है । ग्रहीता का अर्थ यहाँ पुरुषाकार बुद्धि है । पुरुषाकार बुद्धि ही अस्मिता है । प्रयुक्त कर्तृत्व और भोक्तृत्व के मूल में बुद्धि ही है । पुरुष की चितिच्छायापत्ति पड़ने पर ही पुरुष का बुद्धिवृत्तियों से सारूप्य होता है तभी सारा ज्ञान अस्मिता रूपी पुरुष-तत्व को होता है । चित्त का अस्मिताकार होना ही ग्रहीतृसमापत्ति है । स्थूल-तत्व तथा सूक्ष्मतत्व ही ग्राह्यविषय है । स्थूलतत्व के अन्तर्गत पृथ्वी, घटादि भौतिक पदार्थ हैं और सूक्ष्मतत्व के अन्तर्गत तन्मात्रायें आती हैं जब चित्त इन सूक्ष्मभूतों तथा सूक्ष्मतन्मात्राओं के आकार से आकारित होता है तब ग्राह्यविषयक समापत्ति होती है । चित्त जब ग्रहणाकार हो जाता है तब ग्रहण समापत्ति होती है । ग्रहण का अर्थ इन्द्रिय नहीं प्रत्युत इन्द्रियशक्ति है । इन्द्रियशक्ति रूपी आलम्बन के तद्रूप होने पर ही ग्रहणाकार समापत्ति होती है । समापत्ति के चार भेद हैं (1) सवितर्का (2) निर्वितर्का (3) सविचारा और (4) निर्विचारा। स्थूल विषयक-समापत्ति सवितर्का, निर्वितर्का है, और सूक्ष्म विषयक-समापत्ति सविचारा और निर्विचारा है ।

<u>सवितर्का समापत्ति</u> — एकाग्रभूमिक चित्त जब शब्दार्थ ज्ञान के मिश्रित विकल्प के आकार से भावित होता है तब सवितर्का समापत्ति होती है । यह समापत्ति स्थूल विषयों में होती है ।[2]

- -

1 - "एकाग्रभूमिकस्य चित्तस्य, अभिजातस्य = स्वच्छस्येव मणेरिव ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु समापत्तिर्विषयाः, तत्स्थतदञ्जनता तथाः सामान्यं स्वरूपं ग्राह्यादि विषयेषु सर्वेषु या स्थितता तद्रूपतैव योगपरत्वात् यथायथम् अतः संकल्पोपरागः सैव समापत्ति, सम्प्रज्ञातस्य योगस्यापरपर्याय इति ।"

— भास्वती पृ0 107

2 - "स्थूलविषयेऽप्रमाया प्रज्ञया परिपूर्णस्य चेतसो या समापन्नता सा सवितर्केति ।"

— वही पृ0 111 ।

निर्वितर्का समापत्ति — जब ध्येय विषय का ध्यान, विषय के नाम और वाक्य के माध्यम के बिना किया जाये तब वह ध्यान 'निर्विकल्पक' होता है । निर्विकल्पक इसलिए क्योंकि इस ध्यान में विकल्पों का मिश्रण बिलकुल नहीं रहता । यह ज्ञान शाब्दिक संकेत तथा अनुमानादिप्रमाणों के संकेत से शून्य-सा रहता है । 'शून्य-सा' शब्द यहाँ विशेष अर्थ का द्योतक है । वास्तविक रूप से शून्य नहीं प्रस्तुत नामादिरहित स्थूल ध्येय विषयक-समापत्ति ही निर्वितर्का-समापत्ति है ।[1]

निर्वितर्का-समापत्ति में चित्त ध्येय के वास्तविक आकार से आकारित होता है । यह 'परप्रत्यक्ष' समापत्ति है क्योंकि इसमें अनुमानादि प्रमाणों का मिश्रण नहीं रहता । साथ ही शब्दहीन होने के कारण यह समापत्ति शब्दादि विकल्पों के स्मृति से शून्य होती है । इस समापत्ति में ग्राह्यविषय, ध्येयविषय मात्र होता है । मूलतत्त्व नहीं । ध्येय-विषय निर्वितर्का-समापत्ति में नामादि विकल्पों से रहित केवल अर्थ मात्र में भासित होता है । इसीलिए यहाँ यह कहा गया है कि निर्वितर्का-समापत्ति में ग्राह्य विषय केवल ध्येय मात्र होता है अर्थात् केवल अर्थ मात्र होता है ।[2] इसीलिए इस समापत्ति को ध्येय-विषय मात्रद्योतिनी कहा गया है । इस समापत्ति में वास्तविकध्येयार्थ ही प्रकाशित होता है । असत्पदार्थ का लेशमात्र भी सम्पर्क नहीं होता ।

---

1 - "वास्तवं यथार्थमेव तदा निर्भासते, न च कश्चिदसत्पदार्थस्तदन्तर्गतो भवतीति सा हि निर्वितर्का समापत्तिः । तत् परं प्रत्यक्षं समाधि जातत्वादन्यप्रमाणासंमिश्रत्वात् ।"

— भास्वती पृ० 111/112 ।

2 - "नामादिहीनध्येयविषयमात्रद्योतिनी समापत्तिर्निर्वितर्का स्थूलविषयेति सूत्रार्थः । नामादिहीनध्येयविषयमात्रद्योतिनी समापत्ति निर्वितर्का स्थूल विषयेति सूत्रार्थः ।"

— वही पृ० 112 ।

"ग्राह्यमत्र ध्येयविषयो न तु मूलानि ।"

— वही पृ० 113 ।

सविचारा और निर्विचारा समापत्ति — सविचारा और निर्विचारा समापत्तियाँ सूक्ष्म आलम्बनों वाली होती हैं। तन्मात्रादि सूक्ष्म आलम्बन हैं। जब इन तन्मात्रादि सूक्ष्म आलम्बनों के देश, काल और निमित्त सहित प्रकार से चित्त तदाकाराकारित होता है तब सूक्ष्म विषयक सविचारा समापत्ति होती है।[1] जब इन धर्मों से अनवच्छिन्न शब्दार्थविकल्प से हीन ध्येय विषय की तदाकाराकारित चित्त में होती है तब निर्विचारा-समापत्ति होती है।[2] निर्विचारा-समापत्ति का पर्यवसान अलिंग में होता है।

स्वामिनारायणभाष्य

अभ्यास वैराग्य द्वारा चित्त की राजस तामस वृत्तियों के क्षीण हो जाने के उपरान्त स्वच्छ चित्त की ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्य नामक पदार्थों में तदाकाराकारित ही समापत्ति है। यह समापत्ति क्रम से पहले स्थूल विषयक होती है तत्पश्चात सूक्ष्म विषयक होती है। अतः ग्रहीत्रादि का क्रम कृष्णवल्लभाचार्य ने ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृ इस प्रकार से निश्चित किया है।[3]

इन्होंने वितर्कानुगत-सम्प्रज्ञात-समाधि के अन्तर्गत सवितर्क, निर्वितर्क समाधि माना है और विचारानुगत के अन्तर्गत सविचारा, निर्विचारा-समाधि माना है। आनन्द और अस्मितानुगत का अवान्तर भेद नहीं किया है। इस संबन्ध में अन्य वर्णन भाष्यानुसार है।

- -

1 - "देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु सूक्ष्मविषयेषु शब्दसहाया या समापत्तिर्जायते सा सविचारात्मेति।"

— भास्वती पृ0 119।

2 - "समाधिप्रज्ञा यदा शब्दव्यवहारजविकल्पशून्या स्वरूपशून्येवार्थमात्र निर्भासा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते।"

—— वही पृ0 119।

3 - "अभ्यासवैराग्याभ्याम् उपायान्तरैर्वा क्षीणराजसतामस प्रमाणादिवृत्तेः स्वभावस्वच्छस्य चित्तस्य ग्रहीतृषु ग्रहणेषु - ग्राह्येषु च पदार्थेषु, तत्स्थत्वम् तदेकाग्रता, तदंजनता - तदाकारत्वमिति।" — स्वा0ना0भा0 पृ0 145

<u>व्यासभाष्य</u>

भाष्यकार के अनुसार मधुभूमिक योगी ऋतम्भरा प्रज्ञा वाला होता है। योगी की चार अवस्थाएँ होती हैं। (1) प्रथमकल्पिक (2) मधुभूमिक (3) प्रज्ञाज्योति (4) अतिक्रान्तभावनीय। प्रथम पाद के 48वें और इसी पाद के 49वें सूत्र के भाष्य में भी ऋतम्भरा का वर्णन किया गया। इसमें 'तस्मिन्' शब्द का अर्थ 'निर्विचार-वैशारद्य' है। 'वैशारद्य' का अर्थ है 'स्वच्छ होना'। निर्विचारसमापत्ति में चित्त रजो, तमो मल से रहित होकर स्वच्छ तथा निर्मल हो जाता है चित्त का इस प्रकार से स्वच्छ होना ही 'वैशारद्य' है। इस 'वैशारद्य' की स्थिति में चित्त को जो प्रज्ञा प्राप्त होती है उसे 'अध्यात्मप्रसाद' कहा गया है।[1] यह 'अध्यात्मप्रसाद' ही 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' है।[2] यह ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्कृष्टतमसमाधि-प्रज्ञा है। यह सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा होती है। इसीलिए इसका नाम ऋतम्भरा-प्रज्ञा है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा में भ्रान्ति ज्ञान का लेशमात्र या गन्धमात्र भी नहीं होता है।

<u>तत्त्ववैशारदी</u>

बुद्धि का यथार्थस्वरूप प्रकाशात्मक है। रजोगुण और तमोगुण रूपी आवरण से आवृत्त होकर बुद्धि का अपना यथार्थ स्वरूप छिप जाता है। जब अभ्यास और वैराग्य द्वारा रजोगुण, तथा तमोगुणयुक्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब मल रूपी आवरण समाप्त हो जाता है और बुद्धि निर्मल होकर अपने यथार्थ प्रकाशात्मक स्वरूप को प्राप्त कर लेती है इस समय बुद्धि की प्रज्ञाज्योति प्रस्फुटित हो जाती है। जिससे बुद्धि को अपने सम्पर्क में आने वाले समस्त पदार्थों का युगपद्ज्ञान प्राप्त हो

- -

1 - "यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः।"

— व्यासभाष्य पृ0 125।

2 - "तस्मिन्समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति।"

— वही पृ0 126।

जाता है । यह ज्ञान ही 'अध्यात्मप्रसाद' है । जिसको 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' नाम से अभिहित किया गया है । 'अध्यात्म प्रसाद' निर्विचारासमापत्ति के निर्मल होने पर ही होता है ।

'ऋतम्भराप्रज्ञा' पदार्थों के सत्य स्वरूप का ज्ञान कराती है । ऋतम्भराप्रज्ञा से पदार्थों का सूक्ष्म तथा विशेष ज्ञान प्राप्त होता है । आगम और अनुमान प्रमाण से पदार्थों का सामान्यज्ञान तो प्राप्त हो जाता है परन्तु उनके अन्तरतम का ज्ञान 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' से ही प्राप्त होता है अतः 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' आगम और अनुमान ज्ञान की तुलना में 'विशेष ज्ञान' वाली प्रज्ञा है ।

राजमार्तण्ड-वृत्ति

अन्य समापत्तियों की फलस्वरूप निर्विचारासमापत्ति है और निर्विचारा समापत्ति का फल 'अध्यात्मप्रसाद' है । अर्थात् 'अध्यात्मप्रसाद' और 'निर्विचारा समापत्ति' में कार्यकारण का संबन्ध है । 'निर्विचारासमापत्ति' ही कारण है जिसका कार्य रूप फल 'अध्यात्मप्रसाद' है । 'अध्यात्मप्रसाद' को ही 'ऋतम्भराप्रज्ञा' की संज्ञा दी गई है ।

निर्विचारासमापत्ति के निर्मल होने पर आत्मा अर्थात् बुद्धि को वास्तविक प्रसन्नता का अनुभव प्राप्त होता है क्योंकि इस समय बुद्धि रजोगुण तथा तमोगुणयुक्त मलों से अपेत रहती हुई केवल सात्त्विक वृत्ति से युक्त रहती है । सात्त्विक वृत्ति प्रसन्नता की द्योतक तथा उत्पादक है अतः इस समय बुद्धि में प्रसन्नता का ही

- -

1. " निर्विचारायाः प्रकृष्टाभ्यासवशाद्वैशारद्ये नैर्मल्ये सत्यध्यात्मप्रसादः समुपजायते। चित्तं क्लेशवासनारहितं स्थितिप्रवाहयोग्यं भवति । एतदेव चित्तस्य वैशारद्यं यत्स्थितौ दार्ढ्यम् ।"

— रा0मा0 वृ0 पृ0 119 ।

प्रादुर्भाव होता है । निर्मल, शुद्धसात्त्विक प्रसन्नचित्त में ही समाधि स्थिर तथा दृढ़ होती है । इस एकाग्र तथा दृढ़ चित्त में योगी को सभी पदार्थों का यथार्थ तथा सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त होता है । पदार्थों का यथार्थज्ञान ही 'ऋतम्भराप्रज्ञा' है । इसी आधार पर इस प्रज्ञा को सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा कहा जाता है ।

'ऋतम्भरा प्रज्ञा' एक विशिष्ट प्रज्ञा है । इसमें मिथ्याज्ञान या अविद्या का लेशमात्र भी सम्पर्क में नहीं होता । यह पदार्थों के सूक्ष्म और यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराती है ।[1] अतः यह आगम और अनुमान ज्ञान से विशिष्ट कही जाती है । अपने इन्हीं गुणों के कारण यह प्रज्ञा विलक्षण है ।

विवरण

रजोगुण और तमोगुण से अनभिभूत चित्त को निर्विचार-समापत्तिकाल में वैशारद्य प्राप्त होता है । स्वच्छ और शुद्ध चित्त का सात्त्विक प्रवाह ही उसका 'वैशारद्य' है ।[2] इस 'वैशारद्य' के उत्पन्न होने पर ही योगी को 'अध्यात्मप्रसाद' होता है । 'अध्यात्मप्रसाद' का अर्थ 'आत्मविज्ञानविशेष' किया गया है, अर्थात् पुरुष और प्रकृति का विविक्त ज्ञान ही 'अध्यात्मप्रसाद' है । इस अध्यात्मप्रसाद के कारण

- -

1 - " ऋतं सत्यं बिभर्ति कदाचिदपि न विपर्ययेणाऽऽच्छाद्यते सा ऋतम्भराप्रज्ञा तस्मिन्सति भवतीत्यर्थः ।"

— रा0मा0वृ0 पृ0 121 ।

2 - " प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम् ।"

— वा0यो0सू0भा0वि0 पृ0 113 ।

होने पर योगी को पदार्थों का यथार्थ, सूक्ष्म और विविक्त ज्ञान प्राप्त होता है[1]। इस ज्ञान को ही 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' की संज्ञा दी गई है । 'ऋतम्भराप्रज्ञा' का अर्थ है 'सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा' । उक्त ज्ञान सत्य को ही धारण करती है, संशय और भ्रम से सर्वथा रहित होती है इसीलिए 'अध्यात्मप्रसाद' नामक ज्ञान को ऋतम्भरा-प्रज्ञा कहा गया है[2]।

योगवार्त्तिक

ऋतम्भराप्रज्ञा के संबन्ध में विज्ञानभिक्षु ने बहुत सोपपत्तिक अर्थ किया है । पहले अध्याय के 48वें सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं कि सबीज समाधियों में उत्पन्न होने वाली समापत्तियाँ ही ऋतम्भरा-प्रज्ञा है और उसी का शास्त्रीय नाम ऋतम्भरा है । यथा — " पूर्वसूत्रोक्तसबीजसमाधौ जायमानः समापत्त्याख्यायाः प्रज्ञाया अन्वर्था शास्त्रीकी संज्ञामपि दर्शयति[3]। " इस संबन्ध में अनेक पोषक तर्क भी देते हैं यथा — सभी समापत्तियों में कुछ न कुछ प्रज्ञा होती है जिसे समाधिजप्रज्ञा कहते हैं । यह प्रज्ञा ही ऋतम्भरा-प्रज्ञा कही जाती है । इसका तात्पर्य यह है कि विज्ञानभिक्षु के अनुसार ऋतम्भरा-प्रज्ञा चारों समाधियों में होती है । इसके अतिरिक्त समाहितचित्त योगी को जो प्रज्ञा होती है उसको भी ऋतम्भराप्रज्ञा कह सकते हैं, क्योंकि समाहितचित्त वाले योगी की प्रज्ञा में लौकिक ज्ञान का लेशमात्र संपर्क भी नहीं होता है । इस बात को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए विज्ञानभिक्षु ने स्मृति से प्रमाण दिया है — " योगकाले प्रकृष्टा प्रज्ञा भवतीत्यत्र स्मृतिं प्रमाणयति[4]।"

---

1 - " यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते, तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादः आत्मनि दर्शन विवेकः । अस्यैव व्याख्यानं भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी परिपाटिक्या यावत्तोऽत्यत्रमनुस्मृपयत इति क्रमाननुरोधी स्फुटं विविसावं शुभ्रतरात्मकः प्रज्ञालोकः प्रज्ञैवालोकः तया हि यथावस्तु जानाति । "

— विवरण पृ0 113 ।

2 - " प्रक्षीण सकलविपर्यासकल्मषस्य हि जायते । ऋतम्भरा च विभ्रमकलंकापनुदित

— वही पृ0 114 ।

3 - " द्रष्टव्य — योगवार्त्तिक पृ0 126 ।

4 - द्रष्टव्य — वही पृ0 127 ।

तृतीय-अध्याय के 51वें सूत्र के भाष्य की व्याख्या में निर्विचारा समापत्ति रूपी परप्रत्यक्ष ही को 'ऋतम्भराप्रज्ञा' बताया गया है । और यह भी कहा गया है कि निर्विचारा के बाद की भूमिकाएँ प्रज्ञाज्योति नामक तृतीय कोटि के योगी के द्वारा अधिगत होती हैं । इसलिए निर्विचारा समापत्ति या तज्जन्य अध्यात्मप्रसाद को 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' नहीं माना जा सकता ।

योगदीपिका, पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

इन व्याख्याओं में अन्य वर्णित समापत्तियों की तुलना में निर्विचारासमापत्ति को विशिष्ट माना गया है । निर्विचारा-समापत्ति में चित्त की एकाग्रता निश्चल होती है और चित्त की यह निश्चल-एकाग्रता ही इस समापत्ति का वैशारद्य है[1]। इस वैशारद्य के होने पर अध्यात्मप्रसाद होता है । 'प्रसाद' का अर्थ [illegible] इन व्याख्याओं में 'नैर्मल्य' किया गया है । अध्यात्मप्रसाद के द्वारा साधक पुरुष का साक्षात्कार योग के साधनों के अनुष्ठान के बिना भी कर लेता है । अतः 'अध्यात्मप्रसाद' के फलस्वरूप आत्मसाक्षात्कार रूपा प्रज्ञा ही ऋतम्भरा प्रज्ञा है ।

भावागणेश ने सवितर्कादि समापत्तियों की प्रज्ञा को भी 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' माना है क्योंकि उन समापत्तियों में जिन स्थूलसूक्ष्म विषयों का ज्ञान होता है वह सत्य ज्ञान होता है अतः उन समापत्तियों के ज्ञान को भी 'ऋतम्भराप्रज्ञा' संज्ञा देना चाहिए नागोजीभट्ट ने भी अपनी व्याख्या में ऐसा ही विवेचन किया है[2]।

- -

1 - " निश्चलैकाग्रता चित्तस्य वैशारद्यम् ।"

— योगदीपिका पृ0 30 ।

2 - " तत्र सबीज योगे आद्यमानासु समापत्त्यासु ऋतम्भरसंज्ञा भवति । फलस्य सत्यस्यैव भरणात् विषयत्वेन धारणादित्यर्थः । सवितर्कप्रज्ञायामपि कल्पनत्वेऽपि ऋतम्भरजातीयत्वेन समाहः ।"

— पातंजल योगसूत्रवृत्ति पृ0 30 ।

मणिप्रभा

चित्त में से रजोगुण और तमोगुण के अपेत हो जाने पर स्वच्छ चित्त में केवल सात्विक वृत्ति का प्रवाह होता है । इस सात्विक वृत्ति के प्रवाह से चित्त को प्रकृतिपर्यन्त समस्त सूक्ष्म विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है । इस तरह का ज्ञान ही 'निर्विचारा-समाधि' का 'वैशारद्य' है ।[1]

निर्विचारा-समाधि के वैशारद्य की प्राप्ति होने पर परमाणु आदि प्रधान पर्यन्त समस्त सूक्ष्म विषयों का एक साथ ज्ञान हो जाता है । यह ज्ञान आत्मनिष्ठ होता है अर्थात् सात्त्विकबुद्धि में स्थित होता है । अतः इसका नाम "अध्यात्मप्रसाद" है । अर्थात् आत्मा में रहने वाला 'प्रसाद' या 'ज्ञान' । 'अध्यात्मप्रसाद' का ही योगसम्मत नाम 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' है । 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' निर्विचारा-समाधि जन्य है । यह प्रज्ञा सत्य को धारण करती है । ऋतम्भरा प्रज्ञा' आगमश्रौतानुमानादि प्रमाणों से विशिष्ट है ।

योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्त चन्द्रिका

इन व्याख्याओं में मणिप्रभा के सदृश विवेचन है अतः इनका अलग से इस प्रसंग में कोई वर्णन नहीं किया जा रहा है ।

---

1. " स्वच्छस्थितिरूप वृत्ति प्रवाहः प्रधानान्त सूक्ष्म ग्राह्यगोचरः यः सोऽयं निर्विचारासमाधिवैशारद्यम् । "

— मणिप्रभा पृ0 24 ।

भास्वती

निर्विचारा-समापत्ति के वैशारद्यकाल में परम् निर्मल बुद्धि को एक साथ ही समस्त स्थूल विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है । यह यथार्थज्ञान ही ऋतम्भरा-प्रज्ञा है[1] । 'ऋतम्भराप्रज्ञा' का अर्थ है सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा । वास्तव में यह प्रज्ञा अपने नाम को सार्थक करती है अतः इस प्रज्ञा का यह नाम सर्वथा अर्थ के अनुरूप ही है ।

स्वामिनारायणभाष्य —

निर्विचारा समापत्ति में बुद्धि अत्यन्त स्वच्छ और मलरहित होती है । निर्मलबुद्धि में केवल सात्त्विकवृत्ति का प्रवाह होता रहता है । ऐसी निर्मल बुद्धि सात्त्विकवृत्ति की एकाग्रता ही निर्विचारासमापत्ति का वैशारद्य है । 'वैशारद्य' काल में बुद्धि, पुरुष तत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करती है जिसे 'अध्यात्मप्रसाद' या 'आत्मविषयकप्रसाद' कहा गया है । अध्यात्मप्रसाद से आत्मसाक्षात्कार प्राप्त होता है । जिसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं । 'ऋत' का अर्थ सत्य है अर्थात् बुद्ध्यादि से भिन्न आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही 'ऋतम्भराप्रज्ञा' है । बुद्धि के विषय शब्दादि हैं । शब्दादि ऋतम्भरा प्रज्ञा के विषय नहीं बनते । आत्मा तथा परमात्मा रूप ज्ञेय विषय ही ऋतम्भरा प्रज्ञा के विषय बनते हैं[2] ।

- -

1 - " निर्विचारस्य वैशारद्ये जाते सति या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा ।"

भास्वती पृ० 126 ।

2 - " अध्यात्मप्रसादे या प्रज्ञा - स्वात्मविषयकसाक्षात्कारः - प्रज्ञालोकः सा ऋतम्भरा, - ऋतं सत्यं यथार्थम् आत्मस्वरूपं बुद्ध्यादितो भिन्नतया बिभर्ति विषयीकरोति सा 'ऋतम्भरा' इत्युच्यते । अतो बुद्ध्यादिविषयिणी प्रज्ञा न ऋतम्भरा किन्तु आत्मपरमात्मविषयिण्येवेति-तत्त्वम् ।

— स्वा०ना०भा० पृ० 156 ।

क्रियायोग और उसकी उपयोगिता

व्यासभाष्य

क्रियायोग के द्वारा व्युत्थितचित्त वाले लोग भी समाधि की साधना कर सकते हैं। क्रियायोग से क्लेशों की स्थूलवृत्तियाँ कमजोर पड़ जाती हैं[1]। पुनः तनूकृत क्लेशों की वृत्तियों को प्रसंख्यान अग्निद्वारा दग्ध-बीजभावता प्राप्त होती है जिसके कारण वे पुनः अंकुरित नहीं हो पाती। इस प्रकार क्रियायोग क्लेशों को नष्ट करने में बहुत उपयोगी है।

तत्त्ववैशारदी

भाष्य की तरह तत्त्ववैशारदी में भी क्रियायोग की उपयोगिता सिद्ध की गई है। क्रियायोग से क्लेश केवल तनूकृत किए जाते हैं। उनका पूर्ण निरोध प्रसंख्यान अग्नि से ही होता है[2]।

राजमार्तण्डवृत्ति

अविद्यादि क्लेशों से चित्त भ्रमित तथा दुःखी होता है। अतः अविद्यादि को दुःखादि का कारण मानना चाहिए क्योंकि अविद्या ही सभी दुःखों का कारण है। इस प्रकार अविद्यादि तथा दुःखादि में कारण कार्य संबन्ध हुआ। क्रियायोग के द्वारा उस कारणकार्य के संबन्ध का निरोध किया जाता है, नष्ट नहीं किया

- -

1 - "क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता यावद्दग्धबीजकल्पा इति।"

— व्यासभाष्य पृ० 158।

2 - "क्रियायोगस्य तनूकरणमात्रे व्यापारो न तु हाने क्लेशानाम्। प्रसंख्यानस्य तु तद्धाने। यतः समाप्ताधिकारासमाप्तोऽधिकारः कार्यारम्भे गुणानां यथा हेतुभूतया सा तथोक्तेति।" — तत्त्ववैशारदी पृ० 140।

जाता है प्रत्युत केवल रोका जाता है । क्रियायोग के साधन या उपाय तपस्यादि हैं । तपस्यादि चित्त में व्याप्त अविद्यादि रूपी क्लेशों को शिथिल करते हैं । परिणामस्वरूप चित्त समाधि साधना के योग्य स्थिति में आ जाता है[1] । वृत्तियों से आबद्ध चित्त भी फलतः क्षीण होता रहता है, जब वृत्तियाँ शिथिल हो जाती हैं तब चित्त शान्त हो जाता है और शान्त चित्त ही एकाग्र होकर समाधिस्थ होता है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'क्रियायोग' से क्लेश हल्के किए जाते हैं, जिनका आत्यन्तिकविनाश प्रसंख्यान अग्नि द्वारा ही होता है ।

विवरण

'विक्षिप्तचित्त वाले भी समाधि के योग्य बन सकें' इसी बात को ध्यान में रखते हुए सूत्रकार ने क्रियायोग का उल्लेख किया है । 'क्रियायोग' को विवरणकार ने 'क्रियारूपो योगः' कहा है[2] । 'तप' आदि क्रियाएँ 'योग' के लिए ही की जाती हैं अतः योग के लिए किए गए तपस्यादि क्रियाओं को 'क्रियायोग' कहा गया है । इसी तरह 'समाधि' जो चित्त का धर्म है, उसकी भी कल्पना योगप्राप्ति के लिए ही की जाती है। अतः 'समाधि' को भी 'योग' कहा गया है । इस प्रकार जिन क्रियाओं से योग की स्थिति सम्भव है उन योगार्थ क्रियाओं को 'क्रियायोग' कहा गया है । 'क्रियायोग' के अन्तर्गत, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान आदि क्रियाएँ समाविष्ट हैं ।

- -

1 - " क्लेशा यथायथमनसेषां तनूकरणं स्वकार्यकारणप्रतिबन्धः । तपः प्रभृतयोऽभ्यस्यमानाश्चित्तगतानविद्यादीन्क्लेशान्शिथिली कुर्वन्तः समाधेरुपकारकतां भजन्ते ।"

रा०मा०वृ० पृ० - 135 ।

2 - " तदेव क्रियारूपो योगः क्रियायोगः । तपआदि क्रिया च योगार्थत्वाद्योग इत्युच्यते। चित्तधर्मो हि समाधिर्योगः । तदर्थत्वात् क्रियायोगः । तत्साधनेन क्रियायोगेन योगीति ।"

— विवरण पृ० 123 ।

'योग' प्राप्ति की दृष्टि से विक्षिप्तचित्त वालों के लिए क्रियायोग की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है । 'क्रियायोग' अष्ट योगांगों सहित समाधि की भावना करने में सहायक है[1] । क्रियायोग के द्वारा ही अविद्यादि क्लेश तनूकृत किए जाते हैं । क्रियायोग से तनूकृतक्लेश ही विवेकख्याति रूपी अग्नि से दग्ध-बीजभावता को प्राप्त कर अप्रसवधर्मी हो जाते हैं । जिसके परिणाम स्वरूप चित्त असम्प्रज्ञात योग को प्राप्त करने में समर्थ होता है । इस प्रकार क्रियायोग का योगसाधना के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है ।

योगवार्तिक

क्रियायोग व्युत्थित चित्त वाले साधकों के लिए योग का द्वार है । विज्ञानभिक्षु ने क्रियायोग को 'कर्मयोग' का नाम भी दिया है । सम्यक् प्रकारेण निष्कामभाव से किया गया कर्म ही कर्मयोग है । 'कर्मयोग' से कर्म के अतिरिक्त विषयों के प्रति चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है । इस प्रकार निरुद्ध वृत्तिक निष्पाप चित्त एकाग्र हो जाता है । सत्त्वशुद्धि के द्वारा चित्त अविद्यादि क्लेशों को हल्का करके चित्त को समाधि के योग्य बनाता है । तनूकृत क्लेश सूक्ष्म साक्षात्कारवती प्रज्ञा के द्वारा समाप्त कर्तव्य हो जाते हैं ।

---

1 - " इतरयोगांगसहितः समाधिं भावयति, क्लेशांश्च तनूकरोति । वक्ष्यति च - 'योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः' इति । तदेतदाह - तनूकृतान्क्लेशान्प्रसंख्यानेन क्लेशतनूकरणात् संजातसत्त्वज्ञानाग्निना, दग्धबीज कल्पान् बीजानीव वन्ध्यप्रसवशक्तीन् अतएव अप्रसवधर्मिणः अविद्यमानः प्रसवो येषां ते अप्रसवाः, अप्रसवाश्च ते धर्मिणश्चेत्यप्रसवधर्मिणः तानप्रसवधर्मिणः करिष्यति प्रसवशक्तिरहितान् करिष्यति ।"

— विवरण पृ० 124 ।

2 - तेषां योगद्वारमाह । स सम्यक् निष्कामादिरूपेण सेव्यमानः स हि स एव कर्मयोगः कर्मातिरिक्तविषयेभ्यो निरुद्धवृत्तिकं निष्पापं च चित्तं करोति ततः क्रमेण सत्त्वशुद्धिकारणैकाग्र्यमपि करोति अविद्याऽऽदींश्च प्रकर्षेणानायासेन तनूकरोति ।"

— यो०वा०पृ० 140 ।

योगदीपिका

समाहितचित्त वाले साधक अभ्यास वैराग्य द्वारा अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध कर योग प्राप्त कर लेते हैं परन्तु व्युत्थित-चित्त वाले साधकों को इन उपायों के अतिरिक्त क्रियायोग का आचरण करना अनिवार्य होता है । 'तपस्या', 'स्वाध्याय' और 'ईश्वर प्रणिधान' क्रियायोग के मुख्य साधन हैं । यमनियमासनादि भी क्रियायोग के अन्तर्गत आ सकते हैं परन्तु मध्यम कोटि के साधक को तपस्यादि उक्त तीन साधनों का भी सेवन करने पर ही योग की प्राप्ति होती है । 'भावागणेश' ने योग के अन्य साधनों में से तपस्यादि को प्रकृष्ट साधन माना है । उनके अनुसार तपस्यादि प्रकृष्ट तथा तीव्रतर साधन हैं । केवल इन्हीं साधनों का अनुष्ठान भी 'योग' प्राप्ति के लिए सहायक हो सकता है ।[1]

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

क्रियायोग से योग के प्रतिरोधक क्लेश हल्के किए जाते हैं और चित्त एकाग्र होता है । एकाग्रचित्त में शुद्धसात्त्विकवृत्ति का प्रवाह होते रहने से ये क्लेश प्रभावहीन होकर दबे रहते हैं पुनः विवेकख्याति के द्वारा इनका आत्यन्तिक विनाश कर दिया जाता है ।[2]

मणिप्रभा

समाधिपाद में व्याख्यात योग के दो उपायों के अतिरिक्त क्रियायोग भी 'योग' का उपाय है । क्रियायोग द्वारा चित्त की क्लेशादि वृत्तियों का निरोध हो जाता है और चित्त समाधि की साधना करने में एकाग्र हो जाता है । क्रियायोग के तीन साधनों का उल्लेख इस व्याख्या में भी किया गया है । इन तीनों साधनों से चित्त की क्लेशादि

- -

1 - "एतानि तपआदीनि क्रियारूपो योगो योग साधनत्वादित्यर्थः । यद्यपि वक्ष्यमाणा यमनियमासनादयः सर्वेऽपि क्रियायोगत्वधारिण तेषु समाहृत्य प्रकृष्टसाधनत्वं मध्यमाधिकारिणं प्रत्युपदिष्टमन्ततः केवलैरेतैरपि तीव्रतरेण योगो भवतीति सूचयितुम् ।"

— योगदीपिका पृ० 35 ।

2 - "स क्रियायोगः योग हेतु समाधिं चित्तैकाग्र्यमुत्पादयति पञ्चपर्वाश्च क्लेशान् योगप्रतिबन्धकप्रकर्षेण तनूकरोति सत्त्वशुद्ध्यादिद्वारेणेत्यर्थः ।"

— पात० योग सू० वृ० 35 ।

वृत्तियों को हल्का किया जाता है जिससे चित्त समाधि में स्थिर अथवा एकाग्र हो सके । समाधि लाभ होने के पश्चात् 'विवेकख्याति' के द्वारा क्लेशों को जलाकर उन्हें मूल से नष्ट कर दिया जाता है और तब चित्त निर्बीजसमाधि में लीन हो जाता है ।

'तनूकरण' का अर्थ है क्लेशों की सदैव विद्यमानता को समाप्त कर ऐसा कर देना कि वह कभी भी उत्पन्न न हो सके ।'समाधि' लाभ क्रियायोग का फल है । क्रियायोग से क्लेश जब प्रभाव हीन हो जाते हैं तब चित्त 'समाधि' में स्थित होने योग्य हो जाता है । अतः क्रियायोग को 'समाधि' स्थापित का कारण या उपाय कहा गया है ।

योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका

इन दोनों व्याख्याओं में मणिप्रभा के ही सदृश 'क्रियायोग' का विवेचन किया गया है ।

भास्वती

अज्ञान ही दुःख का मूल कारण है । क्लेशों के परिणामस्वरूप ही जाति आदि वासनाओं का भोग प्राणी करता रहता है । 'व्युत्थानकाल' अर्थात् 'असमाधिकाल' में चित्त क्लेशादि वासनाओं तथा उनके विपाक, उनकी स्मृति और कर्माशयसंस्कारों से चित्त आच्छन्न रहता है । राजसी और तामसी वृत्तियाँ ही योग को अन्तराय अथवा विघ्न है । इन सभी विघ्नों से बाधित हुआ चित्त योग को प्राप्त करने में असफल होता है जब तक कि कोई ऐसा कर्माचरण न करे कि चित्त की सारी अशुद्धियाँ दूर हो सके । व्युत्थित चित्त वाले क्रियायोग के द्वारा कायिक, वाचिक और मानसिक शुद्धिकर अभ्यास और वैराग्य से

- -

1 - "क्रियायोगेन क्लेशविच्छेदे तदनन्तरः समाधिः विवेकख्यातिमुत्पाद्य समस्तान् क्लेशान्दहतीति भावः ।"

— मणिप्रभा पृ० - 27 ।

समाधिनिष्ठ होने में समर्थ होते हैं[1] ।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि क्रियायोग के अंग हैं । क्लेशों का सहन तथा सुख का त्याग 'तप' है । वाक्संयम ही 'स्वाध्याय' है । 'ईश्वरप्रणिधान' ही मानसिक संयम है । इन क्रियाओं के द्वारा साधक बाह्य आडम्बरों से निरक्त होकर शान्त होकर समाधि में लीन हो जाता है । इस प्रकार 'योग' के हेतु जो कार्य सहायक हो उसका आचरण ही 'क्रियायोग' है । 'क्रियायोग' योग के बाधक तत्वों का उन्मूलन करता है । क्रियायोग ही अविद्यादि क्लेशों को हल्का करने में समर्थ है । इन तनूकृत क्लेशों को विवेकख्याति रूपी अग्नि से जलाकर उन्हें पूर्ण रूप से निरुद्ध कर दिया जाता है । इस प्रकार क्लेशों की निवृत्ति के कार्य में क्रियायोग से महत्वपूर्ण सहायता मिलती है फिर भी 'क्रियायोग' योग के बहिरंग ही हैं[2] ।

स्वामिनारायण-भाष्य

निष्काम भाव से आसेवित क्रियायोग से चित्त एकाग्र होता है । एकाग्र चित्त क्रमशः ध्येयविषयों में एकाग्र होता है और सम्प्रज्ञातसमाधि को प्राप्त होता है । क्लेशों की बीजभावता को जलाकर नष्ट करने की क्षमता क्रियायोग में नहीं है अतः तत्त्व ज्ञानरूपी अग्नि द्वारा क्लेशों के बीजों को दग्ध बीजभावता प्राप्त कराते हैं । वृत्तियों की दग्धबीजभावता ही वृत्तियों का आत्यन्तिकनिरोध है । वृत्तियों के आत्यन्तिक निरोध के परिणामस्वरूप चित्त की क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है और चित्त असम्प्रज्ञातसमाधि में लीन हो जाता है । लीन हुआ चित्त ही अन्त में जीवनमुक्त हो कैवल्य को प्राप्त करता है[3] ।

- -

1 - " तैः आवश्यकमीश्वरतः शान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुर्भूत्वा समाध्यभ्यास समर्थो भवेत् । कर्मैकरतये योगभूमिकाय कर्माचरणं क्रियायोगः स च कण्टकेनकण्टकोद्धारवद् योगाभिभूतेन कर्मणा योगप्रतिपक्ष कर्मणामुन्मूलनम् । " — भास्वती पृ० 139 ।

2 - " एवं क्रियास्त्र्याण्यपि तपआदीनि सर्ववृत्तिनिरोधस्य ज्ञानसाध्यस्य योगस्य बहिरंगतां लभन्ते । " — वही पृ० 142 ।

3 - " चित्तं च समाप्ताधिकारं निरुद्धावस्थं सत् असम्प्रज्ञातयोगमनुभवति, जीवन्मुक्तिं गतः स योगी परमेश्वरस्वरूपे लग्न सन् यदैवेच्छति तदैव परमं कैवल्यं लिप्सते । " — स्वा०ना०भा०पृ० 164 ।

व्यासभाष्य

क्लेशों के मूल में रहने पर ही कर्माशय विपाकारम्भी होते हैं। क्लेशों की उपस्थिति के बिना कर्माशय फलारम्भ नहीं करते[1]। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्माशयों के विपाकारम्भ के समय क्लेशों की उपस्थिति अनिवार्य है। विपाक 3 प्रकार के हैं। (1) जन्म (2) आयु और (3) भोग। 'जन्म' के सम्बन्ध में कई विकल्प हैं। यथा (1) क्या एक कर्माशय एक जन्म का कारण है। (2) अथवा एक कर्म अनेक जन्म देता है (3) क्या अनेक कर्माशय अनेक जन्म देते हैं (4) अनेक कर्माशय एक जन्म देते हैं।

उक्त विकल्पों में से कोई भी विकल्प मान्य नहीं है क्योंकि प्रथम विकल्प पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक कर्म एक जन्म का कारण नहीं हो सकता क्योंकि अनादिकाल से बचे हुए कर्मों और इस जन्म में किए गए कर्मों के फल-क्रम का नियमन न हो सकने से लोगों में अनाश्वास फैल जायेगा। एक कर्म अनेक जन्मों का कारण नहीं हो सकता क्योंकि अनेक कर्मों में एक-एक कर्म जो जब अनेक जन्म प्रदान करने लग जायेंगे तब तो न जाने कितने कर्मों की बारी ही नहीं आ पायेगी। अतः यह मत भी अनवकाशदोष से ग्रस्त होने के कारण मान्य नहीं है। अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण हों यह भी असम्भव तथा अनुचित सा है क्योंकि अनेक कर्मों से अनेकों जन्म एक साथ सम्भव नहीं होते। उक्त मतों के सदोष सिद्ध हो जाने पर अब 'जन्म' के सम्बन्ध में मान्य सिद्धान्त का विवेचन उचित है। जन्म से मृत्यु तक जितने भी कर्म-संस्कार एकत्र होते हैं वे सभी कर्माशय संस्कार व्यक्ति को मृत्यु के पश्चात् एकजन्मबद्धो फल देते हैं। अतः कर्माशय को एकभविक कहा गया है।

---

1. "सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः।"
व्यासभाष्य पृ० 16।

कर्मसंस्कारों का ही नाम कर्माशय है । कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्ट जन्मवेदनीय होते हैं । दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय जन्म नहीं देते । ये कर्माशय आयु और भोग को बढ़ा सकते हैं । केवल 'भोग' नामक विपाक को देने के कारण इन्हें 'एकविपाकारम्भी' कहते हैं तथा आयु और भोग को प्रदान करने के कारण इन्हें द्विविपाकारम्भी भी कहा गया है ।

अदृष्टजन्मवेदनीय-कर्माशय तीन विपाकों वाला होता है । इसके भी दो भेद हैं (1) नियत-विपाक (2) अनियत-विपाक । नियत-विपाक कर्माशय एकभविक होता है अर्थात् एक जन्म ही फल देने वाला होता है । अनियत-विपाक कर्माशय एकभविक नहीं होता इसकी तीन गतियाँ होती हैं ।[1] (1) बिना फल दिए ही कर्म का विनाश (2) कर्मों का किसी प्रधान कर्म में अन्तर्भूत हो जाना । (3) नियत विपाक प्रधान कर्म के द्वारा दबे हुए कर्माशय का दीर्घ काल तक पड़ा रहना ।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अदृष्टजन्मवेदनीय-नियतविपाक कर्माशय ही एकभविक होता है[2] । और जन्म के संबन्ध में यही सिद्धान्त मान्य ठहराया गया है ।

कर्माशय और वासना में भेद है । कर्म करने से बुद्धि में बने संस्कारों को कर्माशय कहते हैं । कर्माशय के जन्म, आयु और भोग नामक तीन विपाकों के अनुभव द्वारा जो संस्कार बनते हैं उन्हें वासना संस्कार कहते हैं । वासनाओं और कर्माशयों में अन्य भेद यह भी है कि वासनाएँ विपाक नहीं उत्पन्न करती केवल उन विपाकों को स्मृति करा सकती हैं । जिस प्रकार के कर्मविपाक को प्राप्त होने को होते हैं तदनुकूल वासनाएँ कर्मफल भोग के समय उपस्थित हो जाती हैं । चित्त में असंख्य वासनाएँ पड़ी रहती हैं

- -

1 - " यो त्वदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः कृतस्याविपक्वस्य नाशः प्रधान-कर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणा अभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति ।

— व्यासभाष्य पृ0 162 ।

2 - तत्रादृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो ।"

— वही पृ0 162 ।

परन्तु अभिव्यक्त इनमें से वही होती हैं[1] । जो फलभोग के निकट हों अर्थात जिनका फल भोग शीघ्र होने वाला हो । स्मृति और संस्कार में समानरूपता है । जैसा अनुभव होता है उसके अनुरूप ही संस्कार बनते हैं । संस्कार, कर्म और वासना के अनुरूप होते हैं[2] ।

तत्त्ववैशारदी

तत्त्ववैशारदीकार ने प्रस्तुत विषय के विवेचन में भाष्यकार के साथ सहमति प्रकट की है । इन्होंने भी एकजन्म रूपी फल देने वाले एकभविक कर्माशय को स्वीकार किया है । 'एकभविक' तथा 'ऐकभविक' शब्दों की रचना को समझाने का सफल प्रयास किया है । एक भव + ठन् से एकभविक कर्माशय बनता है जिसका अर्थ एक जन्मवाली फल देने वाला होता है । एकभव + ठञ् = ऐकभविक बनता है जिसका अर्थ है एकभव है जिसमें[3] अर्थात ऐकभविक के अनुसार एक जन्म को कारण माना जाता है । वाचस्पतिमिश्र ने कर्मसिद्धान्त के संदर्भ में 'एकभविक' को ही माना है । 'ऐकभविक' पद के लिए स्पष्ट लिखा है कि यह प्रामाणिक पाठ है । इस प्रकार कर्मसिद्धान्त के संबन्ध में इनका भाष्यकार से कोई विरोध नहीं है प्रकट होता है

- -

1 - " यज्जातीयस्य कर्मणो यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासनाः कर्मविपाकमनुशेरते तासामेवाभिव्यक्तिः ।"

— व्यासभाष्य पृ0 406 ।

2 - " यथानुभवास्तथा संस्काराः । ते च कर्मवासनानुरूपाः, यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति जातिदेशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः स्मृतेश्च पुनः संस्काराः इत्येवमेते स्मृतिसंस्काराः कर्माशयवृत्तिलाभवशाद्व्यज्यन्ते ।"

— वही पृ0 407 ।

3 - " एकभवोऽस्यास्तीति मत्वर्थीयष्ठन् । क्वचित्पाठ ऐकभविक इति । तत्रैक भवाख्या-स्वार्थे ठञ्प्रत्ययः । एकजन्मावच्छिन्नफलप्रदानमित्यर्थः ।"

— त0वै0पृ0 164 ।

राजमार्तण्डवृत्ति

क्लेशमूलक वासनाएँ ही दृष्ट और अदृष्ट जन्मवेदनीय कर्म फल वाली हैं। इसी जन्म में प्राप्त कर्मफल दृष्टजन्मवेदनीय होते हैं और जन्मान्तर में प्राप्त होने वाले फल अदृष्टजन्मवेदनीय होते हैं।[1] कर्मफल प्राप्ति के समय क्लेशों का चित्त में वर्तमान रहना आवश्यक है क्योंकि क्लेशों के रहने पर पुण्य-पाप रूप कर्मों के जाति, आयु और भोग रूप कर्मफल प्राप्त होते हैं।[2]

विवरण

अविद्यादिक्लेश ही जन्म के कारण हैं[3] अर्थात् इन क्लेशों के रहने पर ही कर्माशय जन्म रूप फल को उत्पन्न करते हैं। यह कर्माशय दृष्ट-कर्मफल-अनुभवितव्य और अदृष्टकर्मफलअनुभवितव्य होता है।[4] ये कर्माशय क्लेशों के होने पर ही अर्थात् क्लेश सहित कर्माशय ही विपाकारम्भी होते हैं। यह विपाक जन्मायुर्भोग के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय अनियतविपाक होते हैं। ये कभी-कभी केवल भोग रूप विपाक वाले होते हैं तो कभी-कभी भोग और आयुरूप द्विविधविपाक युक्त होते हैं। इनके विपाक के बारे में निश्चय पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जैसी तीव्रता कर्म में होती है वैसा ही फल उसी जन्म में प्राप्त हो जाता है।

अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नियत और अनियतविपाक वाले होते हैं। इसमें अनियतविपाक अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय ही त्रिविपाकों वाला होता है। अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक कर्माशय ही एकजन्म को करते हैं अतः अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाककर्माशय को 'एकभविक' कहा गया है।[5]

- -

1 - "यतः कर्मणां शुभाशुभानां क्लेशा एव निमित्तम्। दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय इत्यनेन फलभूतम्। अस्मिन्नेव जन्मनि अनुभवनीयो दृष्टजन्मवेदनीयः। जन्मान्तरानुभवनीयोऽदृष्टजन्मवेदनीयः।"
— रा0मा0वृ0पृ0 159।

2 - "मूलमुक्तलक्षणाः क्लेशाः। तेष्वनभिभूतेषु सत्सु कर्मणां कुशलाकुशलरूपाणां विपाकः फलं जात्यायुर्भोगा भवन्ति।"
— वही पृ0 160।

3 - "क्लेशा अविद्यादयो मूलं जन्मकारणं यस्य कर्माशयस्य स क्लेशमूलः कर्माशय इति।"
— विवरण पृ0 143।

4 - "यो दृष्टादृष्टजन्मानुभवितव्यफलः कर्माशयः स क्लेशमूल इति सूत्रार्थः।"
— वही पृ0 143।

5 - "ननु चादृष्टजन्मवेदनीयस्य प्रायशोऽनेकजन्मनां एकमेव जन्म करोतीत्येकजन्मारम्भकत्वमुक्तम्। - - - - - - - - - तस्मान्नियतविपाक एकभविकः कर्माशयः सुज्ञान एव।"
— वही पृ0 148।

क्लेशों के मूल में होने पर ही कर्माशय फलीभूत होते हैं[1] । क्लेश वासना रूप हैं । इनका विपाक जन्म, आयु और भोग रूप का होता है । ये विपाक दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय प्रकारक होते हैं । वर्तमानकालिक भोग को दृष्टजन्मवेदनीय कहा गया है और भविष्य कालिक भोग को अदृष्ट जन्मवेदनीय कहा गया है । यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि क्लेशों के मूल में रहने पर ही कर्माशय विपाकारम्भी होते हैं । ज्ञानाग्नि द्वारा क्लेशों के उच्छिन्न हो जाने पर कर्माशयों का विपाक नहीं होता । परन्तु जिन कर्माशयों का भोग प्रारम्भ हो चुका रहता है उनका फलभोग होता रहता है । कर्माशयों का फलभोग आरम्भ हो चुकने पर फलभोग की समाप्ति तक क्लेशों के रहने न रहने से कोई फ़र्क नहीं पड़ता ।[2] हाँ फलभोग के प्रारम्भ में क्लेशों का उपस्थित रहना परमावश्यक है । क्लेश

क्लेश और कर्म परस्पर सम्बन्धित हैं क्योंकि धर्म-अधर्म रूप क्लेश ही धर्म-अधर्म रूप कर्मों के हेतु कहे जाते हैं । अतः प्रसंख्यान अग्नि द्वारा क्लेशों का क्षय होने पर कर्मों का भी क्षय होना सिद्ध है ।[3] विज्ञानभिक्षु ने कर्मों का नाश नहीं स्वीकार किया है । इनके अनुसार प्रसंख्यान द्वारा कर्मों का दाह होना ही उचित है तथा स्वीकार्य है । क्योंकि 'दाह' और नाश में भेद है । नाश को स्वीकार करने पर 'कर्म' के नाश के साथ-साथ कर्म की अधिष्ठातृ बुद्धि का भी नाश हो जायेगा । जब बुद्धि ही नष्ट हो जायेगी तो फिर ज्ञान कहाँ उचित होगा ? अतः नाशिता को स्वीकार करना न्यायसंगत नहीं है । यही कारण है कि विज्ञानभिक्षु ने कर्मदाह को स्वीकार किया है । कर्मदाह स्वीकार करने से कर्म तथा संस्कारभूत क्लेशों का ही दाह होता है बुद्धि का विनाश या नाश नहीं ।[4]

- -

1 - " क्लेशमूले कर्माशयस्य मूले सत्येव कर्माशयस्य विपाकः फलं भवति, क्लेशाश्च वासनारूपा एव जन्मादि विपाककारणम् । विपाकस्य स्वरूपमाह - जात्यायुर्भोगा इति ।" — यो०वा० पृ० 165 ।

2 - " अतः क्लेशोऽपि विपाकारम्भे हेतुः । कर्माशयः आरब्धविपाकः [illegible] एव न तावद्भवति न तत्र क्लेशापेक्षोऽस्ति ।" — वही पृ० 167 ।

3 - " ज्ञानस्य क्लेशक्षयहेतुत्वम् कर्मक्षयहेतुत्वमपि सिद्धम् ।" — वही पृ० 166 ।

4 - " कर्माशयस्य दाह एव ज्ञानेन क्रियते न तु नाशः स्वीकार्यते ।" — वही पृ० 167 ।

इस प्रकार यह सर्वथा मान्य सिद्धान्त है कि क्लेशों के मूल में रहने पर ही जन्मायुर्भोगरूप विपाक होते हैं । जन्म के संबन्ध में चार विकल्पों का वर्णन योगवार्त्तिक में भी किया गया है । पूर्व के तीन विकल्पों को निरस्त कर वार्त्तिककार ने चौथे विकल्प को ही सिद्धान्तित किया है । अतः जन्म के संबन्ध में इनका सिद्धान्त भी अवलोकनीय है । जन्म से मृत्युपर्यन्त सिंचित और विविध कर्म, संस्कार सभी मिल कर एक जन्म को करते हैं । अनेक जन्म नहीं । इस प्रकार योगवार्त्तिककार ने भी जन्म के संबन्ध में भी एक भविकत्व के सिद्धान्त को मान्यता दी है । ऐकभविकत्व को नहीं ।

योगदीपिका

धर्म,अधर्म तथा क्लेशों के मूल में होने पर ही धर्म अधर्म रूप कर्माशयों का विपाक होता है । यह विपाक जाति, आयु और भोग रूप है । इस संबन्ध में इन्होंने वार्त्तिककार के साथ सहमति प्रकट किया है।अतः

पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति

क्लेशों के मूल में रहने पर ही कर्माशय विपाकारम्भी होते हैं । परन्तु विपाक-काल में यदि क्लेश उच्छिन्न हो जाते हैं तब भी विपाक की क्रिया होती रहती है । यही कारण है कि जीवन्मुक्त काल में भी प्रारब्ध-भोग होता रहता है ।[1]

कर्माशय दृष्ट और अदृष्ट जन्मवेदनीय होते हैं । इनमें से दृष्टजन्मवेदनीय, एकविपाकारम्भी होते हैं और द्विविपाकारम्भी भी होते हैं । अदृष्ट जन्मवेदनीय कर्माशय जन्म, आयु और भोग इन तीनों विपाकों का आरम्भ करने वाला होता है । जन्म संबन्धी अनेक सम्भावनाओं में से जन्म मरण के पश्चात पूर्वकृतकर्म समूहों ... एक साथ एकत्र होकर जन्म देते हैं । पूर्व कर्मों के द्वारा ही आयु और भोग रूप विपाक भी तैयार किए जाते हैं । कर्मफल के संबन्ध में यही सिद्धान्त इस व्याख्या में मान्य ठहराया गया है ।[2]

- -

1 - " अत्र विपाकोऽ विपाकारम्भः । अतो निःशेषाविद्याक्षयेऽपि जीवन्मुक्तानां प्रारब्ध भोग उपपद्यते । " —— पात० यो०सू०वृ० 41 ।

2 - जन्ममरणान्तरे कृतकर्मसमूहो विविध फलद् उपभुक्तव्यादिभिः क्लेश प्राप्ते मरणेन कायारम्भाभिमुख्यं नीतः युगपदेक लोलो भावापन्न एकं जन्म करोति, तेनैव कर्मणा तत्र लब्धायुष्क भोगवत्वेति त्रिविपाकः एवमेषः अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयः ।

—— वही पृ० 42 ।

मणिप्रभा

धर्म-अधर्म रूप कर्माशयों के मूल में काम क्रोधादि क्लेश रहते हैं। मूल में क्लेशों के रहने पर ही कर्माशय विपाकरूप कर्मफल देते हैं।[1] क्लेशमूलक कर्माशय दृष्ट-अदृष्टजन्मवेदनीय होते हैं। कृत कर्म का इसी जन्म में भोग दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय है और कृत कर्म का जन्मान्तर में भोग अदृष्टजन्मवेदनीय-कर्माशय है। कर्मफल जन्म जाति और आयु है, इन्हें विपाक भी कहते हैं। क्लेशों के मूल में होने पर ही चित्त में पड़े हुए कर्म संस्कार उक्त कर्मफल देते हैं। क्लेश जब विवेकख्यातिरूपी अग्नि द्वारा दग्धबीजभाव हो जाते हैं तब कर्माशय फलारम्भक नहीं होते अतः विपाक के लिए क्लेशों का मूल में रहना अनिवार्य है।

योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका

इन दोनों व्याख्याओं में क्लेश मूलक कर्माशयों को ही कर्मफल प्रदायक माना गया है। योगसिद्धान्त चन्द्रिका में इस विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है। बिना क्लेशों के कर्माशय विपाकारम्भी नहीं होते। जिस प्रकार सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार बीजरूप कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है और बिना कारण के कार्य नहीं उत्पन्न होता उसी प्रकार कर्माशयों के मूल में जब क्लेश रहते हैं तभी कर्माशय कर्मफल प्रदान करते हैं। कर्मफलों का ही शास्त्रीय नाम विपाक है। ये विपाक जन्म, आयु और भोग के भेद से तीन प्रकार हैं।

कर्माशय दृष्ट-जन्मवेदनीय और अदृष्ट जन्मवेदनीय के भेद से दो प्रकार के बताए गए हैं। अदृष्ट-जन्मवेदनीय कर्माशय नियत विपाक और अनियत विपाक वाले होते हैं। नियत अदृष्ट-जन्मवेदनीय कर्माशय ही 'एकभविक' अर्थात 'एक जन्म देने वाले' होते हैं। जन्म संबन्धी प्रचलित सभी शंकाओं का उल्लेख करते हुए 'एकभविकवाद' की मान्यता इस व्याख्या में भी दी गई है।

- -

1 - "क्लेशरूपे 'मूले' 'सत्येव' कर्मणो 'विपाकाः' फलं ददति।"
— मणिप्रभा पृ0 32 ।

2 - "इत्थं च सत्कार्यवादपक्षे स्वरूपतस्तेषां नाशाभावेनावस्थितेऽपि बीजाभावात्।"
— योगसिद्धान्तचन्द्रिका पृ0 59 ।

3 - "विच्छेदकविरहेण शरीरे फलस्य भावः तावत्कालोऽस्तीत्येकभविकत्वार्थः।"
— वही पृ0 61 ।

4 - "इत्येकभविकपदे जातिमात्रेऽपि नियता दृष्टजन्मभोगयोरवश्यमङ्गीकारात्।"
— वही पृ0 59 ।

चित्तेन्द्रिय और प्राणों का व्यापार ही कर्म है।[1] कर्म द्वारा चित्त में जो संस्कार बनते हैं उन्हें 'कर्माशय' कहा जाता है। ये कर्माशय पुण्य अपुण्य रूपों वाले होते हैं। कुछ कर्म धार्मिक होते हैं और कुछ कर्म अधार्मिक होते हैं। अतः उनसे बने संस्कार धर्म, अधर्म रूप होते हैं। धर्म, अधर्म रूप कर्माशय ही पुण्य और पापरूप कर्माशय कहे जाते हैं। ये कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय प्रकारक होते हैं। दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय केवल भोग रूप फल का होता है और अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय त्रिविपाकी माना होता है। जन्म, आयु और भोग ये ही त्रिविपाक हैं।[2]

क्लेशों के मूल में रहने पर ही कर्माशय विपाकारम्भी होते हैं। विपाकों में प्रथम विपाक 'जन्म' है। जन्म के संबंध में भाष्य में वर्णित चारों विकल्पों में पूर्व के तीन विकल्पों को निरस्त कर चौथे विकल्प को ही न्याय संगत माना गया है। यथा बहुत से कर्म मिलकर स्थूल शरीर का मृत्युकराकर पुनः एक जन्म रूपी फल प्रदान करते हैं। अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक कर्माशय ही एकभविक होते हैं। क्लेशों के मूल में रहने पर ही अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक कर्माशय फलोन्मुख होकर एकजन्मवर्ती फल प्रदान करते हैं। कर्मसंस्कारों के अनुसार ही स्थूल शरीर आयु और भोग नियोजित होते हैं। इस प्रकार अदृष्टजन्मवेदनीय नियत विपाक कर्माशय ही एकभविक सिद्ध हुए। और वासनाएँ अनेक भवपूर्विका होती हैं अर्थात् वासनाएँ अनेक जन्मों से संचित होती चलती हैं जिसके कारण उन्हें अनेक भवपूर्विका कहा गया है।[4]

- -

1 - "कर्म = चित्तेन्द्रियप्राणानां व्यापारः।" — भास्वती पृ0 161।

2 - "जातिरायुर्भोग इति त्रिविधो विपाकः = फलं कर्माशयस्य, जातिर्देहः आयुर्देहस्थितिकालः, भोगः सुखं दुःखं मोहश्च।" — वही पृ0 163।

3 - "बहूनि कर्माणि मिलित्वैकमेव जन्म निर्वर्तयन्तीति सिद्धान्त एव न्याय्यः।" — वही पृ0 167।

4 - "ये त्वदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाकाः कर्मसंस्कारास्तेषामेकभविकत्वं नामान्यं = वासनानां सर्वासां आद्यावस्थाकारणानामेवं भवभवेनेतार्थः अभिव्यक्तिकारणाम्।" — वही पृ0 173।

स्वामिनारायणभाष्य

अविद्यादिमूलक कर्माशय से ही जाति, आयु, भोग, रूप फल या विपाक उत्पन्न होते हैं[1]। यह कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय प्रकारक होते हैं। तीव्र पुण्य और पाप से इसी जन्म में अनुभूत फल दृष्टजन्मवेदनीय होते हैं और शुभ, अशुभ कर्मों का फल जो दूसरे जन्म में प्राप्त होता है उसे अदृष्ट-जन्मवेदनीय कहा गया है।

चित्त में अनादिकाल से संचित धर्म-अधर्म रूप कर्मों के संस्कार अविद्यादि क्लेशों से युक्त होने पर जाति, आयु, और भोग रूप कार्य आरम्भ करते हैं।

- -

1 - भवति च - "अविद्यादिक्लेशमूलकः कर्माशयो जात्यायुर्भोगजनक इति।"
— स्वा०ना०भा० पृ० 198

गुणवृत्तिविरोध अथवा गुणवृत्त्यविरोध

व्यासभाष्य

भाष्यकार व्यास ने "गुणवृत्त्यविरोधात्" अर्थात 'अविरोधात्' पाठ को स्वीकृत किया है। इस संबंध में उन्होंने अधोलिखित तर्क दिये हैं —
सभी विषयसुख त्रिगुणात्मक हैं। सुखानुभवकाल में यद्यपि सत्त्वगुण का प्रभाव ही मुख्य होता है परन्तु उस समय ऐसा नहीं होता है कि अन्य दो गुण बिल्कुल ही नहीं रहें। ये दोनों गुण भी साथ-साथ रहते हैं अर्थात् तीनों गुण सर्वदा सभी स्थिति में साथ-साथ रहते हैं। जब सत्त्वगुण का प्राबल्य होता है तब अन्य दो गुण गौणभूत होकर रहते हैं। इसी तरह बारी बारी से जैसा विषय होता है तदनुरूप गुण प्रबल होते रहते हैं और शेष दो गुण गौणभूत रहते हैं। इस आधार पर यह सर्वथा मान्य सिद्धान्त है कि गुण परस्पर विरोधी-भाव होकर क्रियाशील नहीं होते प्रत्युत अविरोधीभाव होकर ही क्रियाशील होते हैं।

अनुभव की स्थिति का भी यदि अवलोकन किया जाये तो भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि गुणों में परस्पर अविरोधभाव होता है। जब हमें सुख का अनुभव होता है तब उसी समय मोहात्मक और दुःखात्मक वृत्तियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। विवेकी पुरुष सुखात्मक विषयभोग के क्षण ही अपने विवेकज्ञान के कारण उन विषय सुखों में ही दुःख जनक तथा मोह जनक परिणाम दुःखता को देखकर ही विषय सुखों से विरक्त होना चाहता है। इस आधार पर भी गुणों का परस्पर 'अविरोध' ही परिलक्षित होता है।[1]

- -

1. "एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जित सुख दुःख मोह प्रत्ययाः सर्वे सर्वरूपा भवन्तीति, गुण प्रधान भावकृतस्त्वेषां विशेष इति। तस्मात् दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति।'
— व्यासभाष्य पृ0 174।

तत्त्ववैशारदी

तत्त्ववैशारदीकार ने भी विषयसुखों को त्रिगुणात्मक माना है । उनका कहना है कि सभी सुख भोगों का परिणाम अन्त में दुःख तथा मोहात्मक ही होता है । विषय सुखों की त्रिगुणात्मकता यह सिद्ध करती है कि तीनों गुण परस्पर अनुग्राहकी होकर ही कार्य करते हैं । तीनों गुण सहकारी भाव से कार्य करते हैं[1] । अतः गुणों में 'अविरोध' का सिद्धान्त ही स्वीकृत किया जाना चाहिए । तत्त्ववैशारदीकार ने गुणवृत्त्यविरोधात् पाठ को प्रामाणिक पाठ माना है ।

राजमार्तण्डवृत्ति

इस व्याख्या में उक्त व्याख्याओं के विपरीत पाठ को स्वीकार किया गया है । भोजवृत्तिकार के अनुसार सत्वादि तीनों गुणों से उत्पन्न वृत्तियाँ परस्पर विरुद्ध होती हैं । सुखानुभवकाल में दुःख की अनुभूति विरोधी, अनुभूति ही है । क्योंकि दोनों प्रकार के अनुभवों का स्वरूप भिन्न भिन्न है । इन विरुद्ध अनुभवों का उदय भी गुणों के द्वारा ही होता है अतः गुणों में विरोध वृत्ति को स्वीकार किया जाना चाहिए । अपने इसी तर्क के आधार पर भोजवृत्तिकार ने 'गुणवृत्तिविरोधात्' पाठ को स्वीकृत किया है[2] ।

विवरणकार, योगवार्तिककार, योगदीपिकाकार, पातंजलयोगसूत्रवृत्तिकार और योगसिद्धान्तचन्द्रिकाकार ने भाष्यकार द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को ही मान्यता दी है । भाष्यकार की भाँति इन व्याख्याकारों ने भी गुणवृत्त्यविरोधात् पाठ को ही स्वीकार किया है । मणिप्रभाकार ने इन लोगों के विपरीत राजमार्तण्डवृत्तिकार के 'विरोधात्' पाठ को स्वीकार किया है । भास्वतीकार ने भी गुणवृत्तियों में विरोध होने पर ही सुख दुःखानुभव को स्वीकार किया है और इसी आधार पर उन्होंने 'गुणवृत्तिविरोधात्' पाठ को स्वीकार किया है[3] ।

- -

1 - " सामान्यानि त्वसमुदायरूपाण्यविरोधीनि समुदायरूपीणि तथाऽविरोधात्मकानि इति ।" — त०वै० पृ० 176 ।

2 - " गुणवृत्तिविरोधाच्चेति । गुणानां सत्त्वरजस्तमसां या वृत्तयः सुख दुःख मोह रूपाः परस्परमभिभाव्याभिभावकत्वेन विरुद्धा जायन्ते तासां सर्वत्र दुःखानुवेधाद् दुःखत्वम् ।" — रा०मा०वृ० पृ० 178 ।

3 - " गुणानां या वृत्तयः सुख दुःखमोहात्मिकाः विरोधाभिभाव्याभिभावकत्वात् सुखमपि विवेकिनः सर्वमेव दुःखम् ।

— भास्वती पृ० 182 ।

स्वामिनारायणभाष्य

इस व्याख्या में 'गुणवृत्तिविरोधात्' पाठ स्वीकृत किया गया है । परिणाम दुःख तापदुःख और संस्कार दुःख तीनों ही परस्पर भिन्न हैं अतः इन भिन्न भावों का अनुभव जिन कारणों से होता है वे भी एक दूसरे से भिन्न होने चाहिए । इस आधार पर गुणों में विरोध ही स्वीकार करना चाहिए ।

दृश्य पदार्थों का स्वरूप

सूत्रकार ने द्रष्टा और दृश्य पदार्थों के संयोग को ही संसार का हेतु माना है । उन दो तत्वों में से "द्रष्टा" पुरुष के संबन्ध में सभी व्याख्याकार एक मत हैं । पहले अध्याय में भी प्रसंगतः द्रष्टापुरुष के स्वरूप का पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है अतएव यहाँ "दृश्य" के स्वरूप विवेचन के संदर्भ में विभिन्न व्याख्याकारों के मतों का अनुशीलन प्रारम्भ किया जा रहा है ।

व्यासभाष्य

दृश्य अर्थात् बुद्धि त्रिगुणात्मक है[2] । सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण युक्त होने के कारण यह प्रकाशशील, क्रियाशील और स्थितिशील है । त्रिगुणात्मिका होने के कारण

- -

1 "परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च तेषां दुःखानि, तत्संम्भिन्नदुःखानीत्यर्थः, तैः । अथ च गुणानां या वृत्तयस्तासांविरोधाच्चसर्वं दुःखमात्मोपलभ्य एव भवतीति ।"

— स्वा०ना०भा०पृ० 203 ।

2 - " दृश्या बुद्धिसत्त्वोपारूढाः सर्वे धर्माः । तदेतद् दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य दृशिरूपस्य स्वामिनः ।"

— व्यासभाष्य पृ० 185 ।

ही बुद्धि को जड़ भी कहा गया है । परन्तु जब पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ता है तब वह चेतनवत् हो जाती है । वैसे उसका अपना स्वरूप अचेतन ही है । चेतनवत् तो वह प्रतिबिम्ब के द्वारा होती है ।

त्रिगुण ही प्रधान है । त्रिगुणों से अलग प्रधान की कोई सत्ता नहीं है । चूंकि त्रिगुण को दृश्य माना गया है अतः प्रधान भी दृश्य हुआ तथा इन्द्रिय तथा सभी विषय दृश्य ही हुए । बुद्धि परार्थ है।यह पुरुष के लिए भोग और मोक्ष का सम्पादन करती है । दृश्य का स्वरूप पुरुष के लिए ही होता है । दृश्य का स्वरूप कभी भी नष्ट नहीं होता क्योंकि यदि एक पुरुष योग द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर भी लेता है तो अन्य पुरुषों का संयोग बुद्धि से बना रहता है अतः भाष्यकार का यह कहना उचित ही है –
" कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात् ।[1] "

तत्ववैशारदी

बुद्धि जड़ है । यह चितिच्छायापत्ति पड़ने पर चेतनवत् होकर तद्-तद् विषयों का प्रतिसंवेदन करती है । शब्दादि विषय बुद्धि के धर्म हैं । बुद्धि इनके आकार से आकारित होने के उपरान्त ही चितिच्छायापत्ति पड़ने पर पुरुष के लिए भोग प्रस्तुत करती है । चितिच्छायापत्ति होने पर बुद्धि और पुरुष का संयोग होता है और तभी पुरुष उस दृश्य के विषय का स्वामी बनकर भोक्ता बनता है ।[2]

- -

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 250 ।

2 - " इन्द्रियप्रणालिकया बुद्धौ शब्दाद्याकारेण परिणतायां दृश्यानां शब्दादयोऽपि धर्मा दृश्य इत्यर्थः । - - - - - - - किन्तु स्वं चैतन्यासम्भवज्जडरूपं तेन प्रतिसंक्रान्तं तदात्तदनुभव विषयः । ननु यद्य हि यत्र क्रियायत्ते तत्तदधीनम् । तथा च न तथा कर्मेत्यत आह – स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात्पुरुषार्थत्वात्परतन्त्रं पुरुषतन्त्रम् । "
— त0वै0पृ0 186 ।

तीनों गुण ही दृश्य हैं। ये तीनों गुण प्रधान में पाये जाते हैं। 'प्रधान' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से की गई है — "प्रधीयत आधीयते विश्वं कार्यमिति व्युत्पत्तेर्नाद् दृश्य-मुच्यते ।"[1] अर्थात् विश्व के समस्त कार्य इन्हीं गुणों द्वारा प्रधान में रखे जाते हैं अतः प्रधान भी दृश्य हुआ। गुण ही पुरुष के लिए भोग तथा अपवर्ग सम्पादित करते हैं।

राजमार्तण्डवृत्ति

'दृश्य' 'बुद्धितत्त्व' है[2]। बुद्धि के तीन गुण हैं। प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति। ये तीनों गुण बुद्धि में स्वाभाविक रूप से रहते हैं अतः[3] दृश्य का स्वरूप भी बुद्धि के स्वरूप के समान ही प्रकाशात्मक, प्रवृत्तिशील और स्थितिशील है क्योंकि बुद्धितत्त्व और दृश्य दोनों वस्तुतः एक ही तत्त्व हैं। 'दृश्य' पुरुष के लिए भोग सम्पादन करती है[4]। 'दृश्य' भोग्य है इसीलिए इसे 'स्वार्थिक' भी कहा गया है[5]।

विवरण

विवरणकार ने दृश्य अथवा बुद्धि को अन्तःकरण माना है[6]। बुद्धि के सभी धर्म दृश्य हैं[7]। दृश्य में अयस्कान्तमणि के सदृश आकर्षण शक्ति है। इसी शक्ति के कारण

- -

1 - द्रष्टव्य - त०वै०पृ० 192 / 193 ।
2 - "दृश्यं बुद्धिसत्त्वम् ।" रा०मा०वृ०पृ० 184 ।
3 - "तत्र प्रकाशक्रियास्थितयः शीलं स्वाभाविकं रूपं यस्य तत्तथा स्थितिशील स्वरूपमस्य निर्दिष्टम् ।" — वही पृ० 188 ।
4 - "स न हि प्रधानं प्रवर्तमानमात्मनः किञ्चित्प्रयोजनमपेक्ष्य प्रवर्तते किन्तु पुरुषस्य भोक्तृत्व संपादयितुमिति ।" — वही पृ० 199 ।
5 - "स्वार्थितलक्षणस्य स्वभाव ।" — वही पृ० 205 ।
6 - "दृश्या बुद्धिः अन्तःकरणं प्रधानत्वेन ।" — विवरण पृ० 172 ।
7 - "बुद्ध्युपारूढा सर्वेऽर्थे धर्मा दृश्याः ।" — वही पृ० 172 ।

पुरुष इसका स्वामी बनता है और बुद्धि उसकी स्व बनती है[1]। बुद्धि जब शब्दादि आकार से आकारित होती है तब यह पुरुष के लिए भोग्य बनती है।

द्रव्य त्रिगुणात्मक होने के कारण प्रकाश, क्रिया और स्थिति स्वरूप है। विवरणकार ने प्रकाशादि के साथ 'शील' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। इनका मत है कि 'शील' शब्द व्यापार रूप के साथ कभी भी प्रयुक्त नहीं किया जाता है[2]। अतः स्वरूप द्योतनार्थ शील का प्रयोग नहीं करना चाहिए और इसीलिए उन्होंने इनकी व्याख्या में 'शील' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है[3]।

योगवार्तिक

योगवार्तिक में भी गुणों को ही द्रव्य माना गया है। गुणों के विकार को लेकर शंका उठाई गई है कि क्या गुणों के विकार भी द्रव्य कहे जायेंगे? वार्तिककार ने इस शंका का समाधान बहुत ही सुस्पष्ट ढंग से किया है। वे लिखते हैं — जिस प्रकार वृक्ष के 'पर्ण' वाले भाग को भी वृक्ष ही कहा जाता है उसी प्रकार गुणों के विकार भी उनसे पृथक कुछ भी नहीं। प्रत्युत गुण के ही विकार हैं। अतः इन्हें भी द्रव्य कहा जाना चाहिए। गुण प्रकृति में रहते हैं अतः गुणों को प्रकृति शब्द से भी संबोधित किया जाता है[4]। प्रधान की व्युत्पत्ति को उन्होंने भी समझाया है — "प्रधीयतेऽस्मिन्कार्यजातमितिव्युत्पत्त्या प्रधानप्रकृत्या-विशोध्यत्वमस्य इत्यर्थः[5]।" अर्थात् प्रकृति में ही सभी कार्य रखे जाते हैं अतः इसे प्रधान कहा गया है। गुण पुरुष के द्रव्य हैं।

- -

1 - "अयस्कान्तमणिरिव स्वं बुद्धिरस्य चितिशक्त्यागामिनः स्वामिनः।" — विवरण पृ0 173।

2 - "न हि व्यापाररूपो कश्चिदपि शीलशब्दः प्रयुज्यते।" — वही पृ0 176।

3 - "तस्मान्न स्वरूपाभिप्रायेण शीलशब्दप्रयोगः।" — वही पृ0 176।

4 - "गुणा एव प्रकृतिशब्दवाच्याः न तु तदतिरिक्ता प्रकृतिरस्तीत्यवधारयति एते गुणा इति। सत्त्वादयो गुणा एते प्रकृति शब्द वाच्या इति।" — योगवार्तिक पृ0 194।

5 - "द्रष्टव्य - योगवार्तिक पृ0 194।

योगदीपिका

बुद्धि अथवा दृश्य सुख, दुःख और मोहात्मक रूप वाली है । अतः जितने भी पदार्थ सुख, दुःख और मोहरूप हैं वे सभी दृश्य हैं [1] । बुद्धिसत्त्वादिगुण त्रय से युक्त है इसीलिए उसे 'दृश्य' भी कहा गया है [2] । इस संसार में स्थूल, सूक्ष्म सभी पदार्थ दृश्य रूप ही हैं । स्थूल पदार्थों से बुद्धि की स्थितिशीलता, कर्मेन्द्रियां उसकी क्रियाशीलता के और सूक्ष्मतत्त्व जैसे अन्तःकरण आदि उसकी प्रकाशशीलता के द्योतक हैं [3] । यह पुरुष के लिए भोग और मोक्ष प्रदान करती है ।

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

दृश्य का स्वभाव प्रकाश, क्रिया और स्थितिशील है । इसके इस स्वरूप की प्रामाणिकता इन तत्त्वों के द्वारा सिद्ध होती है । स्थूलसूक्ष्म पदार्थों के द्वारा उसकी स्थितिशीलता निर्धारित होती है । स्थूल कर्मेन्द्रियों द्वारा इसकी क्रियाशीलता निर्धारित होती है और अन्तःकरणरूप सूक्ष्मेन्द्रिय से इसकी प्रकाशशीलता निरूपित होती है [4] । दृश्य पुरुष के लिए भोग मोक्ष सम्पादित करता है ।

मणिप्रभा

'दृश्य' ही बुद्धिसत्त्व है । अर्थात् बुद्धिसत्त्व और दृश्य दोनों एक ही तत्त्व हैं [5] । बुद्धिसत्त्व में विविध शब्दादि के आकार से आकारित होने की योग्यता है [6] । दृश्य अथवा बुद्धि ही पुरुष के लिए भोग और मोक्षसम्पादित करती है । बुद्धि जड़ है अतः उसमें दृश्यत्व की योग्यता है तभी तो यह पुरुष का 'स्व' बनती है और पुरुष उसका स्वामी बनता है ।

- -

1 - " सुखदुःखमोहात्मकाखिलद्रव्याकारत्वेनाखिलदृश्यरूपया बुद्धया ।" —योगदीपिका पृ0 44।

2 - " सत्त्वादि गुणत्रयं मद्वृत्तं पुरुष भोग्यत्वेन दृश्यशब्दवाच्यम् ।" — वही पृ0 45 ।

3 - " द्रष्टव्य - योगदीपिका पृ0 45 ।

4 - " तत्र स्थूलसूक्ष्मभूतकारणत्वेन स्थितिशीलत्वं, स्थूलकर्मेन्द्रियहेतुत्वात्क्रियाशीलत्वं, अन्तः - करण रूपसूक्ष्मेन्द्रिय हेतुत्वात्प्रकाशशीलत्वम् ।" — पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ0 45

5 - " बुद्धिसत्त्वं हि विविधशब्दाद्याकारैरिन्द्रियादिद्वारा परिणतम् ।" — मणिप्रभा पृ0 34 ।

6 - " भोगमोक्षप्रयोजकं 'दृश्य' मित्यर्थः ।" — वही पृ0 35 ।

योगसूत्रार्थबोधिनी

दृश्य ही बुद्धिसत्त्व है[1]। दृश्य का स्वरूप त्रिगुणात्मक है। अतः यह प्रकाशशील, क्रियाशील और स्थितिशील है। 'स्थिति' की व्याख्या इस व्याख्या में इस प्रकार की गई है — 'प्रकाश' और 'क्रिया' को रोकने वाला स्वभाव ही 'स्थिति' है[2]। 'दृश्य' को 'प्रधान' शब्द से भी संबोधित किया जाता है। पुरुष के लिए 'भोग' और 'अपवर्ग' दृश्य ही प्रस्तुत करती है।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका

इस व्याख्या में 'दृश्य' को 'प्रधान' माना गया है[3]। प्रकाश प्रवृत्ति और स्थिति इसका अपना रूप है। दृश्य 'सत्' है तथा 'जड़' रूपा है। इसीलिए इसमें 'भोग्यता' की योग्यता है।

भास्वती

'दृश्य' त्रिगुणों से युक्त होने के कारण प्रधान शब्द से भी अभिहित की जाती है। दृश्य में अनुवर्तनशीलता का गुण विद्यमान है। अपने निकटस्थ पदार्थों के आकार से आकारित हो जाना दृश्य की स्वभावगत विशेषता है[4]। यह पुरुष के लिए 'भोग' और 'मोक्ष' सम्पादित करती है।

- -

1 - "दृश्यं बुद्धिसत्त्वम् ।" — यो०सू०बो० पृ० 23।

2 - "स्थितिः प्रकाश क्रिययोः प्रतिबन्धकस्वभावस्तमः ।" — वही पृ० 23।

3 - "दृश्यं प्रधानम् ।" — यो०सि०च० पृ० 63।

4 - "अनुवर्तनशीलाः एकशीलास्तथा गुणाः प्रधानाख्यतया प्रथन्तीति ।" — भास्वती पृ० 199

आभिमतारामपवाद

दृश्य ही बुद्धितत्व है । त्रिगुणात्मक होने के कारण यह द्रष्टा के लिए उपभोग का साधन है । प्रकृति के सभी कार्य यथा महत्, अहंकार इन्द्रिय, तन्मात्राएँ सभी कुछ 'दृश्य' हैं । परन्तु साक्षात् उपभोग का साधन जो बनती है वह 'दृश्य' बुद्धितत्व नाम से जानी जाती है ।[1] बुद्धितत्व प्रधान का कार्य है । पुरुषार्थसमाप्ति के पश्चात् प्रकृति में विलीन हो जाना बुद्धि का स्वभाव है अतः बुद्धि अनित्य है । बुद्धि अनेकाश्रित है, जितने भी पुरुष हैं सभी का विषय बुद्धि ही है। अतः यह अनेकाश्रित है तथा अनेक भी है ।[2] यह त्रिगुणात्मक है अतः यह सावयव भी हुई और पुरुष के लिए भोग मोक्ष प्रस्तुत करती है अतः परतन्त्र हुई । पुरुष स्वेच्छा से ही अविद्यावशात् दृश्य का भोग करता है और स्वेच्छा से ही अपवर्ग प्राप्त कर दृश्य से अलग हो जाता है परन्तु दृश्य अपने आप पुरुष से संयुक्त या वियुक्त नहीं होती इसीलिए इसे 'परतन्त्र' कहा गया है क्योंकि अपने कार्य के लिए यह प्रकृति की सहायता की अपेक्षा करती है । दृश्य को अविवेकी अचेतन और प्रसवधर्मी कहा गया है । इस प्रकार त्रिगुणात्मक बुद्धि ही दृश्य है और उक्त विशेषताओं से युक्त है ।

- -

1 - " सर्वं प्रकृति कार्यात्मकमप्यत्र मध्ये साक्षादुपभोगसाधनत्वेनाऽऽत्मना सह संयुक्तं बुद्धितत्त्वमत्र मुख्यं दृश्यं ग्राह्यम् ।"

— स्वा०ना०का०पृ० 207 ।

2 - " भवति च दृश्यं -- 'हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगं सावयवं परतन्त्रमिति, तत्र मूल प्रकृतिः कारणं बुद्ध्यादेरतः प्रकृतिकारणकत्वं - हेतुमत्वम्, प्रतिसर्गावस्थायां बुद्धिपर्यन्तानां यावतां विकाराणां प्रकृतौ लयो भवति, अतस्तिरोभावलक्षणविनाशवत्त्वम् - अनित्यत्वमिति, - - - - - अनेकम् - बुद्ध्यादयो हि प्रतिव्यक्तिभिन्नाः सन्ति ।"

— वही पृ० 211 ।

संयोग का स्वरूप तथा हेतु

व्यासभाष्य

पुरुष को दृश्य का ज्ञान प्राप्त होना भोग है तथा अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाना मोक्ष है[1]। यह दोनों कार्य पुरुष का बुद्धि के साथ संयोग होने से होता है। 'संयोग' क्या है? यह यहाँ पर स्वाभाविक प्रश्न है। भाष्यकार ने इसका समाधान इस प्रकार से दिया है। द्रष्टा का भोग प्राप्त करना अर्थात् दृश्य के उपस्थित होने पर द्रष्टा का भोक्तृत्व संबन्ध होना तथा अन्त में अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना ही संयोग का प्रयोजन है। अविद्या या अज्ञान से संयोग होता है अर्थात भोग काल में पुरुष का दृश्य के साथ जो संयोग होता है वह सब अविद्या के कारण है। जब यह अविद्या रूपी अज्ञान दूर हो जाता है तब द्रष्टा को दृश्य तथा अपने स्वरूप का भेद ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिसे विवेकख्याति कहते हैं।

इस संयोग का कारण अविद्या है। विपर्यय-ज्ञान-वासना ही अविद्या है। विपर्यय ज्ञान से युक्त बुद्धि विवेकख्याति रूप अपने कार्य को नहीं प्राप्त करती। अतः बुद्धि का प्रतिसंवेदी पुरुष दृश्य[2] द्वारा प्रदत्त भोग को भोगता रहता है और अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं प्राप्त करता। परन्तु जब अविद्या दूर हो जाती है तब उसे अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है और अविद्याजन्य विकार से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार संयोग का कारण अविद्या है। अविद्या के नष्ट हो जाने पर संयोग का अभाव हो जाता है तथा द्रष्टा को अर्थात् पुरुष को कैवल्य प्राप्त हो जाता है।

- -

1 - "पुरुषः स्वामी दृश्येन स्वेन दर्शनार्थं संयुक्तः। तस्मात्संयोगाद् दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः, या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः। दर्शनकार्यावसानः संयोग इति दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तम्।" — व्यासभाष्य पृ० 221।

2 - विपर्ययज्ञानवासनावासिता च न कार्यनिष्ठां पुरुषख्यातिं बुद्धिः प्राप्नोति, साधिकारा पुनरावर्तते। सा तु पुरुषख्यातिपर्यवसाना कार्यनिष्ठां प्राप्नोति, चरिताधिकारा निवृत्तादर्शना बन्धकारणाभावान्न पुनरावर्तते।" — वही पृ० 228।

इस हेयहेतुभूत संयोग की कारणभूता अविद्या का स्वरूप निश्चित करने के पूर्व अविद्या के बारे में दिए गए मत विचारणीय हैं । यथा —

(1) क्या गुणों का अधिकार अर्थात् कार्यारम्भ अविद्या है ?

(2) अथवा द्रष्टा को पुरुष के स्वरूप का दर्शन न कराने वाले दृश्य के विषयों की उपस्थिति ही अविद्या है ?

(3) क्या गुणों की प्रयोजनवत्ता अदर्शन है ?

(4) क्या चित्त विलय की पुनः अभिव्यक्ति का बीज अविद्या है ?

(5) क्या प्रकृति के स्थिति संस्कार का क्षय होने पर गति संस्कार की अभिव्यक्ति अविद्या है ?

(6) क्या ज्ञान शक्ति अर्थात् बुद्धि ही अदर्शन है ?

(7) अन्य सम्प्रदाय यह मानता है कि अदर्शन द्रष्टा और दृश्य दोनों का धर्म है । दृश्य का आत्मा में स्थित होना तथा पुरुष का दृश्य में प्रतिबिम्बित होना ही अदर्शन है ।

(8) क्या विषयों का ज्ञान ही अदर्शन है ? ऐसा भी कुछ लोगों का कहना है ।

इन सभी शास्त्रीय विकल्पों में से चतुर्थ विकल्प ही अविद्या का स्वरूप निर्धारित करता है[1] । चतुर्थ-विकल्प में चित्त की पुनः अभिव्यक्ति का बीज रूप अविद्या संस्कार को ही अदर्शन कहा गया है । विपर्यय ज्ञान की वासना से वासित बुद्धि कार्य करने के सामर्थ्य से युक्त होकर पुनः पुनः अभिव्यक्त होती है । यह अविद्या ही संयोग का कारण है ।

- -

1- " अपरिपक्वा स्वचित्तेन सह निरुद्धा स्वचित्तस्योत्पत्तिबीजम् ।"

— व्यासभाष्य पृ० 228 ।

दृश्य पुरुष के लिए भोग प्रस्तुत करता है । पुरुष उन भोगों को भोगता हुआ स्वामी कहलाता है और दृश्य पुरुष रूप स्वामी का "स्व" होता है ।[1] पुरुष और बुद्धि के संयोग को तत्त्ववैशारदीकार ने नित्य माना है । प्रधान नित्य है । दृश्य को प्रधान भी कहते हैं । कारण दोनों का स्वरूप त्रिगुणात्मक है । गुणों से भिन्न इनका अपना अलग से कोई रूप नहीं है अतः प्रधान ही दृश्य है और दृश्य ही प्रधान है । चूंकि सांख्ययोग के अनुसार प्रधान नित्य है अतः दृश्य भी नित्य है और दृश्य का पुरुष के साथ संयोग भी नित्य हुआ ।

संयोग की स्थिति में पुरुष अपने चैतन्य स्वरूप को भूला रहता है अतः यह कहा गया है कि जब पुरुष और बुद्धि का संयोग होता है तब दर्शन कार्य का अवसान होता है और जब पुरुष का बुद्धि से वियोग होता है तब पुरुष को दर्शन होता है अर्थात् पुरुष को ख्याति प्राप्त हो जाती है जिससे वह मुक्त हो जाता है ।

संयोग का कारण अज्ञान है । विपर्यय ज्ञान युक्त वासना ही अज्ञान है । अविद्या संबन्धी आठों विकल्पों की व्याख्या इन्होंने भी की है । यह व्याख्या भाष्य के ही समान है, कोई विशेष उल्लेख नहीं किया गया है अतः अलग से इन व्याख्याओं को उद्धृत नहीं किया जा रहा है । अविद्या संबन्धी चतुर्थ विकल्प को इन्होंने भी अविद्या के स्वरूप का निर्धारक माना है ।

- -

1 - " यतो दृश्यं सकर्मकत्वज्ञानिस्युपकारं भजमानः पुरुषस्तस्य स्वामी भवति । भवति च तद् दृश्यमस्य स्वम् । स चानयोः संयोगः शक्तिमात्रेण व्यवस्थितस्वरूपोपलब्धि हेतुः । "

— त०वै०पृ० २२२ ।

अन्त में अविद्या के विषय में लिखते हैं कि, अविद्या रूपी वासना प्रकृति में हमेशा विद्यमान रहती है। अतः प्रत्येक सृष्टि में यह पुरुष के साथ संयुक्त होकर रहती है। प्रकृति या दृश्य का यह संयोग मिथ्या है कारण जब कोई एक पुरुष मुक्त हो भी जाता है तब उस पुरुष का बुद्धि के साथ सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है परन्तु अन्य और पुरुष बचे रहते हैं जिनके साथ बुद्धि का संयोग बना रहता है।

राजमार्तण्डवृत्ति

स्वशक्ति दृश्य है और स्वामी द्रष्टा अथवा पुरुष है। इन दोनों तत्वों में संवेद्य-संवेदक भाव का होना ही संयोग है।[1] संयोग को 'अविवेकख्याति' की संज्ञा भी दी गई है। अविवेकख्यातिरूप संयोग का कारण अविद्या है।[2] अविद्या विषयक विकल्पों का निर्देश इन्होंने नहीं किया है।

विवरण

बुद्धि और पुरुष का 'स्वस्वामिभाव' रूप की उपलब्धि ही संयोग है।[3] द्रष्टा और दृश्य के संयोग का कारण अविद्या है।[4] द्रष्टा और दृश्य के बीच संयोग का नाम मिथ्या-ज्ञान या विपर्यय-ज्ञान है। क्योंकि इस संयोग का फल दुःख है।[5] जब विवेक ख्याति रूप ज्ञान का आविर्भाव होता है तब अविद्या का नाश हो जाता है और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अविद्या संबन्धी आठों विकल्पों का निरसन इन्होंने भी किया है।

- -

1 - " स्वशक्तिर्दृश्यस्य स्वभावः, स्वामिशक्तिर्द्रष्टुः स्वरूपं, तयोर्द्वयोरपि संवेद्य-संवेदकत्वेन व्यवस्थितयोर्या स्वरूपोपलब्धिस्तस्याः कारणं यः स संयोगः।"
— रा०मा०वृ० 205।

2 - " या पूर्वं विपर्यासात्मिका मोहरूपाऽविद्या व्याख्याता सा अविवेकख्याति रूपस्य संयोगस्य कारणम्।" — वही पृ० 208।

3 - " यस्मिन् सति तयोः स्वरूपमुपलभ्यते भवन-दर्पणयोरिव, स तयोः स्वस्वामिभावोपलब्धि हेतुः। संयोगः द्रष्टृदृश्यस्वरूपकार्यानुमेय इत्यर्थः।" — विवरण पृ० 19

4 - " अविद्या द्रष्टृदृश्ययोः संयोगकारणम्।" वही पृ० 196।

5 - " दुःखनिमित्तत्वाच्च संयोगस्य।" — वही पृ० 196।

योगवार्त्तिक

योगवार्त्तिककार ने अन्वयव्यतिरेक द्वारा अविद्या को संयोग का कारण सिद्ध किया है[1]। विपर्ययज्ञान रूपी वासना के बल से पुरुष विवेकख्याति रूप अपने चरम लक्ष्य को न प्राप्त कर बुद्धि से संयुक्त होकर बुद्धि द्वारा प्रवृत्त भोग में रत रहता है। 'परवैराग्य' के उदित होने पर बुद्धि का कार्य समाप्त हो जाता है और पुरुष 'ख्याति' अर्थात् विवेकख्याति को प्राप्त करता है। इस अवस्था में पुरुष अविद्या के बन्धन से मुक्त हो जाता है[2]। इस प्रकार दृश्य के संयोग से पुरुष भोक्ता बनता है और दृश्य से वियोग होने पर मुक्त हो जाता है।

द्रष्टा और दृश्य का स्वस्वामिभाव का संयोग अनादि है। बुद्धि ही वह द्वार है जिसके द्वारा सभी भोग्यरूप दृश्य का पुरुष से संयोग होता है। दृश्य के साथ पुरुष के संयोग का कारण विपर्ययज्ञान वासना अर्थात् अविद्यारूपी वासना है। 'अविद्या' विषयक आठ शास्त्रीय विकल्पों की विस्तृत व्याख्या इन्होंने भी की है। व्याख्या भाष्य के ही सदृश है अतः उसका उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

योगदीपिका

त्रिगुण पुरुष के लिए भोग सम्पादित करते हैं। इसीलिए इनको 'दृश्य' शब्द से अभिहित किया गया है[3]। दृश्य त्रिगुणात्मक है इसीलिए इसका स्वरूप सुख-दुःख और मोहात्मक है। द्रष्टा का जब दृश्य से संयोग होता है तब वह जन्मादि के बन्धन में बंध जाता है। जन्मादि का बन्धन ही दुःख का कारण है अतः द्रष्टा और दृश्य के संयोग को दुःख का कारण कहा गया है[4]।

---

1 - "सेयं चान्वयव्यतिरेकाभ्यां विपर्ययवासनाबुद्धिः पुरुष संयोगहेतुरिति भावः।"
— यो०वा०पृ० 230।

2 - "विपर्ययज्ञानवासनाबलात् पुरुष ख्यातिरूपं कार्यनिष्ठां स्वकर्तव्यपरमावधिं न प्राप्नोति बुद्धिरतः साधिकारतया पुनरावर्तते पुरुषेण संयुज्यते, सा तु बुद्धिः पुरुषान्यतख्यातिपर्यन्तासती कार्यसमाप्तिं प्राप्नोति परवैराग्योत्पादात्, ततश्च चरिताधिकारा निष्पादितकार्या विवृत्तविषया सती संयोगाख्यबन्धस्य कारणाभावात् न पुनः पुरुषेण संयुज्यत इत्यर्थः।"
— वही पृ० 230।

3 - "सत्त्वादित्रिगुणमयं ताद्रूप्यं पुरुषभोग्यत्वेन दृश्याभ्यवसेयम्।" — यो०दी०पृ० 45

4 - "सुखदुःखमोहात्मकत्रिगुणदृश्यस्वरूपेण संसारिण दृश्यस्तथा पुरुषः द्रष्टुः पुरुषस्य जन्माद्यः संयोगविशेषो दुःखहेतुरित्यर्थः।"
— वही पृ० 44।

संयोग का प्रयोजन पुरुष के लिए 'भोग' और 'अपवर्ग' की प्राप्ति कराना है[1]। संयोग का मूल कारण अविद्या है[2]। अविद्या के आठों विकल्पों का विवेचन इस व्याख्या में नहीं किया गया है।

पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति

अखिल विषयों के आकार से आकारित दृश्य रूप बुद्धि के प्रतिबिम्ब से पुरुष का 'भोक्ता' रूप का हो जाना ही 'संयोग' है। यह संयोग जन्मादि दुःखनिमित्तक कारणों को देने वाला है। दृश्य अयस्कान्तमणि के सदृश आकर्षणशील है अतः पुरुष का उससे सान्निध्य होते ही दोनों संयुक्त हो जाते हैं। इस अवस्था में पुरुष का बुद्धि से जो अभेद रूप ज्ञान होता है वह संयोग का ही परिणाम होता है[4]। जिसके फलस्वरूप पुरुष अपने को अविद्याजन्य भोक्तृत्व, द्रष्टृत्व और स्वामित्व रूप उपाधियों से युक्त समझ लेता है। संयोग का प्रत्येक सर्वांश दुःखपूर्ण ही होता है क्योंकि अविद्यावशात् अपने स्वरूप को भूला हुआ पुरुष दृश्य रूप भोगों में सुख का अनुभव करता है। यह सुखादिविषयक अनुभव क्लेशकर्मादियों से युक्त होने के कारण यथार्थतः सुखदायी नहीं होते प्रत्युत उनका परिणाम दुःख ही होता है इसी लिए संयोग को दुःख रूप कहा गया है[5]।

- -

1 - "(तत्प्रवृत्तेः) प्रयोजनमाह भोगापवर्गार्थमिति।" - योगदीपिका पृ0 45।

2 - "तस्य जन्मादिकस्य द्रष्टृदृश्यसंयोगस्याविद्या मूलकारणमित्यर्थः।" — वही पृ0 46।

3 - "सुखमोहदुःखात्मकनिखिलदृश्याकारेणाकारितदृश्यरूपया बुद्ध्या तादृशबुद्धि-प्रतिबिम्बत्वेन द्रष्टुः पुरुषस्य यः संयोगो भोक्तृभोग्यभावलक्षणो जन्मादिः स दुःखहेतुरित्यर्थः।" — पा0यो0सू0वृ0 पृ0 44।

4 - "अतोऽभिव्यक्तिबुद्धिप्रतिबिम्बस्य संयोग इत्यर्थः।" — वही पृ0 46।

5 - "अयं हि संयोगविशेषस्यैव दुःखहेतुत्वात् दुःखितेव व्यवहारानुरोधी दुःखित इवेति दिक्।" — वही पृ0 45।

जब पुरुष को बुद्धि और अपने स्वरूप का विविक्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब संयोग का नाश हो जाता है और पुरुष मोक्ष को प्राप्त करता है । संयोग का मूल कारण अविद्या है । अतः अविद्या का नाश होने पर ही संयोगाभाव होता है और पुरुष दृश्य के आरोपित बन्धनों से मुक्त हो जाता है । संयोग से वियोग होने पर ही मोक्ष होता है इसी लिए यह कहा भी गया है कि संयोग जहाँ एक तरफ पुरुष के लिए बन्धनकारी है दूसरी तरफ मोक्षदायक भी है ।[1]

मणिप्रभा

बुद्धि और पुरुष का परस्पर संबन्ध स्वामित्व और स्वामिशक्ति के रूप में होता है । बुद्धि जड़ है और पुरुष चेतन है । चेतन होने के कारण पुरुष में द्रष्टृत्व या भोक्तृत्व शक्ति का आरोप होता है और बुद्धि जड़ है अतः अचेतन होने के कारण यह दृश्य शक्ति है अर्थात् 'भोग्य' है । जब अविद्यावशात् दोनों का संयोग होता है तभी बुद्धि और पुरुष का दृश्य और द्रष्टा का 'स्व' और 'स्वामिभाव' का संबन्ध होता है । अविद्या के कारण दोनों का संयोग ही पुरुष का 'भोग' है ।[2] अर्थात् भोक्तृत्व सम्पन्न होना है और जब विवेकख्याति होने पर पुरुष का अपनी पृथक् सत्ता का बोध हो जाना अपवर्ग है । इस प्रकार भोग और अपवर्ग के मूल में संयोग ही है ।

अब प्रश्न उठता है कि संयोग का क्या कारण है ? उत्तर है 'अविद्या' ही संयोग का कारण है । अस्मिता की वासना ही अविद्या है । इसके द्वारा ही द्रष्टा और दृश्य का संयोग होता है । अविद्या से संबन्धित विकल्पों का विवेचन इनकी वृत्ति में भी अनुपलब्ध है ।

- -

1 - " सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः भोगकारणमविद्या नाशे योगाभाव इत्यो बन्धाभाव एव मोक्षः । अत आत्मदर्शनमपि - संयोगहेतुकमेवेति चिन्त्य । " — पा0यो0सू0व्या0भा0पृ0 [illegible] ।

2 - " यथाभावे दृग्दृश्ययोः स्वरूपोपलब्धिरूपं भवति यद्भावेन सम्भवति स संयोगः कार्येणैवाय उन्नीयमानो भवति । " — मणिप्रभा पृ0 37 ।

योगसूत्रार्थबोधिनी

दृक् शक्ति पुरुष है और दृश्य बुद्धितत्व है। दोनों में अस्मितावश अभेद की कल्पना ही अविद्या है[1]। दृक् शक्ति अर्थात् पुरुष में चेतनता है अतः उसमें द्रष्टृत्व की योग्यता है और दृश्य जो कि जड़ है अचेतन है उसमें दृश्य तथा भोग्य बनने की योग्यता है। जब अविद्यावशात् दोनों में अभेद की प्राप्ति होती है तभी दोनों में संयोग होता है[2]। संयोगकाल में पुरुष बुद्धि के साथ इतना अधिक संयुक्त हो जाता है कि वह अहमिति भोक्ता, अहमिति द्रष्टा का अनुभव करने लगता है[3]। पुरुष और बुद्धि का यह संयोग अविवेकख्यातिपर्यन्त बना रहता है। जब विवेकख्याति उदित होती है तब पुरुष को अपने स्वरूप और बुद्धि के स्वरूप में भेद का ज्ञान होता है। यह भेद ज्ञान ही संयोग का विनाशक है तथा मोक्ष अथवा कैवल्य का जनक है[4]।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका

इस व्याख्या में 'दृश्य' को 'प्रधान' माना गया है[5]। द्रष्टा पुरुष के लिए प्रकृति या प्रधान ही समस्त भोग अर्पित करती है। प्रकृति प्रदत्त भोगों का भोक्ता बनना ही पुरुष और प्रधान का संयोग है। इन दोनों तत्वों का संयोग अविवेकख्याति के कारण होता है[6]। बुद्धिगत सुख, दुःखादि अनुभवों के आकार को अपने ऊपर में आरोपित करना ही पुरुष का भोग है। इस भोगकाल में पुरुष को अपने चिन्मात्रस्वरूप का ज्ञान नहीं होता। वह तो अविद्या के प्रभाव कारण प्रधान

- -

1 - "दृक् पुरुषः, दृश्यं बुद्धितत्त्वम्। तयोः संयोगोऽभेदप्राप्तिरूपोऽविद्याकल्पितो विषयपुरुषयोर्हेतुरित्यर्थः।" — यो०सू०बो० पृ० 23।

2 - "अस्मितावशात्संयोगस्य कारणमित्यर्थः।" — वही पृ० 25।

3 - "अहमिति दृग्दृश्ययोरभेदप्राप्तिः।" — वही पृ० 25।

4 - "तस्याः अविद्याया अभावाद्विवेकख्यात्या नाशात्तत्कार्यभूतस्य संयोगस्य दुःखस्य हेतोरभावो विनाशो 'हानं' यत्तदेव दृशेर्नित्यमुक्तस्य कैवल्यमित्यर्थः।"

— वही पृ० 25।

5 - "द्रष्टा पुरुषः दृश्यं प्रधानम्।" — यो०सि०च० पृ० 63।

6 - "तयोः संयोगोऽविवेकख्यातिहेतुकः।" — वही पृ० 63।

प्रधान द्वारा प्राप्त उपलब्धियों में निमग्न रहता है । जब पुरुष को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब उसे अपवर्ग की प्राप्ति होती है ।[1] संयोगाभाव होने पर पुरुष को सभी दुःखों और सुखों से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है । अविद्या संबन्धी विकल्पों का विवेचन इन दोनों व्याख्याओं में नहीं किया गया है ।

भास्वती

'ज्ञाता' और ज्ञेय का परस्पर संकीर्ण संबन्ध ही संयोग है[2] । संयोगावस्था में द्रष्टा और दृश्य में प्रकाश्य और प्रकाशक की भाँति स्वस्वामि-भाव का संबन्ध होता है[3] । भोग काल में द्रष्टा अविवेकवशात् ही सुखी अहम्, दुःखी अहम् इत्यादि अनुभव करता है[4] । जब गुणों से पृथक् हो जाता है अर्थात् विवेकख्याति हो जाती है तब द्रष्टा को अपवर्ग की प्राप्ति होती है[5] । इस प्रकार 'विवेकख्याति' अथवा 'दर्शन' द्वारा संयोग का अवसान हो जाता है । विवेकख्याति वियोग का कारण है[6] । अदर्शन संयोग का कारण है । अदर्शन के संबन्ध में कुछ विकल्पों का निरूपण इस व्याख्या में भी किया गया है ।

- -

1 - " स्वामिस्वरूप अविज्ञातयोरुपलब्धिहेतुरपवर्ग हेतुर्दर्शनम् । तद्धेतुः संयोग दृशार्थः ।" — यो०सि०भ०पृ० 65 ।

2 - द्रष्टुर्दृश्यस्य च या संकीर्णोपलब्धिस्तयैव साम्निध्यं स एव संयोगः ।" — भास्वती पृ० 189 ।

3 - प्रकाश्यप्रकाशकत्वाद् दृश्यद्रष्टोः स्वस्वामित्वः संबन्धः, दृश्यं स्वं स्वकीयं द्रष्टा च स्वामीति ।" — वही पृ० 190 ।

4 - " तदुकीर्णत्वात् विवेको नेति, अहं सुखी अहंदुःखीत्यात्मनुपश्येदपि यो द्रष्टा स भोक्ता ।" — वही पृ० 190 ।

5 - " गुणेभ्यः पृथक्त्वाभिधानं विवेकख्यातिरित्यर्थः अपवर्गः ।" — वही पृ० 200

6 - " विवेकेन दर्शनस्य परिसमाप्त्या संयोगस्याप्यवसानं स्यात् तस्माद् विवेकदर्शनं वियोगस्य कारणम् ।" — वही पृ० 225 ।

प्रधान द्वारा प्राप्त उपलब्धियों में निमग्न रहता है । जब पुरुष को अपने यथार्थ[1] स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब उसे अपवर्ग की प्राप्ति होती है । संयोगाभाव होने पर पुरुष को सभी दुःखों और सुखों से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है । अविद्या संबन्धी विकल्पों का विवेचन इन दोनों व्याख्याओं में नहीं किया गया है ।

भास्वती

'ज्ञाता' और ज्ञेय का परस्पर संकीर्ण संबन्ध ही संयोग है[2] । संयोगावस्था में द्रष्टा और दृश्य में प्रकाश्य और प्रकाशक की भाँति स्वस्वामि-भाव का संबन्ध होता है[3] । भोग काल में द्रष्टा अविवेकवशात् ही सुखी अहम्, दुःखी अहम् इत्यादि अनुभव करता है[4] । जब गुणों से पृथक् हो जाता है अर्थात् विवेकख्याति हो जाती है तब द्रष्टा को अपवर्ग की प्राप्ति होती है[5] । इस प्रकार 'विवेकख्याति' अथवा 'दर्शन' द्वारा संयोग का अवसान हो जाता है । विवेकख्याति वियोग का कारण है[6] । अदर्शन संयोग का कारण है । अदर्शन के संबन्ध में कुछ विकल्पों का निरूपण इस व्याख्या में भी किया गया है ।

- -

1 - " स्वामिस्वस्वरूप सविकल्पाद्योपलब्धिहेतुरपवर्गे हेतुर्भवति । तद्धेतुः संयोग इत्यर्थः ।" — यो०सि०च० पृ० 65 ।

2 - ज्ञातृज्ञेययोः यः संकीर्णोपलब्धिस्वतेव सान्निध्यं स एव संयोगः ।" — भास्वती पृ० 189 ।

3 - प्रकाश्यप्रकाशकत्वात् दृश्यद्रष्ट्रोः स्वस्वामिसम्बन्धः संयोगः, दृश्यं स्वं स्वकीयं द्रष्टा च स्वामीति ।" — वही पृ० 190 ।

4 - " सङ्कीर्णता विवेको येन, अहं सुखी अहं दुःखीत्यात्मसुखेऽपि यो द्रष्टा स भोक्ता ।" — वही पृ० 190 ।

5 - " गुणेभ्यः पृथक्त्वविचाररूपविवेकख्यातिरित्यर्थः अपवर्गः ।" — वही पृ० 200 ।

6 - " विवेकेन दर्शनस्य परिसमाप्त्या संयोगस्याप्यवसानं स्यात् तस्मात् विवेकदर्शनं वियोगस्य कारणम् ।" — वही पृ० 225 ।

क्या गुणों का कार्यारम्भणसामर्थ्य ही अदर्शन है ? इस संबन्ध में भास्वतीकार का कहना है कि जिस प्रकार केवल दाह-मात्र ही ज्वर का पूरा लक्षण नहीं है उसी प्रकार केवल गुणों में कार्यारम्भण सामर्थ्य विद्यमान है मात्र इससे पूरा अदर्शन का लक्षण नहीं निरूपित होता है । क्योंकि विवेक का उत्पन्न न होना ही अदर्शन है । यह लक्षण भी अदर्शन के लिए उपयुक्त नहीं है ठीक वैसे ही जैसे स्वास्थ्य का अभाव ज्वर है कह देने मात्र से ज्वर का लक्षण नहीं प्रतिपादित होता है । इस संबन्ध में तृतीय विकल्प है— क्या गुणों की अर्थवत्ता ही अदर्शन है ? इस संबन्ध में भी भास्वतीकार ने अपना मत दिया है कि यह लक्षण भी अदर्शन का उचित उल्लेख नहीं करता है । अदर्शन संबन्धी चतुर्थ विकल्प से सहमत होते हुए भास्वतीकार ने लिखा है कि 'अविद्या 'संस्कार रूप में चित्त में अवस्थित हो अविद्याजन्य ज्ञान को उत्पन्न कराने में बीज के समान है । चतुर्थ विकल्प का समर्थन करते हुए अन्य और बाद के विकल्पों का निरसन भाष्य के ही समान भास्वतीकार ने किया है ।

स्वामिनारायणभाष्य

बुद्धि प्रकृतिरूपात्मक है । बुद्धि ही जिसे 'सत्त्व' नाम से भी अभिहित किया गया है पुरुष के लिए साक्षात् भोग का साधन प्रस्तुत करती है । बुद्धि और पुरुष के संयोग से संसार की सृष्टि हुई है इसी लिए बुद्धि और पुरुष के संयोग को 'संसार जनक' कहा गया है[1] । इस संयोग का कारण अविद्या है । इन दोनों का संयोग परस्पर सापेक्ष तथा परस्पर उपकार्योपकारकभावयुक्त है क्योंकि पुरुष कैवल्य के लिए प्रकृति की अपेक्षा करता है और प्रकृति अपने भोग्य रूप स्वयं के कार्यार्थ पुरुष की अपेक्षा करती है । इस तरह प्रकृति पुरुष की भोग्य हुई और पुरुष प्रकृति का भोक्ता हुआ[2] । प्रकृति और पुरुष दोनों तत्त्व अनादि हैं अतः दोनों के बीच संयोग का प्रवाह भी अनादि है[3] ।

- -

1 - " तावुभयोर्बुद्धिपुरुषयोर्यः संसारजनकः संयोगः ।" — स्वा० ना० भा० पृ० 207

2 - " स च परस्परसापेक्ष एवेति भवति, निरपेक्षयोर्भिन्नपदार्थयोः संयोगाऽनवकाशात्, अपेक्षा च भवति परस्परमुपकार्योपकारकभावेन, अत एव पुरुषः कैवल्यार्थं प्रकृतिमपेक्षते प्रकृतिश्च स्वस्या - उपभोगार्थं - कार्यार्थं पुरुषमपेक्षते, अतएव प्रकृतेर्भोग्यता पुरुषस्य च भोक्तृतेति ।" — वही पृ० 208 ।

3 - " तयोश्च द्वयोः संयोगस्य प्रवाहोऽनादिरेव ।" — वही पृ० 208 ।

बुद्धि और पुरुष का सान्निध्य ही संयोग है।[1] संयोग के संबन्ध में कई शंकाएँ उठती हैं यथा — क्या यह संयोग नित्य है ? क्या यह संयोग संयोगजन्य है ? क्या यह संयोग कर्मजन्य है ? इन तीनों शंकाओं का समाधान इस प्रकार से किया गया है। संयोग को नित्य नहीं माना जा सकता क्योंकि विवेकख्याति के द्वारा उसका नाश हो जाने पर ही कैवल्य की प्राप्ति होती है।[2]

संयोग को संयोगजन्य भी नहीं माना जा सकता क्योंकि त्रिगुण द्रव्य के अवयव हैं जिनका द्रव्य रूप अवयवी से अविच्छिन्न संबन्ध है। इन अवयवों का पृथक्-पृथक् संबन्ध पुरुष से नहीं हो सकता क्योंकि यदि ऐसा माना जायेगा तो पुरुष में भी त्रिगुणों की कल्पना करनी पड़ेगी जो कि नितान्त असंगत सम्भावना है। तीसरी शंका यह है " क्या संयोग कर्मजन्य है ? का समाधान करते हुए कहा गया है कि 'संयोग कर्मजन्य भी नहीं हो सकता क्योंकि पुरुष निष्क्रिय/और बुद्धि भी जड़ है। बुद्धि पर जब पुरुष प्रतिबिम्ब पड़ता है तभी वह चैतन्यवत् होती है। अतः यह संयोग कर्मजन्य भी नहीं हो सकता।[3]

अतः अब यह विचारणीय है कि वस्तुतः संयोग क्या है ? बुद्धि और पुरुष का संयोग दोनों में अभेद का भ्रम हो जाता है। यथार्थतः पुरुष का बुद्धि से संयोग नहीं होता प्रत्युत पुरुष के प्रतिबिम्ब का ही बुद्धि से संयोग होता है। बिना पुरुष प्रतिबिम्ब के न संयोग होता है और न ही दोनों में अभेदमूलक भ्रान्ति होती है यथा - दर्पण गत प्रतिबिम्ब का ही दर्पण से संबन्ध होता है। उस व्यक्ति विशेष का नहीं। इसी प्रकार पुरुष प्रतिबिम्ब का ही बुद्धि से संयोग होता है और यह तथा अविद्या बताकर इस संयोग को पुरुष और बुद्धि का संयोग कहा जाता है।[4]

- -

1 - ''संयोगो नाम - सन्निधानम् ।'' — सा०प्र०भा० पृ० 206 ।

2 - '' न हि तस्य विवेकख्यात्या मुक्तावस्थायां बुद्ध्या वियोगे सति नाशात् नित्यत्वं सम्भवति ।'' — वही पृ० 208 ।

3 - '' द्रष्टव्य - सा०प्र०भा० पृ० 206 ।

4 - '' बिम्ब सन्निधानात् तत्प्रतिबिम्बं बुद्धावुपगतं तदेव संयुक्तमुक्ति, प्रतिबिम्ब-बुद्ध्योः संयोगेन सोऽविवेकाभिमानो भवति बिना प्रतिबिम्बं न संयोगो न चाऽविवेकभ्रमो न [illegible] संसार इति व्यतिरेकाय स्थितः कार्यानुगत, अतएव दर्पणं प्रतिबिम्बस्य सम्बन्धं युक्तं भवति। तत्र दर्पण सन्निधानवशादपि पुरुषो न संयुक्तो भवति दर्पणेन सह, किन्तु तदन्तर्गत तत्प्रतिबिम्बमेव संयुक्तं भवति ।''

— वही पृ० 209 ।

बुद्धितत्त्व और पुरुष का संयोग सप्रयोजन है । प्रथम प्रयोजन इन दोनों तत्त्वों के संयोग का यह है कि संयोग होने पर ही पुरुष बुद्धि द्वारा प्रदत्त भोग का 'स्वामी' बनता है और बुद्धि उसका 'स्व' बनती है । दोनों के मध्य 'स्व' 'स्वामी' भाव की उपलब्धि संयोग से ही होती है । संयोग का दूसरा प्रयोजन है पुरुष को अपने स्वरूप की उपलब्धि । बुद्धि से वियुक्त होने पर ही पुरुष स्वरूपा-वस्थित होता है । इस स्वरूपावस्थिति का मूल कारण विवेकख्याति है ।[1]

बुद्धि और पुरुष के संयोग का मूल कारण क्या है ? इस संबन्ध में कुछ विकल्पों का वर्णन किया गया है । कुछ लोगों ने गुणों के अन्दर निहित कार्यारम्भ की शक्ति को ही संयोग का कारण कहा है । कुछ लोगों ने संयोग 'भोग' और 'अपवर्ग' को ही संयोग का प्रयोजन माना है । कुछ दूसरे लोगों ने चित्त में स्थित सृष्टिआरम्भक संस्कारों को ही संयोग का कारण माना है । कुछ और लोगों ने/बुद्धि तत्त्व को ही संयोग का कारण माना है । कुछ लोगों ने विवेकख्याति को न उत्पन्न होने देने वाली बुद्धि की शक्ति को ही संयोग का कारण माना है । कुछ ने प्रकृति को संयोग का कारण माना/परन्तु आचार्यों ने संयोग का हेतु अविद्या को माना है इस संबन्ध में इन आचार्यों का यह मत है कि सृष्टि के आरम्भकाल में बुद्धि तत्त्व अविद्यायुक्त होकर अविद्यामय वासना से प्रेरित होने पर पुरुष का सान्निध्य प्राप्त करती है । बुद्धितत्त्व में पुरुष प्रतिबिम्ब पड़ने पर बुद्धितत्त्व भोगादि को आरम्भ करती है इस प्रकार अविद्या द्वारा ही बुद्धि और पुरुष का संयोग होता है ।[2]

- -

1 - " स्वशक्तिः - दृश्यं बुद्धितत्त्वम्, स्वामिशक्तिः - भोक्ता पुरुषः, यतो दृश्यं पुरुषार्थमेव - शब्दाद्यभिव्यक्तिमुपकारं कुर्वाणः पुरुषस्य स्वं भवति, भवति च दृश्यमस्य पुरुषस्य स्वम्, स चाऽनयोः संयोगो द्वयोः स्वरूपोपलब्धि-हेतुरिति ।"

— सा०भा०भा० पृ० 219 ।

2 - " पुनः सृष्ट्यारम्भकाले - बुद्धितत्त्वं साऽविद्यायुक्तं आविर्भवति, अविद्यायुक्तं अविद्यावासनाप्रेरितं एतच्च प्रवृत्तं च बुद्धितत्त्वं पुरुषसान्निध्यमुपगतं भवति, तेन प्रागेव बुद्धितत्त्वे पुरुषप्रतिबिम्बं समायाति, प्रतिबिम्बेन संयुक्तं बुद्धितत्त्वं भोगादि-कमारभते, अतः पुरुषप्रतिबिम्बमयस्य बुद्धितत्त्वस्य च यः संयोगस्तस्य प्रवर्तमानं कारणं तत् - अविद्येवेति ।"

— वही पृ० 219 ।

अविप्लवा विवेकख्याति

व्यासभाष्य

अविप्लवा-विवेकख्याति ही कैवल्य का उपाय है । अविप्लवा का अर्थ है जिसमें विप्लव न हो अर्थात् मिथ्या ज्ञान रहित विवेकख्याति । निरन्तर विवेकख्याति ही अविप्लवाविवेकख्याति है । यह विवेकख्याति किसी भी परिस्थिति में खण्डित नहीं होती है अतः उसे अविप्लवा कहा गया है ।[1] कैवल्य जैसे अमोघ स्थिति की प्राप्ति के लिए उक्त विशेषण सम्पन्न विवेकख्याति ही अभीष्ट है ।

तत्ववैशारदी

विप्लव का अर्थ मिथ्याज्ञान है । श्रुत-ज्ञान से विवेक ग्रहण कर उचित रूप से उस विवेक ज्ञान का दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर अभ्यास ही निर्विप्लवा-विवेकख्याति है ।[2] यह निर्विप्लवा-विवेकख्याति मिथ्याज्ञान की वासना से सर्वथा रहित होती है ।

विशेष उल्लेख इस सम्बन्ध में तत्ववैशारदीकार का यह है — इस सन्दर्भ में उन्होंने श्रुति और आगम ज्ञान का उल्लेख किया है । उनका कहना है कि श्रुतज्ञान द्वारा विवेक ग्रहण कर युक्तिपूर्वक विचार कर उस ज्ञान का दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास करने पर प्रकृष्ट साक्षात्कारवती प्रज्ञा प्राप्त होती है, जो मिथ्याज्ञान रहित होती है। यह प्रज्ञा ही निर्विप्लवा विवेकख्याति है।

राजमार्तण्डवृत्ति

अविप्लव का अर्थ है 'न विद्यते विप्लवो विच्छेदोऽन्तराऽन्तरा व्युत्थानरूपो यस्याः सा विप्लवा ।'[3] अर्थात् विवेकख्याति के मार्ग में व्युत्थान रूप विघ्न के न आने

- -

1 - "विधूत क्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति । सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानस्योपायः ।" — व्यासभाष्य पृ0 232 ।

2 - "विप्लवो मिथ्याज्ञानं तद्रहिता । - - - - दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेविता- या भावनायाः प्रकर्षपर्यन्तं समधिगता साक्षात्कारवती विवेकख्यातिर्निवर्तितसवासनमिथ्याज्ञाना निर्विप्लवा हानोपाय इति ।" — त0वै0 पृ0 232 ।

3 - द्रष्टव्य - राजमार्तण्डवृत्ति पृ0 211 ।

अविप्लवा विवेकख्याति

व्यासभाष्य

अविप्लवा-विवेकख्याति ही कैवल्य का उपाय है । अविप्लवा का अर्थ है जिसमें विप्लव न हो अर्थात् मिथ्या ज्ञान रहित विवेकख्याति । निरन्तर विवेकख्याति ही अविप्लवाविवेकख्याति है । यह विवेकख्याति किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होती है अतः उसे अविप्लवा कहा गया है ।[1] कैवल्य जैसे अमोघ स्थिति की प्राप्ति के लिए उक्त विशेषण सम्पन्न विवेकख्याति ही अभीष्ट है ।

तत्ववैशारदी

विप्लव का अर्थ मिथ्याज्ञान है । श्रुत-ज्ञान से विवेक ग्रहण कर उचित रूप से उस विवेक ज्ञान का दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर अभ्यास ही निर्विप्लवा-विवेकख्याति है ।[2] यह निर्विप्लवा-विवेकख्याति मिथ्याज्ञान की वासना से सर्वथा रहित होती है ।

विशेष उल्लेख इस सम्बन्ध में तत्ववैशारदी का यह है — इस सन्दर्भ में उन्होंने श्रुति और आगम ज्ञान का उल्लेख किया है । उनका कहना है कि श्रुतज्ञान द्वारा विवेक ग्रहण कर युक्तिपूर्वक विचार कर उस ज्ञान का दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास करने पर प्रकृष्ट साक्षात्कारवती प्रज्ञा प्राप्त होती है, जो मिथ्याज्ञान रहित होती है। यह प्रज्ञा ही निर्विप्लवा विवेकख्याति है।

राजमार्तण्डवृत्ति

अविप्लव का अर्थ है 'न विद्यते विप्लवो विच्छेदोऽन्तरान्तरा व्युत्थानरूपो यस्याः सा विप्लवा ।'[3] अर्थात् विवेकख्याति के मार्ग में व्युत्थान रूप विघ्न के न आने

- -

1 - " विशुद्ध सत्त्वरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति । सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानस्योपायः ।" — व्यासभाष्य पृ० 232 ।

2 - " विप्लवो मिथ्याज्ञानं तद्रहिता । - - - - दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितामृ- या भावनायाः प्रकर्षपर्यन्तं समाधिगता साक्षात्कारवती विवेकख्यातिर्निवर्तितसमूलमिथ्याज्ञाना निर्विप्लवा हानोपाय इति ।" — त०वै० पृ० 232 ।

3 - द्रष्टव्य - राजमार्तण्डवृत्ति पृ० 211 ।

से निरन्तरविवेकख्याति होती रहने वाली विवेकख्याति को ही अविप्लवा-विवेकख्याति कहा गया है । यह विवेकख्याति ही कैवल्य के लिए उपयोगी है ।

विवरण

विवेकख्याति को 'विवरण' में 'सत्त्वख्याति,' कहा गया है । विवेकख्याति में 'सत्त्व' और पुरुष के स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त होता है अतः 'सत्त्वख्याति' यह नाम भी सर्वथा उचित है[1] । इसमें दोनों तत्त्वों के यथार्थस्वरूप का ज्ञान होता है जिसके द्वारा रागादिमल दग्धबीज भावता को प्राप्त कर वन्ध्यप्रसव हो जाते हैं । अर्थात् उनकी कार्यक्षमता नष्ट हो जाती है । इस प्रकार की विवेकख्याति अविप्लवा-विवेकख्याति होतीहै और मिथ्याज्ञान को दग्ध-बीज भावता प्राप्त कराने वाली यह अविप्लवाविवेकख्याति ही मोक्ष को प्राप्त कराती है[2] ।

योगवार्तिक

अविप्लवाविवेकख्याति निर्मल तथा मिथ्याज्ञान रूपी कलुषता से रहित होती है[3] । यह परमसाक्षात्काररूपिणी मोक्ष का उपाय है । विवेकख्याति से सभी मिथ्याज्ञान दग्धबीज-भावता को प्राप्त हो जाते हैं और चित्त पर वैराग्य को प्राप्त करता है । विवेकख्याति का यह प्रवाह जब निरन्तर होता रहता है तब अविप्लवाविवेकख्याति होती है ।

- -

1 - "सत्त्वख्यातौ सत्यामविद्या निवृत्तिरिति ज्ञानमवस्थापि प्राप्यमित्युपचर्यते ।"
— विवरण पृ० 204 ।

2 - "मिथ्याज्ञानस्य दग्धबीजभावोपगमनमेव । सा च साध्वी विवेकख्याति -- मोक्षस्य मार्गो हानस्योपाय इत्यर्थः ।"
— वही पृ० 205 ।

3 - "विवेकख्यातिप्रवाहो निर्मलो मिथ्याज्ञानाकलुषितो भवति । अतः सा विवेकख्यातिरविप्लवोच्यते, सा परमसाक्षात्काररूपिणी हानोपाय इत्यर्थः ।"
— योगवार्तिक पृ० 232, 233 ।

मणिप्रभा

द्रष्टा और दृश्य का निश्चित ज्ञान होना ही विवेकख्याति है । 'विप्लव' मिथ्या ज्ञान को कहते हैं । अतः जब मिथ्या ज्ञान रूपी विप्लव का शमन कर परवैराग्य द्वारा प्रारब्ध कर्माशयों का आत्यन्तिक निवृत्ति कर देने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ।[1] संक्षेप में यही 'अविप्लवा विवेकख्याति' का स्वरूप है ।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका

दृग्दृश्य में भेद का ज्ञान प्राप्त हो जाना विवेकख्याति है । विवेकख्याति में गुणों और पुरुष के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने से दोनों तत्वों की भिन्नता का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है ।[2] मिथ्याज्ञान से रहित यह विवेकख्याति साक्षात् रूप से कैवल्य प्रदान करने वाली होती है । इस विवेकख्याति द्वारा ही दुःखों से आत्यन्तिक छुटकारा मिल जाता है ।[3] विवेकख्याति द्वारा प्रथमतः अज्ञान का नाश होता है । अज्ञान का नाश होने के बाद गुणों की कार्यारम्भ शक्ति की निवृत्ति हो जाती है तत्पश्चात् त्रिगुणात्मक चित्त प्रधान में विलीन हो जाता है । चित्त का लय हो जाने से चित्त और चितिशक्ति के संयोग का नाश हो जाता है । संयोग का नाश हो जाने पर पुरुष स्वरूपावस्थिति को प्राप्त हो मुक्त हो जाता है ।[4]

- -

1 - "मिथ्याज्ञानं विप्लवः" "विप्लवः" सती परवैराग्यपूर्वकनिरोधेन संस्कारशेषस्य कृतकृत्यस्य प्रारब्धसमाप्तौ आत्यन्तिकनिवृत्तिद्वारा त्रिविधदुःखहानस्य मोक्षस्योपाय इत्यर्थः ।"

— मणिप्रभा पृ0 38 ।

2 - दृग्दृश्ययोर्भेदविवेकस्य ख्यातिः - अन्ये गुणाः, अन्यः पुरुष इत्याकारकं ज्ञानम् ।"

— यो0सि0च0 पृ0 66 ।

3 - "न विद्यते विप्लवो मिथ्याज्ञानजन्यवासनाविच्छेदो यस्याः सा साक्षात्कारस्वरूपा हानोपायः । आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिरूपमोक्षस्य उपाय इत्यर्थः ।"

— वही पृ0 66 ।

4 - "प्रथमं तावदज्ञाननाशः । तदनु गुणानामधिकारनिवृत्तिः । ततश्चित्तस्य लयः । ततः संयोगनाशः । ततो पुरुषस्यानुसन्धान इति । क्रमसाधनमिति संक्षेपः ।"

— वही पृ0 66 ।

योगसूत्रार्थबोधिनी

मिथ्याज्ञान-रहित बुद्धि में केवल होना ही अविप्लवा-विवेकख्याति है। विवेकख्याति जो आगमप्रमाण द्वारा होती है वह परोक्ष विवेकख्याति होती है। अतः वह अविद्या को नष्ट नहीं करती।[1] परन्तु जो विवेकख्याति प्रकृष्ट ध्यान के बाद अर्थात् सम्प्रज्ञातसमाधि की पराकाष्ठा होने पर उत्पन्न होती है। वह विवेकख्याति साक्षात् विवेकख्याति होती है और अपने [illegible] से यह ख्याति मिथ्या ज्ञान का नाश करती है इसलिए इस साक्षात्कार रूपा विवेकख्याति को अविप्लवा कहा गया है। इसके द्वारा ही दुःख का आत्यन्तिक नाश हो जाता है और साधक को कैवल्य की प्राप्ति होती है।[2]

भास्वती

अविप्लवा-विवेकख्याति ही 'हान' अर्थात् 'कैवल्य' की प्राप्ति का उपाय है। बुद्धितत्त्व और साक्षी पुरुष दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं इस प्रकार की अनुभूति ही विवेकख्याति है।[3] विवेकख्याति प्राप्त पुरुष में बुद्धि के प्रति कोई महत्त्वमय भावना नहीं रह जाती है। वह निरन्तर विवेकख्याति में तन्मय रहता है विपर्यासज्ञान से रहित विवेकख्याति को ही 'अविप्लवा-विवेकख्याति' कहा गया है। 'अविप्लवा-विवेकख्याति' की व्याख्या इस प्रकार की गई है 'प्लवते; यथा विपर्याससंस्कारबलान्मिथ्याज्ञानं व्युत्थानं भवति - विपर्ययप्रत्ययात् न प्लुत इत्यर्थः।[4]' अर्थात् अविप्लवा-विवेकख्याति में विपर्यय-ज्ञान उदित नहीं होते, उनका अत्यन्ताभाव हो जाता है।[5] यह ख्याति परवशीकारवैराग्य तथा अन्य परावस्था में होती है।

- -

1 - "प्रथमतो ह्यागमात् सामान्यतो विवेकख्यातिरस्तीति सा नाविद्यां नाशयति परोक्षत्वात्।" — सूत्रार्थबोधिनी पृ० 85।

2 - "यदा तु ध्यानप्रकर्षात् विवेकख्यातिर्भवति साक्षात्कारस्या सवासनमिथ्याज्ञानं नाशयतीत्यविप्लवा सती हानस्य दुःखस्य आत्यन्तिकस्योपायभूतेत्यर्थः।" — वही पृ० 8

3 - "बुद्धितत्त्वमधिगम्य ततो न्यस्तस्यापि साक्षी पुरुषः इत्येतन्मात्रानुभूतिर्विवेकख्यातिः।" — भास्वती पृ० 236।

4 - "द्रष्टव्य —— भास्वती पृ० 236, 237।

5 - "तथा च परवशीकारसंज्ञया वशीकार वैराग्यस्य परास्थायामित्यर्थः" — वही पृ० 237।

स्वामिनारायणभाष्य

अविद्यादि के लेश मात्र से भी रहित विवेकख्याति ही अविप्लवा विवेकख्याति होती है। यह विवेकख्याति ही दुःखत्रय के आत्यन्तिक विनाश का परम् साक्षात्कारण है। केवल विवेकख्याति को हान का साक्षात्कारण कहा गया है और अविप्लवा-विवेकख्याति को हान का परमसाक्षात्कारण कहा गया है। विवेकख्याति जो शास्त्रादि श्रवण-जन्य होती है उसमें साक्षात्कारवती प्रज्ञा होतीहै अर्थात् उसमें प्रकृति पुरुष का भेदज्ञान होता है। जब यही विवेकख्याति दीर्घकाल तक निरन्तर होती रहती है तब यह विवेकख्याति की पराकाष्ठा को प्राप्त करती है। जिसमें सभी मिथ्या ज्ञान नष्ट हो चुके होते हैं ऐसी विवेकख्याति ही 'अविप्लवविवेकख्याति' होती है जो कैवल्य रूप हान का उपाय है।[1]

---

1. " विवेकख्यातिरियं यथा साक्षात्कारवती, तथाऽऽगमाऽनुमानाभ्यामपि सुसाध्या भवति, यथा शास्त्र श्रवण जन्येन ज्ञानेन प्रकृतिपुरुषाविविवेकं गृहीत्वाऽनुमानादि-युक्ति निर्धार्यमाप्य दीर्घकालाऽऽदरनैरन्तर्यसत्कारसेवितया भावनायाः परमकाष्ठामधि-प्राप्ता साक्षात्कारवती प्रध्वस्तमिथ्याज्ञानामिथ्याज्ञानाविद् विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय इति तात्पर्यम्।"

— स्वा०ना०भा०पृ० 224।

प्रान्तभूमिप्रज्ञा

व्यासभाष्य

अविप्लवा विवेकख्याति से युक्त योगी की प्रज्ञा प्रत्ययान्तरों को उत्पन्न न करने वाली होने के कारण प्रकृष्ट कही गई है । उसकी उत्कृष्ट-प्रज्ञा सात-प्रकार की होती है । जिसका उल्लेख भाष्यकार ने इस प्रकार से किया है । (1) हेय का ज्ञान हो गया अब कुछ भी हेय नहीं बचा । (2) हेय के हेतु क्षीण हो गए अब कुछ क्षीण करने योग्य नहीं बचा । (3) निरोध-समाधि द्वारा मोक्ष का साक्षात्कार हो गया । (4) विवेकख्याति रूप हान का उपाय सिद्ध हो गया । ये चार बुद्धि की विमुक्ति है । चित्तविमुक्ति के तीन भेद किए गए हैं यथा — (5) बुद्धि पुरुषार्थ प्राप्त कर चुकी है । (6) गुण अपने कारण प्रकृति में लीन हो गए । (7) गुणों के संबन्धों से रहित होकर अपने स्वरूप के प्रकाश से केवली पुरुष प्रकाशित होता रहता है । इस प्रकार उक्त सात-प्रकार की उत्कृष्ट प्रज्ञा विवेकख्याति प्राप्त पुरुष को प्राप्त होती है ।

तत्त्ववैशारदी

चित्त के मलों का आत्यन्तिक नाश हो जाने के उपरान्त ही चित्त को मिथ्या-ज्ञान रहित अविप्लवा-विवेकख्याति होती है । अविप्लवा विवेकख्याति प्राप्त योगी की प्रज्ञा प्रकृष्ट होने वाली होती है । यह प्रज्ञा सात प्रकार की होती है ।

- -

1 - "सप्तधेत्यशुद्ध्यावरणमलापगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति सप्तप्रका-
-रैव प्रज्ञा विवेकिनोभवति ।" — व्यासभाष्य पृ0 233 ।

इन सातों प्रज्ञाओं के विषय पृथक्-पृथक् होते हैं । अतः इनका स्वरूप भी भिन्न भिन्न प्रकार का होता है ।

सात प्रकार की प्रज्ञाभूमियों में से प्रथम चार भूमियों को 'कार्य-विमुक्ति' की संज्ञा दी गई है । बाद की तीन भूमियों को 'चित्त विमुक्ति' कहा गया है । 'कार्यविमुक्ति' के अन्तर्गत प्रज्ञाओं में से प्रथम प्रज्ञाभूमि का वर्णन इस प्रकार है । जितने भी विषय हैं सब प्रधान-मय हैं । अर्थात् सभी की उत्पत्ति प्रधान से ही है । अतः सभी विषय त्रिगुणात्मक हैं । त्रिगुणात्मक होने के कारण ये विषय परिणाम, ताप और दुःख देने वाले हैं । अतः इनका परित्याग कर दिया गया है । इस भूमि की प्राप्तता को दिखाते हुए लिखते हैं — इस भूमि में सभी तत्वों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो चुकता है अतः अब और कुछ परिज्ञेय नहीं बचता । दूसरी प्रज्ञाभूमि वह है जिसमें हेय के कारणों का क्षय हो चुका है । इस भूमि की प्रज्ञा का प्रकृष्ट अंश यह है — अब पुनः कुछ क्षेतव्य नहीं रहा । तृतीय प्रज्ञाभूमि में सम्प्रज्ञातसमाधि द्वारा अभिमुख किया गया निरोध-समाधि का साक्षात्कार हो जाता है । चतुर्थ भूमिका में विवेकख्यातिरूप हान का उपाय प्राप्त हो जाता है । इन चारों प्रकार की प्रज्ञाओं को 'कार्य विमुक्ति' कहा गया है क्योंकि इन चारों भूमिकाओं में गुणों से तथा गुणों के कार्य विषयों से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है ।

बाद की तीन प्रज्ञा-भूमियों का उल्लेख इस प्रकार से किया जा रहा है । इसमें प्रथम विमुक्ति है चित्त का भोग और अपवर्ग रूप कार्य को प्राप्त कर लेना दूसरी विमुक्ति है — गुणों का अपने कारण प्रधान में लीन हो जाना । तीसरी विमुक्ति है गुणों और चित्त से विमुक्त पुरुष का जीवन्मुक्त हो जाना और स्वरूपावस्थिति को प्राप्त हो जाना । इस प्रकार ये उक्त सात-प्रकार की प्रज्ञायें अविप्लवविवेकख्यातिनिष्ठ योगी की हैं जिनकी प्रज्ञा की भूमियाँ प्रकृष्ट अन्तों वाली होती हैं ।

- -

१ - " निर्विप्लवविवेकख्यातिनिष्ठामापन्नस्य सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति । विषयभेदात्मकत्वेन । प्रकृष्टोऽन्तो यासां भूमीनामवस्थानां तास्तथोक्ताः । यतः परं नास्ति स प्रकर्षः । प्रान्तभूमयोः यस्याः प्रज्ञाया विवेकख्यातिः सा तथोक्ता ।"

— तत्त्ववै०पृ० २३३ ।

राजमार्तण्डवृत्ति

विवेकख्यातिप्राप्त योगी की प्रज्ञा ज्ञातव्य तथा प्रकृष्ट भूमियों वाली होती है ।[1] यह प्रज्ञा सभी सालम्बन-समाधिपर्यन्त सात-प्रकार की होती है । उनमें से कार्यविमुक्तिरूपा प्रज्ञा भूमि चार-प्रकार की होती है । पहली-भूमिका में हेय का ज्ञान हो गया होता है अन्य ज्ञातव्य कुछ भी नहीं अवशिष्ट रहता । दूसरी-भूमिका में समस्त क्लेशों का क्षय हो जाने के उपरान्त अन्य कोई ऐसा क्षेतव्य नहीं बचता । तीसरी-भूमिका में ज्ञान की प्राप्ति होती है और चौथी-भूमिका में विवेकख्याति प्राप्त हो जाती है । इसी अवस्था में कार्य विषयक निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है । चित्तविमुक्ति तीन-प्रकार की होती है । प्रथमतः बुद्धि और गुण का कार्याधिकार समाप्त हो जाता है और वह स्वयं प्रधान में लीन हो जाते हैं । जिससे पुनः उनकी स्थिति नहीं रह जाती है । प्रधान में लीन हो जाने से उनका आत्यन्तिक लय हो जाता है । आत्यन्ताभाव को प्राप्त गुण पुनः उदित नहीं होते । यह चित्तविमुक्ति का दूसरा-प्रकार है । तीसरे-प्रकार में पुरुष स्वरूपप्रतिष्ठित हो जाता है । इस प्रकार की सात-प्रज्ञा-भूमियों वाला योगी पुरुष 'कुशल' कहा जाता है ।[2]

विवरण

सम्यक्ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान सात-प्रकार की भूमियों वाला होता है । उन सातों प्रकारों का क्रमशः वर्णन किया जा रहा है । सभी प्रकार के दुःख हेय हैं उन सभी दुःख रूप हेय का ज्ञान हो चुका है अब और ज्ञातव्य कुछ नहीं बचा । हेय के हेतु क्लेश कहलाते हैं । सम्यक्ज्ञान रूपी अग्नि द्वारा इन सब को दग्ध-बीज-भावना प्राप्त हो जाने पर अब और हातव्य नहीं बच पाता । निरोध-समाधि ही ज्ञान है क्योंकि निरोध-समाधि द्वारा ही कैवल्य की प्राप्ति होती है । चतुर्थ भूमि में इसी समाधि की प्राप्ति होती है जो कैवल्य को देने वाली है । चित्त-विमुक्ति की प्रथम-भूमिका में विवेकख्यातियुक्त चित्त के गुणों का चित्त के साथ ही आत्यन्तिक लय हो जाता है । चित्त विमुक्ति की द्वितीय-भूमि में पुरुष के प्रति बुद्धि का भोग सम्पादन

- -

1 - "तस्योत्पन्नविवेकज्ञानस्य ज्ञातव्यविवेकरूपा प्रज्ञा प्रान्तभूमौ सकलसालम्बनसमाधिभूमिपर्यन्ते सप्त-प्रकारा भवति ।"
— रा०मा०वृ०पृ० 2 । 27

2 - "इत्थमीदृशीं सप्तविधप्रान्तभूमिप्रज्ञामुपजातवान् पुरुषः कुशलः इत्युच्यते ।"
— वही पृ० 2 । 27

सब कार्य समाप्त हो जाता है । और अन्त में गुणों के संबन्ध से रहित होकर पुरुष 'स्वरूपमात्रज्योति' रूप केवली और शुद्ध रह जाता है । इस प्रज्ञा को प्राप्त करने वाला पुरुष कुशल कहा जाता है ।

योगवार्त्तिक

अविप्लवा-विवेकख्याति-रूपहानोपाय की प्रज्ञा प्रकृष्टअन्त वाली होती है । इस प्रज्ञा को 'प्रान्तभूमिकारूपिणी प्रज्ञा' कहा गया है[1] -जो सात-प्रकार की है । यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात है कि यह सात-प्रकार की प्रज्ञाएँ एक ही प्रज्ञा के प्रकार हैं[2] और वह प्रज्ञा है 'अविप्लवाविवेकख्यातिरूपप्रज्ञा ।'

प्रज्ञा के सात-प्रकारों का वर्णन इस प्रकार से किया गया है । प्रज्ञा का प्रथम प्रकार यह है — जिसमें मुमुक्षुओं के द्वारा समस्त हेय पदार्थों का साक्षात्कार हो गया होता है और अन्य कुछ भी हेय नहीं अवशिष्ट रहता । दूसरा प्रकार है — जिसमें हेय के कारण अविद्यादि, विवेकसाक्षात्कार के द्वारा क्षीण हो जाते हैं । तीसरा-प्रकार है जिसमें हेय तथा हेय के कारणों के क्षीण हो जाने पर हानोपाय का साक्षात्कार हो जाता है । चतुर्थ-प्रकार वाली प्रज्ञाभूमि में विवेकख्यातिरूपी हानोपाय निष्पन्न हो जाता है । ये चारों प्रकार सत्त्वकाम के लिए उपयोगी हैं । क्योंकि इनसे कर्त्तव्य की समाप्ति हो जाती है । कर्त्तव्य की समाप्ति हो जाने के उपरान्त ही जीवनमुक्ति की स्थिति का लाभ होता है । अतः जीवनमुक्ति की दृष्टि से इन प्रज्ञाप्रकारों का महत्त्व-पूर्ण स्थान है ।

अन्त की तीन प्रज्ञाप्रकारों से चित्तविमुक्ति होती है । चित्तविमुक्ति को परम मुक्ति कहा गया है । यह चित्तविमुक्ति स्वयमेव होतीहै इसके लिए किसी साधन विशेष की अपेक्षा नहीं होती इसमें प्रथम प्रकार की चित्तविमुक्ति में बुद्धि भोग और अपवर्ग को समाप्त कर चुकती है । इस भूमिका को चित्त के नष्ट होने की प्रारम्भिक भूमिका कहा गया है । संसार के सुख-दुःख के कारण त्रिगुण हैं । दूसरी भूमिका में ये गुण

- -

1 - " तस्य विवेकख्यातिरूपहानोपायस्य-प्रान्त-भूमिकारूपिणी प्रज्ञा सप्तधेत्यर्थः ।" — यो०वा०पृ० 234 ।

2 - " एकस्या एव प्रज्ञायाः सप्तप्रकारत्वम् ।" — वही पृ० 234 ।

बुद्धि या चित्त के साथ प्रधान में लीन हो जाते हैं । इसके पश्चात् पुनः उनका उद्भव नहीं होता । वे अपने पुरुषार्थ को समाप्त कर ही प्रकृति में लीन हो जाते हैं । अतः अब केवल पुरुषमात्र अवशिष्ट बच रहता है । गुणों के संबन्ध से शून्य पुरुष स्वरूप मात्र स्थिति में स्थित हो जाता है । पुरुष की यह स्थिति सभी प्रकार की मलीनताओं से हीन केवली मात्र की होती है अर्थात् पुरुष कैवल्य को प्राप्त कर लेता है । यही अन्तिम तथा चरम् भूमिका है ।

योगदीपिका, पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

इन दोनों व्याख्याओं में प्रस्तुत विषय का वर्णन योगवार्तिक की ही भाँति किया गया है । किन्हीं विशेष बातों का उल्लेख न होने के कारण इन व्याख्याओं का विवेचन नहीं उद्धृत किया जा रहा है ।

मणिप्रभा

मणिप्रभा में अन्य सभी व्याख्याओं की अपेक्षा इस विषय का विवेचन बहुत उपयुक्त, स्पष्ट तथा व्युत्पत्तिनिमित्तक है । सर्व प्रथम इस व्याख्या में 'प्रान्त' शब्द की व्याख्या की गई है । यथा प्रकृष्ट अवसान एवं अन्त वाली जो है वही "प्रान्त" अथवा 'चरम्' है ।[1] 'भूमि' शब्द का अर्थ 'अवस्था' किया गया है ।[2] 'अविप्लव-विवेकख्याति' का अर्थ 'स्थिरआत्मख्याति' किया गया है ।[3] इस प्रकार पूरी व्याख्या यह हुई - स्थिरआत्मख्याति होने पर योगी की प्रज्ञा सात-प्रकार की प्रकृष्टअन्तयुक्त चरम भूमियों वाली होती है ।

प्रथम-भूमि में समस्तज्ञातव्य वस्तुओं का ज्ञान हो चुका होता अतः अब अन्य कुछ भी ज्ञातव्य नहीं बचता । द्वितीय-भूमि में बन्धन के सभी कारणों का नाश हो जाने पर कुछ भी ज्ञातव्य नहीं अवशिष्ट रहता । तृतीय-भूमि में कैवल्य प्राप्ति के पश्चा

- -

1 - " प्रकृष्टोऽन्तोऽवसानं यस्येन यासां ताः प्रान्तावचरमा इति यावत् ।"
— मणिप्रभा पृ0 38, 39 ।

2 - " प्रान्ता भूमयोऽवस्था यस्याः सा प्रज्ञा 'प्रान्तभूमिः' ।" — वही पृ0 39 ।

3 - " स्थिरविप्लवात्मख्यातेर्विवेकिनः ।" — वही पृ0 39 ।

कुछ भी प्राप्तव्य नहीं बचता । चतुर्थ में विवेकख्याति प्राप्त हो जाने के उपरान्त कुछ भी और कर्तव्य नहीं शेष बचता । इन चारों भूमियों को कार्यविमुक्ति की संज्ञा प्रदान की गई है । अब चित्त विमुक्ति का वर्णन किया जाता है । बुद्धिसत्त्व का कृतार्थ हो जाना अर्थात् अपना कार्य समाप्त कर लेना प्रथमचित्त विमुक्ति है । गुणों का आत्यन्तिक लय जिससे वे पुनः उदित न हो सकें द्वितीय चित्त विमुक्ति है । चित्त का गुणातीत होकर स्वरूपमात्र अवस्थित हो जाना ही तृतीय चित्त विमुक्ति है । ये सात प्रज्ञा की अवस्थाएँ हैं । इनका अन्य प्रकार से नामकरण इस प्रकार से किया गया है । जिज्ञासा, जिहासा, प्रेप्सा, चिकीर्षा, शोक भयविकल्पाभावता ये सात प्रकार की प्रज्ञा भूमियाँ मानी जानी चाहिए ।[1]

योगसूत्रार्थ बोधिनी

स्थिर विवेकख्यातिप्राप्ति जीवन्मुक्त के ज्ञान का भेद सात-प्रकार की प्रान्तभूमियों वाला है । शेष वर्णन प्रायशः मणिप्रभा के समान है ।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका

इस व्याख्या में सात प्रान्तभूमियों वाली प्रज्ञा को विवेकख्याति का स्वरूप कहा गया है । शेष वर्णन इस व्याख्या का भी मणिप्रभा के समान है ।

भास्वती

अविप्लवविवेकख्याति प्राप्त योगी को प्रज्ञा सात-प्रकार की प्रकृष्ट ज्ञान वाली होती है । हेय के अभाव में जब प्रज्ञा समाप्त हो जाती है तब उस प्रज्ञा को प्रान्तभूमि प्रज्ञा कहा जाता है जो[2] सात-प्रकार की होती है । यथा – हेय का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर तत् विषयक प्रज्ञा भी निवृत्त हो जाती है अर्थात् हेय के विषय में जब यह ज्ञान हो जाता है कि यह विषय त्याज्य है, हेय है तब उस विषय से संबंधित प्रज्ञा भी

- -

1 - "जिज्ञासाजिहासाप्रेप्साचिकीर्षाशोकभयविकल्पाभावलक्षणाः सप्त प्रज्ञाभूमयः प्रान्तरूपतया प्रतिपत्तव्याः ।" — मणिप्रभा पृ0 39 ।

2 - "प्रज्ञेयाभावात्, यथायथा परिसमाप्ता भवति तथा सा प्रान्तभूमिरित्युच्यते ।" — भास्वती पृ0 238 ।

नष्ट हो जाती है । यह लक्षण प्रथम-भूमिका का है । अब दूसरी-भूमिका का वर्णन किया जा रहा है — हेतुरूप विषयक वृत्तों की निवृत्ति होने पर जो ज्ञान प्राप्त हो वह ज्ञान ही दूसरी-भूमिका की प्रज्ञा हुई । तृतीय-भूमिका में निरोध समाधि द्वारा प्रज्ञा की समाप्ति हो जाती है । चौथी-भूमिका में यह भावना उदित हो जाती है कि हानोपाय रूप विवेकख्याति निष्पादित हो चुकी है । इस प्रकार ये चारों प्रज्ञाएँ निष्पाद्य विमुक्ति हुईं ।

चित्तविमुक्ति में चित्त से ज्ञान तथा ज्ञानसंस्कारों की निवृत्ति हो जाती है । कार्यविमुक्ति के सिद्ध हो जाने पर चित्त विमुक्ति स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है । बुद्धि में कार्यारम्भ की शक्ति होती है जब बुद्धि की यह शक्ति निष्पन्न हो चुकी है तब कार्यारम्भशक्ति की समाप्ति हो जाती है । यह चित्त विमुक्ति की प्रथम भूमिका है । चित्त विमुक्ति की द्वितीय भूमिका में गुण चित्त के साथ अस्त हो जाते हैं और पुनः बुद्धि में उदित नहीं होते । इस विमुक्ति की तृतीय-भूमिका में गुणों से हमेशा के लिए मुक्त हुआ पुरुष दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर जीवनमुक्त हो जाता है । गुणों के संबन्ध से मुक्त पुरुष को विदेह मुक्ति प्राप्त हो जाती है ।

स्वामिनारायणभाष्य

विवेकख्यातिसम्पन्न जीवनमुक्ति की प्रज्ञा सात-प्रकार की प्रान्तभूमियों वाली होती है ।[1] प्रज्ञा का अर्थ 'संविद्' किया गया है । यह संवित् या ज्ञान प्रकृष्ट अन्त युक्त भूमियों वाला है ।[2] 'प्रकृष्ट' इसलिए कहा गया है क्योंकि इन भूमियों से श्रेष्ठ अन्य कोई भूमियाँ नहीं हैं । सभी सालम्ब समाधियों की भूमियों में यह सप्त-प्रकार की प्रज्ञा होती है । इन सात-प्रकार की प्रान्तभूमिप्रज्ञा में से चार-प्रकार की प्रान्त भूमियाँ कार्यविमुक्ति रूपा हैं और अन्त की तीन भूमियाँ चित्तविमुक्ति रूपा हैं ।

- -

1 - " सप्ताद्यायाः अस्याँ बुद्धिसत्त्वपरिणतविकाराः = प्रज्ञाया बुद्धिनिष्पन्नार्थेषूपलब्धिः ।" — भास्वती पृ० 239 ।

2 - " विवेकख्यातिमतो योगिनः सप्तप्रकारा प्रज्ञा - संविद् भवति, सा च 'प्रान्त' भूमिः - प्रकृष्टोऽन्तो यासां भूमीनामवस्थानां तास्तथोक्ता, यतः परं नास्ति सः प्रकृष्टः ।" — स्वा०ना०भा० पृ० 224 ।

कार्यविमुक्तिरूपा प्रथम-भूमि में प्रकृति, आत्मा तथा सभी वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान हो जाता है । जितने भी विषय हैं सभी गुणविरोध के कारण परिणाम दुःख, ताप दुःख और संस्कारदुःखों से युक्त होते हैं । ऐसा ज्ञान हो जाने पर उन्हें हेय समझकर उन सब का परित्याग कर देना ही प्रथमभूमि की प्रज्ञा है । जब विवेकख्याति द्वारा हेय के कारण क्लेशादि का क्षय हो जाता है तब पुनः कुछ क्षेतव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता है । यह द्वितीय-भूमिका वाली प्रकृष्ट प्रज्ञा है । अविद्यादि क्लेशों के क्षीण हो जाने पर निरोध समाधि द्वारा ज्ञान अर्थात् कैवल्य की प्राप्ति सुगम हो जाती है । कैवल्य प्राप्त कर लेने के उपरान्त अन्य कोई ज्ञान का विषय नहीं रह जाता है यह तृतीय-भूमिका की प्रज्ञा है । चौथी-भूमिका में विवेकख्याति के निष्पन्न हो जाने पर कुछ अन्य निष्पाद्य नहीं अवशिष्ट रहता क्योंकि विवेकख्याति से चित्त के समस्त क्लेश नष्ट हो जाते हैं और कुछ भी हेय, कर्तव्य रूप का नहीं अवशिष्ट रहता । केवल विवेकख्याति होती रहती है जिसके द्वारा ही अन्त में कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है ।

अब चित्त विमुक्ति का वर्णन किया जा रहा है । चित्त विमुक्ति नामक भूमियाँ तीन प्रकार की बताई गई हैं । बुद्धि से भोग और अपवर्ग के समाप्त हो जाने पर कार्यारम्भ शक्ति भी समाप्त हो जाती है । इस प्रकार चित्त के नष्ट होने की यह प्रथम-भूमिका है । द्वितीय भूमिका में चित्त तथा त्रिगुण दोनों ही अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाते हैं । इस प्रकार अपने कारण में लीन बुद्धि का पुनः प्ररोह या उदय सम्भव नहीं होता । बुद्धि और गुणों की समाप्ति के बाद पुरुष को अपने सत् चित् आनन्द रूप का ज्ञान हो जाता है । यह ज्ञान विवेक कैवल्य के चरम् भूमिका मानी गई है । इन्हीं तीनों भूमिकाओं की भावना करने से योगी जीवन्मुक्त हो जाता है । अतः इन सात-प्रकारों वाली प्रज्ञा से युक्त पुरुष केवली तथा मुक्त कहा जाता है ।[1] 'केवलत्व' का अभिप्राय अपने स्वरूप मात्र में प्रतिष्ठित हो जाना है ।

- -

1 - " तदेवं सप्तविधयत्वात् सप्तप्रकारा प्रज्ञा व्याख्याता, तदुपायकाले पुरुषः केवली मुक्त इत्युच्यते, केवलत्वं चाङ्गस्य आत्मनः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठितत्वमिति बोध्यम् ।"

— स्वा०भा०भा०पृ० ४२५ ।

योग के आठ अङ्ग

व्यासभाष्य

विवेकख्याति मोक्ष का उपाय है। विवेकख्याति की सिद्धि के लिए अष्टांगयोगरूप साधन का अनुष्ठान अत्यन्त आवश्यक है[1]। बिना इन आठों साधनों का अभ्यास किए विवेकख्याति सिद्धि को नहीं प्राप्त करती। योगांगों के अनुष्ठान से पाँच पर्वों वाली अविद्या रूपी अशुद्धि का नाश हो जाता है। अविद्या के नष्ट हो जाने से चित्त को सम्यक्ज्ञान प्राप्त होता है। सम्यक्ज्ञान का अर्थ है वास्तविक ज्ञान। इस प्रकार इन अष्टांगों के द्वारा शनैः-शनैः सभी प्रकार की अशुद्धियों का क्षय हो जाता है और चित्त में ज्ञान का भरपूर प्रकाश होता है। योगांगों का उपयोग दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। (1) अशुद्धि को क्षय करने में (2) विवेकख्याति प्राप्त कराने में। यम, नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि ये योग के आठ अंग हैं।

तत्त्ववैशारदी

योग के आठ अंगों को ही योगांग कहते हैं। इन योगांगों का मुख्य प्रयोजन विपर्ययज्ञान, अस्मि, राग, द्वेष इत्यादि अशुद्धियों को नष्ट करना है[2]। योगांगों के अनुष्ठान से ही विवेकख्याति की भी प्राप्ति होती है[3]। योगांगों के अनुष्ठान से चित्त की अशुद्धियों का उसी प्रकार नाश हो जाता है जिस प्रकार कुल्हाड़ी से काटे जाने पर वृक्ष अपने मूल से अलग हो जाता है। योगांगों के आठ भेदों का उल्लेख तत्त्ववैशारदीकार ने भी अपनी व्याख्या में किया है।

- -

1 - " योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणम्।" — व्यासभाष्य पृ० 236।

2 - " योगाङ्गानि हि यथायोगं दृष्टादृष्टद्वारेणाशुद्धिं क्षिण्वन्ति।"
— तत्त्ववै० 237।

3 - " तथा योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः प्राप्तिकारणं नान्येन।"
— वही पृ० 237।

राजमार्तण्डवृत्ति

योगाङ्ग आठ-प्रकार के हैं। इनका अनुष्ठान या अभ्यास करने से चित्त की अशुद्धियों का नाश हो जाता है तथा विवेकख्याति पर्यन्त चित्त में ज्ञान का प्रकाश होता है। यह ज्ञान का प्रकाश ही विवेकख्याति का कारण है।[1] यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग हैं।

विवरण

विवेकख्याति की सिद्धि का साधन योगाङ्ग हैं जिनके अनुष्ठान से विवेकख्याति रूपी ज्ञान का प्रकाश होता है।[2] योगाङ्गों के द्वारा ~~के-द्वारा~~ क्लेशों का क्षय हो जाता है और उत्कृष्ट ज्ञान का प्रकाश होता है। योगाङ्गों के द्वारा मन स्थिर पद को प्राप्त करता है और चित्त में ज्ञान के आलोक का प्रकाश होता है। क्लेशादि विकारों को दग्धबीज-भावता प्राप्त होती है। इस प्रकार योग प्राप्ति के लिए योगाङ्गों का महत्त्वपूर्ण कार्य है। समाधि के भेद से योगाङ्गों के आठ-प्रकारों का उल्लेख किया गया है।

योगवार्तिक

विज्ञानभिक्षु ने योगाङ्गों को विवेकख्याति का उपाय माना है। साधना की दृष्टि से उन्होंने साधकों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। (1) उत्तम अधिकारी (2) मध्यमाधिकारी (3) मन्द-अधिकारी। उत्तम-अधिकारी अभ्यास और वैराग्य द्वारा योग-सिद्धि करता है। मध्यमाधिकारी क्रियायोग में बताए गए तपआदि के द्वारा योग सिद्धि प्राप्त करता है। मन्दाधिकारी समाधि योग के आठ अंगों द्वारा योगसिद्धि प्राप्त करता है।

योगाङ्गों का प्रयोजन अशुद्धि का नाश करना तथा विवेकख्याति को प्राप्त

---

1 - "योगाङ्गानि वक्ष्यमाणानि तेषामनुष्ठानादभ्यासपूर्वकादाविवेकख्यातेरशुद्धिक्षये चित्तसत्त्वस्य प्रकाशावरणलक्षणक्लेशरूपाशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिस्तारतम्येन सात्त्विकः परिणामो विवेकख्यातिपर्यन्तः स तथाः ख्याते हेतुरित्यर्थः।" — रा०मा०यो०सू० 219।

2 - "योगाङ्गानुष्ठानात्तु वक्ष्यमाण विवेकख्यातिसिद्धिरिति।" — विवरण पृ० 208।

करना है । अभ्यास और वैराग्य का अनुष्ठान तीनों अधिकारियों को करना पड़ता है ।

योगबोधिका, पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

इन दोनों व्याख्याओं में भी अष्टांग-योग का वर्णन वार्तिक की ही भाँति किया गया है ।

मणिप्रभा

योगांगों का अनुष्ठान करने से क्लेश कर्म रूप अशुद्धियों का विनाश हो जाता है और विशुद्ध ज्ञान उदित होता है । अशुद्धियों का क्षय और विशुद्ध ज्ञान का उदय क्रम से होता है । 'विशुद्ध-ज्ञान' शब्द 'विवेकख्याति' के लिए प्रयुक्त हुआ है । विवेकख्याति में लेश मात्र भी अशुद्धियाँ नहीं रहती हैं । अतः इस ज्ञान को विशुद्ध ज्ञान कहा गया है । योग के इन अंगों के लिए 'साङ्गयोग' शब्द का प्रयोग किया गया है । साङ्गयोग के अनुष्ठान से प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है ।[2] साङ्ग-योग के आठ अंगों का उल्लेख मणिप्रभा में भी किया गया है ।

योगसूत्रार्थबोधिनी

योगांगों का अनुष्ठान करने से क्लेशादि रूप अशुद्धियों का नाश हो जाता है और ज्ञान की विशुद्ध ज्योति का प्रकाश होता है जिससे अविप्लव विवेकख्याति होती है ।[3] इस प्रकार अष्टांगयोग का अनुष्ठान ज्ञान का साधन कहा गया है । अष्टांग-योग के लिए 'साङ्गयोग' शब्द का प्रयोग इस व्याख्या में भी किया गया है ।

- -

1 - " पूर्वपादे ह्युत्तमाधिकारिणाम् अभ्यासवैराग्ये एव योगस्य साधनमुक्तं, ततश्च मध्यमाधिकारिणां तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानान्यपि केवलानि साधनान्येतत्पादस्यादावुक्तानि, अतः परं मन्दाधिकारिणां यमादीन्यपि योगसाधनानि वक्तव्यानि ज्ञानसाधनप्रसङ्गेनेत्ययोन्- रुक्तम् । "
— यो०वा० पृ० 239 ।

2 - " साङ्गयोगानुष्ठानाद्विशुद्धज्ञानप्रकाशायनमिति ।" — ~~यही मणिप्रभा~~
— मणिप्रभा पृ० 40 ।

3 - " योगाङ्गानां यथावदनुष्ठानादशुद्धेः क्लेशादिरूपायाः क्षये जायमाने ज्ञानस्य दीप्तिर्विशुद्धिः आविप्लव आविवेकख्यातिपर्यवसाना ।"
— यो०सू०बो० पृ० 26, 27 ।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका

योग के आठों अंगों का बार-बार अभ्यास करने से चित्त की अशुद्धियों तथा चित्त की चंचलता का क्षय हो जाता है। चित्त की अशुद्धियों का क्षय हो जाने पर ही ज्ञान का प्रकाश या विवेकख्याति उदित होती है।[1] अष्टांगों का अज्ञान का नाश और ज्ञान का प्रकाश करने में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहता है। समाधि की दृढ़ता के लिए अष्टांगों का अनुष्ठान परमावश्यक है।[2]

भास्वती

योगांगों से अशुद्धियों का क्रमशः नाश हो जाता है और उसी क्रम से ज्ञान के प्रकाश का आविर्भाव होता है। ये योगांग आठ प्रकार के बताये गए हैं। इन आठों योगांगों से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है और चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है। इन अंगों में प्रथम पांच तो समाधि के बहिरंग माने गए हैं और बाद के तीन अंगों को सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरंग माना गया है।[3]

- -

1 - " योगस्य लक्षणाङ्गानाम् च अनुष्ठानात् पौनःपुन्यस्माद् अभ्यासात् अशुद्धिक्षये यथायथाविवेकसुखेप्सादि लक्षण पापक्षये सति ज्ञानदीप्तिः राविवेकख्यातेः ।"

— यो०सि०च० पृ० 68 ।

2 - " योगाङ्गानां - - - - - - अनुष्ठानाद् दृढाभ्यासाज्ज्ञानदीप्तिः ।"

— वही पृ० 68 ।

3 - " यमादीनां सर्वेषां चित्तस्थैर्यकरत्वाच्चित्तनिरोधरूपस्य योगस्य तान्यङ्गानि तत्राद्यपञ्चकमङ्गं बहिरंगरूपमेव इति । यथा — पंचावयवस्य वाक्यस्याद्यमङ्गं ' प्राण' संज्ञया विहितं तथा योगाख्यस्य समाधेरविचारमार्गं समाधि शब्देन संज्ञायितम्।"

— भास्वती पृ० 247 ।

स्वामिनारायण-भाष्य

योगांगों का क्रमपूर्वक, आदरसहित और निरन्तर अभ्यास करने से जाति आयु, और भोग का उत्पन्न करने वाले अविद्यादि क्लेशों का क्षय हो जाता है। जैसे-जैसे साधनों का अनुष्ठान किया जाता है वैसे ही वैसे अशुद्धियाँ क्षीण होती चलती हैं और ज्ञान की दीप्ति भी बढ़ती जाती है। यह ज्ञान की दीप्ति विवेकख्यातिपर्यन्त बढ़ती जाती है। योग के आठों अंगों का कार्य अविद्यादि को नष्ट करता है और विवेकख्याति को प्राप्त कराता है।1

- -

1 - "यथा यथा साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथाऽशुद्धिस्तनुत्वमाप्नोति, यथा यथा सा शुद्धिः क्षीयते तथा तथा ज्ञानस्य दीप्तिः आविवेकख्यातेः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिपर्यन्तं विवर्धते, तथा च योगांगाऽनुष्ठानम् अविद्यानाशस्य कारणम्, तत्त्वज्ञानस्योत्पत्ति कारणम्।"

— स्वा०ना०भा०पृ० 225।

आसन

उक्त आठ योगांगों में से यम नियमों के स्वरूप और उनकी उपयोगिता के संबन्ध में सभी व्याख्याकार एक मत और भाष्य के शब्दों का यथावत् उपयोग करते हैं । 'आसन्' के संबन्ध में विविध व्याख्याओं के मतभेद उल्लिखित किए जा रहे हैं ।

व्यासभाष्य

शरीर की वह स्थिति जो स्थाई सुख देने वाली हो उसे 'आसन' कहते हैं । आसन काल में शरीर के अंगों में कोई व्यापार नहीं होता और न ही शरीर में कोई कम्पन होता है । आसन जय के द्वारा साधक प्राकृतिक शीत, उष्णादि से पीड़ित नहीं होता है । एकाग्र चित्त होकर योगसिद्धि करने में सफल होता है । स्थिर सुख देने वाला आसन 'स्थिर-सुख-आसन' है । स्थिर सुख का अर्थ यथासुखम् है[1] अर्थात् जिसमें सुख का अतिक्रमण न होने पाये वह अनतिक्रम सुख ही स्थिर सुख है । यहाँ स्थिर सुख में कर्मधारय-समास है ।

तत्ववैशारदी

"स्थिरं निश्चलं यत्सुखं सुखावहं तदासनमिति सूत्रार्थः ।"[2] निश्चल सुख देने वाले प्रकार का आसन स्थिर-सुख-आसन है । 'यथासुखं' शब्द का अर्थ नहीं लिया गया है । यहाँ बहुव्रीहि समास के अर्थ में स्थिर सुख का प्रयोग हुआ है यथा = स्थिरं सुखं येन तत् ।

- -

1 - " स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि ।" - व्यासभाष्य पृ0 26 । F

2 - " स्थिरं निश्चलं यत्सुखं सुखावहं तदासनमिति सूत्रार्थः । औपश्लेषिक आधे। बहुलेनेत्यासनम् ।" - त0वै0पृ0 26 । F

राजमार्तण्डवृत्ति

जिस प्रकार से बैठा जाये वही 'आसन' है । अर्थात् 'आसन' बैठने के प्रकार को कहा गया है ।[1] जिस प्रकार बैठने में स्थिर-सुख की प्राप्ति होती है उस बैठने के प्रकार को "स्थिरसुखआसन" कहा गया है । 'स्थिर' शब्द का अर्थ इस व्याख्या में 'निष्कम्प' किया गया है ।[2]

विवरण ।

जिस प्रकार के आसन में मन तथा शरीर के अंग स्थिर रहते हों अर्थात् मन और शरीर दोनों में स्थिरता आती हो तथा जो सुखदायक हो, जिसके करने में अंगों को दुःख नहीं होता हो उसी आसन का अभ्यास करना चाहिए । इस प्रकार के बैठने की विधि को ही 'आसन' कहा गया है ।[3]

योगवार्तिक

बैठने के प्रकार को 'आसन' कहा गया है । जिस आसन में निश्चल सुख प्राप्त हो उसे स्थिरसुख आसन कहा गया है । स्थिरसुख आसन का विशेषण है । अतः यहाँ कर्मधारय समास है । स्थिरसुखं की व्याख्या यथासुखं की गई है ।[4]

- -

1 - " आस्यतेऽनेनेत्यासनम् ।" — रा0मा0वृ0पृ0 255 ।

2 - " तदयदासिथरं निष्कम्पं सुखम्नुद्वेजनीयं च भवति तदा योगाङ्गतां भजते ।"
— वही पृ0 255 ।

3 - " स्थिरं सुखं चासनम् । यस्मिन्नासने स्थितस्य मनोगात्राणामुपजायते स्थिरत्वम्, दुःखं च येन न भवति तदभ्यसेत् ।"
— विवरण पृ0 255 ।

4 - " स्थिर सुखं च सुखोपासनम्, तस्य व्याख्यानं यथासुखमिति ।"
— यो0वा0पृ0 262 ।

योगदीपिका

बैठने के प्रकार को 'आसन' कहा गया है।[1]

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

जो आसन स्थिर तथा सुखदेने वाला हो वही 'आसन' सेवनीय है।[2]

मणिप्रभा

बैठने के प्रकार को 'आसन' कहा गया है। जो आसन निश्चल तथा सुख देने वाला हो वही योग का अंग रूप आसन है।[3]

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्रार्थबोधिनी

बैठने के प्रकार को 'आसन' कहा गया है। अतः जो आसन स्थिर हो, निष्कम्प हो और सुखकर हो उसे ही आसन कहा गया है।[4]

- -

1 - "आस्यतेऽनेन प्रकारेणेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः।" — यो०दी० पृ० 55।

2 - "यदेव स्थिरं सुखकरं च तदेवासनं कार्यमित्यर्थः।" — पा०यो०सू०वृ० पृ० 55

3 - "निश्चलं सुखावहं च यदासनं तद्योगाङ्गमित्यर्थः। आस्यते अनेनेत्यासनम्।"
— मणिप्रभा पृ० 46।

4 - "स्थिरं निश्चलं सुखकरं च यत्तदासनम्। आस्यते अस्मिन् अनेन प्रकारेणेत्या-सनमित्यर्थः।"
— यो०सि०च० पृ० 82।

भास्वती

स्थिर सुख देने वाला "आसन" ही योगांग में वर्णित "आसन" है ।[1]

स्वामिनारायणभाष्य

बैठने की विधि को "आसन" कहा गया है । जिस प्रकार बैठने में शरीर की वृत्तियाँ स्थिर रहती हैं तथा जिस तरह बैठने में स्थिर-सुख प्राप्त होता है उसे ही "आसन" कहा गया है ।[2]

- -

1 - " स्थिरं सुखं सुखावहं च यथासुखमित्यर्थः भवति तथा योगांगमासनं भवति । "

— भास्वती पृ0 266, 267 ।

2 - " आस्यते - अनेनेत्यासनं, तल्लक्षणम् 'स्थिरसुखमिति' सुखयतीति - सुखं तादृशं - - - सत् स्थिरं यत्, तथा च 'सुखप्रदत्वे सति शरीरवृत्तिस्थिरत्वम् - आसनत्वमिति ।"

— स्वा0ना0भा0 पृ0 241 ।

प्राणायाम

व्यासभाष्य

आसनसिद्धि होने के पश्चात् श्वास तथा प्रश्वास की गति का अभाव प्राणायाम है । प्राणायाम के चार प्रकार हैं (1) बाह्य (2) आभ्यन्तर और तीसरा स्तम्भ वृत्तिप्राणायाम है । ये तीनों प्राणायाम देश, काल और संख्या द्वारा परीक्षित किए जाते हैं । तीनों प्रकार के प्राणायामों का परीक्षण देश के अनुसार करने पर यह मालूम होता है कि ये प्राणायाम अधिक देश तक हैं या कम देश तक हैं । इसी प्रकार काल द्वारा परीक्षण करने पर प्रत्येक प्राणायाम कितने क्षण तक रहे इसका ज्ञान होता है । संख्या द्वारा परीक्षण करने पर मात्रा के अनुसार श्वास और प्रश्वास के उद्घातों की तीन श्रेणियाँ की गई हैं । कम मात्रा तक के उद्घात को मृदु-उद्घात, उससे अधिक मात्रा तक वाले उद्घात को मध्यम-उद्घात और सबसे अधिक उद्घात को तीव्र-उद्घात कहा गया है । इन तीनों रीतियों से परीक्षित प्राणायाम का अभ्यास करने पर वह दीर्घ अर्थात् अधिक समय तक रहने वाला तथा सूक्ष्म अर्थात् देह के अन्दर रहने वाला होता है ।

चतुर्थ-प्राणायाम का भाष्यकार ने कोई नाम नहीं दिया है । इसके बारे में केवल यह कहा है कि बाह्य तथा आभ्यन्तर प्राणायाम का अतिक्रमण करने वाला चतुर्थ-प्राणायाम है । रेचक और पूरक की भूमियों के सिद्ध होने पर दोनों का पूर्ण निरोध इस चतुर्थ-प्राणायाम में होता है । चतुर्थप्राणायाम में और तृतीय स्तम्भ-प्राणायाम में भेद यह है कि स्तम्भ-प्राणायाम बाह्य तथा आभ्यन्तर प्राणायामों को देश काल और संख्या द्वारा बिना देखे ही एक बार के प्रयत्न से जो गति निरोध होता है वह स्तम्भ-प्राणायाम है । इसमें आलोचन प्रवृत्त रहता है । इसके विपरीत चतुर्थ-प्राणायाम में श्वास, प्रश्वास के विषयों का आलोचन कर, तथा क्रमशः भूमिकाओं का जय प्राप्त कर लेने के उपरान्त आक्षेपपूर्वक बाह्य, आभ्यन्तर प्राणों की गति का पूर्ण निरोध ही

चतुर्थ-प्राणायाम है । चतुर्थ-प्राणायाम में आलोचन हो चुका रहता है ।

तत्ववैशारदी

सामान्यतः श्वास,प्रश्वास की गति विच्छेद को 'प्राणायाम' कहते हैं । रेचक पूरक और कुम्भक प्राणायाम के भेद हैं । रेचक, पूरक और कुम्भक तीनों प्राणायामों का परीक्षण देश काल और संख्या द्वारा होता है । संख्या द्वारा परीक्षण करते समय उद्घात के वर्णन में कुछ मत भेद हैं ।

जानुमण्डल को हाथ से तीन बार घुमाकर एक चुटकी बजाने पर जितना समय लगता है वह एक मात्रा है । उतने मात्रा काल में 36 बार श्वास प्रश्वास की टकराहट को प्रथम-उद्घात कहा है । इसके दुगुने अर्थात् 72 बार को द्वितीय-उद्घात कहा गया है । इसके तिगुने अर्थात् एक सौ आठ (108) बार को तृतीय-उद्घात कहा गया है । चौथे-प्राणायाम का लक्षण भाष्यकार की ही भाँति इन्होंने भी किया है । तृतीय से चतुर्थ का वैशिष्ट्य बतलाते हुए लिखते हैं — तृतीय में देश कालादि द्वारा देखे बिना एक बार के ही प्रयत्न से श्वास, प्रश्वास की गति को अवरुद्ध किया जाता है । चतुर्थ-प्राणायाम में आलोचन पूर्वक अधिकप्रयत्न से रेचक पूरक का पूर्ण निरोध होता है ।

राजमार्तण्डवृत्ति

आसन के स्थिर होने पर ही प्राणायाम नामक योगांग का अनुष्ठान किया जाता है । बाह्य वायु जिसे ग्रहण किया जाता है उसे श्वास कहते हैं और अन्दर की वायु जिसे निकाला जाता है उसे प्रश्वास कहते हैं । श्वास और प्रश्वास की गति को रोक लेना ही प्राणायाम है ।

प्राणायाम के चार भेद किए गए हैं । (1) रेचक (2) पूरक (3) कुम्भक (4) केवलकुम्भक । बाह्यवायु को रोकना रेचक-प्राणायाम है । आभ्यन्तरवायु को रोकना पूरकप्राणायाम है । अन्दर की वायु को स्तम्भित किए रखना अर्थात् रोके रखना कुम्भक है । कुम्भक 'घड़े' को कहते हैं । जिस प्रकार जल घड़े में पानी भरकर उसमें ही रहने देते हैं, उसे निकलने नहीं देते हैं, उसी प्रकार अन्दर की वायु अर्थात् प्रश्वास को निकलने नहीं देना उसे रोके रखना कुम्भक प्राणायाम है।[1]

---

1. "बाह्यवृत्तिः श्वासो रेचकः अन्तरवृत्तिः प्रश्वासः पूरकः । अन्तस्तम्भवृत्तिः कुम्भकः ।" — रा० मा० वृ० 2611

ये तीनों प्राणायाम देश, काल और संख्या के द्वारा देखे जाने पर 'दीर्घ' और 'सूक्ष्म' की संज्ञा को प्राप्त करते हैं। नासिका के आस पास का स्थान ही देश कहलाता है। इस देश, काल और संख्या द्वारा प्राणायाम का अवलोकन किया जाता है। X मात्राओं के काल से प्राण निरोध की प्रक्रिया को काल द्वारा आलोचन कहते हैं। कितने बार प्राणायाम किया गया यह संख्या से मालूम होता है। इस संबन्ध में योगशास्त्र 'उद्घात' का प्रयोग भोज ने भी किया है। उद्घात का स्पष्ट अर्थ है — नाभि के मूल से प्रेरित वायु का सिर से टकराना। जितनी बार वायु सिर से टकराती है उतने ही उद्घात बनते हैं।[1]

केवलकुम्भक प्राणायाम में 'रेचक' और 'पूरक' प्राणायाम का देशकालादि पूर्वक आलोचन करने के पश्चात् सहसा इन दोनों प्राणायामों का निरोध कर दिया जाता है।

उक्त चारों-प्राणायामों से सात्त्विक चित्त के ऊपर आवृत्त क्लेश रूपी आवरण क्षीण हो जाते हैं और चित्त ध्येय विषय में स्थिर हो जाता है। वृत्तिकार भोज ने रेचक, पूरक, कुम्भक और केवल कुम्भक प्राणायाम में प्रत्येक नाम के साथ 'वृत्ति' शब्द को संयुक्त किया है। उद्घात शब्द की व्याख्या इन्होंने ही स्पष्ट किया है। भाष्य की तुलना में ये दो विशेषताएँ प्रस्तुत वृत्ति में ही उपलब्ध हैं।

विवरण

बाह्यवायु को नासिकापुटों से अन्दर खींचना श्वास है और कोष्ठ की वायु को बाहर निकालना प्रश्वास है। प्राण वायु का इन दोनों गतियों का विच्छेद ही प्राणायाम है।[2] प्राणायाम के तीन प्रकार हैं। (1) बाह्यवृत्ति (2) आभ्यन्तरवृत्ति और (3) स्तम्भवृत्ति। बाह्य-वायु का अन्दर प्रविष्ट होना बाह्य-वृत्ति है।[3] इसे ही अन्य व्याख्याकारों ने 'पूरक' प्राणायाम नाम भी दिया है।

- -

1 - " उद्घातो नाम नाभिमूलात्प्रेरितस्य वायोः शिरसि अभिहननम्। "
— रा॰मा॰वृ॰ पृ॰ 26। ।

2 - " बहिर्वायुराकृष्यते, स प्राणकर्म श्वासः। प्राणवृत्ति संबन्धो हि कौष्ठ्यो वायुः तस्य बहिर्निःसारणं प्रश्वासः। तयोर्गति विच्छेदः। उभयाभावः प्राणायामः।"
— विवरण पृ॰ 227 ।

3 - " बाह्यस्य वायोरन्तः प्रवेशनं प्रतिवृत्तिः यस्य स बाह्यवृत्तिः। तस्मात् स बाह्यः। बाह्यमेव पूरक इत्याचक्षते।" — वही पृ॰ 227 ।

आभ्यन्तर वायु को बाहर निकालना आभ्यन्तरवृत्ति है । जिसे अन्य व्याख्याकारों ने 'रेचक' प्राणायाम नाम दिया है ।[1] वायुग्रहण और निःसारण दोनों प्रक्रियाओं को एक बार के प्रयत्न में ही रोक देना स्तम्भवृत्ति है ।[2]

इन तीनों प्राणायामों का देश काल और संख्या के द्वारा परीक्षण किए जाने पर इन प्राणायामों के देश, काल और संख्या विषयक व्यवस्था का ज्ञान होता है । बाह्यवृत्ति अर्थात् अश्वस्यमान वायु का नासिकाग्र से लेकर पादाङ्गुष्ठ तक होना देशव्याप्ति है ।[3] अन्तःवृत्ति का पादागुष्ठ से लेकर नासिकाग्र तक व्याप्त रहना अन्तःवायु की देशव्याप्ति है ।[4] स्तम्भ वृत्ति में मस्तक से पादतल तक व्याप्त होना स्तम्भ वृत्ति की देशव्याप्ति है ।[5]

काल द्वारा परीक्षण किए जाने पर कितने क्षण तक प्राणायामों की स्थिति रही का ज्ञान होता है । संख्या द्वारा परिदृष्ट किए जाने पर तीनों प्राणायामों के अतीतकालीन स्थिति का पता चलता है । संख्याओं के द्वारा परीक्षित करने पर इतनी संख्या तक श्वासप्रश्वास की क्रिया करने पर प्रथम-उद्घात होता है जिसको मृदु-उद्घात् नाम भी दिया गया है । इसी तरह द्वितीय-उद्घात या मध्यम-उद्घात और तृतीय या तीव्र-उद्घातों के प्राणायामों की मन्दस्थिति, मध्यमस्थिति और तीव्र स्थिति का पता चलता है ।

---

1 - "आभ्यन्तरस्य वायोर्बहिर्निःसारणं यत्र वृत्तिर्यस्य स आभ्यन्तरवृत्तिः । तं रेचक इत्याचक्षते ।" — विवरण पृ0 228 ।

2 - "सकृत्प्रयत्नात् प्राणविधृतयः सर्वेषामुपशमीत्याह - - - द्वयोर्युगपत् गत्यभाव इति ।" — वही पृ0 228 ।

3 - " बहिर्वृत्तेरश्वस्यमानस्य नासिकाग्रप्रभृत्यापादाङ्गुष्ठं देशव्याप्तिः ।" — वही पृ0 228 ।

4 - " एवमन्तर्वृत्तेर्बहिर्निःसार्यमाणस्य वायोः पादाङ्गुष्ठप्रभृत्यानासिकाग्रं देशव्याप्तिः" — वही पृ0 228 ।

5 - " स्तम्भवृत्तेरामस्तकपादतलव्याप्तिः ।" अथ — वही पृ0 228 ।

देशकाल और संख्या द्वारा परीक्षित किए जाने के उपरान्त बाह्य और आभ्यन्तर वायु का पूर्ण निरोध करने से चतुर्थ-प्राणायाम होता है । इसमें और स्तम्भ-वृत्ति में भेद है । स्तम्भ-वृत्ति में पहले श्वासप्रश्वास की गति का सकृत् प्रयत्न से अभाव हो जाता है उसके बाद देश काल संख्यादि से उसका परीक्षण होता है । इसके विपरीत चतुर्थ प्राणायाम में देशकाल, और संख्या द्वारा परीक्षित बाह्य, आभ्यन्तर वृत्तियों का पूर्ण निरोध होता है ।

योगवार्तिक

श्वास प्रश्वास की स्वाभाविक गति का निरोध प्राणायाम है । यह प्राणायाम का सामान्य लक्षण है । वार्तिककार ने सभी प्राणायामों का नाम दिया है । यथा बाह्यवृत्ति को 'रेचक,' आभ्यन्तर-वृत्ति को 'पूरक' तथा स्तम्भवृत्ति को 'कुम्भक' नाम दिया है । रेचक, पूरक और स्तम्भ प्राणायामों का वर्णन भाष्यकार से मिलता जुलता है। परन्तु कुम्भक के बारे में कुछ विशेष वर्णन किया गया है जो अन्य व्याख्याओं में नहीं उपलब्ध है । कुम्भक के बारे में यह कहा गया है कि वह रेचक और पूरक का अतिक्रमण कर स्वयमेव रहता है । इस प्रकार का प्राणायाम ही चतुर्थ-प्राणायाम है जिसे 'केवल कुम्भक' नाम दिया गया है । यह नाम वशिष्ठसंहिता से से लिया गया है । केवलकुम्भक-प्राणायाम बहुत व्यापक है क्योंकि यह रेचक और पूरक की भाँति न तो देश से परिच्छिन्न है न काल से परिच्छिन्न है और न ही संख्या से परिच्छिन्न है प्रत्युत अपनी इच्छा से यह मास, वर्ष, और संवत्सर तक रहता है । तृतीय प्राणायाम जिसका नाम इन्होंने 'मितकुम्भक' दिया है का चतुर्थ-प्राणायाम से भेदनिरूपण भाष्य से मिलता जुलता किया गया है ।

उद्घातों का वर्णन भाष्यकार तथा वाचस्पतिमिश्र से भिन्न रूप में किया गया है । 'उद्घात' का अर्थ वायु का ऊपर टकराना है । पूरक को ही प्रथम-उद्घात माना गया है । कुम्भक को द्वितीय-उद्घात माना गया है तथा रेचक को तृतीय-उद्घात माना गया है । निमेषोन्मेषण रूप मात्रा मापक द्वारा 16 श्वास का प्रवेश 'पूरक-उद्घात' माना गया है और 64 बार श्वास के प्रवेश को कुम्भक माना गया है जिसको 'द्वितीय-उद्घात' नाम भी दिया गया है । 32 मात्रा में होने वाले रेचक को 'तृतीय-उद्घात' नाम दिया गया है ।

इन व्याख्याओं में वार्तिक की ही भाँति विवेचन है ।

मणिप्रभा

आसन के स्थिर होने पर बाह्य तथा अभ्यन्तर की वायु के गति का निरोध ही प्राणायाम है । प्राणायाम के चार भेदों का उल्लेख मणिप्रभा में भी उपलब्ध है ।

बाह्यवृत्ति — श्वास द्वारा गृहीत वायु का रेचन क्रिया द्वारा बाहर निकाल कर पुनः बाहर ही उसे धारण किए रहना बाह्यवृत्ति है । 'वृत्ति' का अर्थ 'बरतने-वाला' है। अतः बाहर स्थित रहने वाली वृत्ति बाह्यवृत्ति है । पूरक क्रिया द्वारा बाह्यवायु को धारण करके "श्वास" के छिद्रों को पूरित करना पूरक है । इसमें प्राणवायु अन्दर स्थित रहती है अतः इसे 'आभ्यन्तरवृत्ति' कहते हैं । रेचन और पूरक प्रयत्नों के बिना केवल विधारक प्रयत्न से श्वास, प्रश्वास की गति का निरोध 'स्तम्भवृत्ति' है । इसी को 'कुम्भक' भी कहा गया है । कुम्भक नाम इसलिए दिया गया है कि जैसे घड़े में भरा जल निश्चल होकर पड़ा रहता है उसी प्रकार स्तम्भ-वृत्ति में प्राणवायु सकृत्प्रयत्न से ही निश्चल हो अन्दर पड़ी रहती है । 'रेचक' और 'पूरक' की गति का अभाव बिना प्रयत्न के ही हो जाता है । अत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्राणवायु अन्दर स्थित रहती है । देश, काल, और संख्या द्वारा तीनों प्राणायामों की दीर्घता तथा सूक्ष्मता का आलोचन किया जाता है । देश, काल और संख्या की व्याख्या तत्ववैशारदी की ही भाँति किया गया है ।

चतुर्थ-प्राणायाम को भी इस व्याख्या में 'स्तम्भवृत्ति' या 'कुम्भक' नाम दिया गया है । दोनों के व्याख्या में भेद का निरूपण इस प्रकार से किया गया है । स्तम्भवृत्ति में बिना प्रयत्न के ही रेचक और पूरक का एकसाथ निरोध हो जाता है और चतुर्थ-प्राणायाम में बहुत बार प्रयत्न करने के बाद प्राणवायु का निरोध होता है । 'स्तम्भवृत्ति' में देश, काल और संख्या द्वारा आलोचन प्राणवायु के निरोध के पश्चात्

---

1 - कोष्ठ्यस्य वायो रेचनेन बहिर्निःसृतस्य बहिरेव धारणं बाह्यवृत्तिः स च रेचकः बाह्यवायोः पूरणेनान्तर्गतस्यान्तर्धारणमाभ्यन्तरवृत्तिः स च पूरकः । रेचन पूरण प्रयत्न बिना प्राणस्य केवल विधारक प्रयत्नेन गतिविच्छेदः स्तम्भवृत्तिः स च कुम्भकः ।
— मणिप्रभा पृ0 47 ।

होता है और चतुर्थ प्राणायाम में पर्यालोचन पहले ही हो चुका रहता है [1]। 'उद्घात' का उल्लेख मणिप्रभा में नहीं किया गया है ।

<u>योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका</u>

इन व्याख्याओं में मणिप्रभा के ही सदृश वर्णन किया गया है ।

<u>भास्वती</u>

श्वासप्रश्वास की स्वाभाविक गति से चित्त स्थिर नहीं हो पाता है । योग के लिए चित्त की एकाग्रता, स्थिरता अनिवार्य है । चित्त की एकाग्रता के लिए 'प्राणायाम' का महत्वपूर्ण कार्य है [2]। प्राणायाम से श्वास प्रश्वास की गति का निरोध होने से चित्त में स्थिरता आती है । अतः प्राणायाम को भी चित्तवृत्ति निरोध का साधन कहा जाना चाहिए । प्राणायाम के चार भेदों का उल्लेख भास्वती में भी प्राप्त है ।

बाह्यवायु जिसे धारण किया जाता है उसे बाहर ही स्थित रहने देने से चित्त की वायु धारण करने की क्रिया का निरोध होता है । अतः बाह्यवृत्ति प्राणायाम में केवल प्राणवायु की गति का ही निरोध नहीं होता प्रत्युत निरोध की प्रक्रिया को करने वाली शक्ति की क्रिया का निरोध होता है । इसी लिए भास्वतीकार ने यह कहा है कि न केवल रेचनमात्र ही प्राणायाम है प्रत्युत रेचकान्त निरोध <u>बाह्यवृत्ति प्राणायाम</u> है [3]। पूरक का अन्त तक निरोध ही पूरक प्राणायाम है [4]। आभ्यन्तरवृत्ति वाले प्राणवायु का भी निरोध करने पर चित्त की वृत्ति का निरोध हो जाता है और इस प्राणायाम से चित्त स्थिर, निश्चल होकर योग को प्राप्त करता है । रेचक और पूरक की अपेक्षा न करते हुए सकृत् प्रयत्न से श्वास, प्रश्वास की गति का सहसा अभाव ही स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है । यह रेचक, पूरक का सहकारी नहीं

- -

1 - "रेचकपूरकयोरभ्यासेन जितबाह्याभ्यन्तरविषयमित्थर्यं विनैव सकृत्प्रयत्नमात्रेण स्तम्भवृत्तिः कुम्भकः । तन्निरुक्तपूर्वक स्तम्भवृत्ति- र्द्वपयस्तत्सम्पूर्णतुरीय इति वैलक्षण्यमिति"
— मणिप्रभा पृ0 48 ।

2 - "प्राणायामो योगस्य चित्तवृत्तिनिरोधस्य साधनमिति बोद्धव्यम् ।"
— भास्वती पृ0 269 ।

3 - " यो बाह्यो निरोध धारणं तथा वायुधारणप्रयत्नेन तद्धि चित्तस्यापि बन्धः स बाह्यवृत्तिः प्राणायामः, नाहं रेचनमात्रः किन्तु रेचकान्त निरोधः ।
— भास्वती पृ0 269 ।

4 - "पूर्ववत् प्रयत्नविशेषात् पूरणपूर्वको गत्यभावः = वायोरभ्यन्तरे धारणं चित्तस्यापि बन्धः

होता । स्तम्भ वृत्ति में श्वास, प्रश्वास की गति का सर्वथा अभाव हो जाने से चित्त भी अपने ध्येय विषय में स्थित हो जाता है ।

उक्त तीनों प्राणायामों की दीर्घता तथा सूक्ष्मता का निर्णय देश, काल और संख्या के द्वारा किया जाता है । संख्या द्वारा निर्णय करने में उद्घातों का वर्णन भास्वती में भी उपलब्ध है । 12 मात्रा तक को प्रथम या मृदु-उद्घात, 24 मात्रा तक को द्वितीय अर्थात् मध्यम-उद्घात और 36 मात्रा तक को तृतीय अथवा तीव्र-उद्घात कहा गया है ।

देश,काल और संख्या द्वारा बाह्यवृत्ति प्राणायाम तथा आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम का आलोचन करने के पश्चात् दोनों का क्रम से अभाव हो जाने पर चतुर्थ प्राणायाम होता है । स्तम्भ वृत्ति में सकृत् अभाव होता है तथा देशादि द्वारा आलोचन निरोध के बाद होता है । चतुर्थ में बाह्याभ्यन्तर प्राणायाम का क्रम से अभाव होता है तथा निरोध के पूर्व उनकी दीर्घता तथा सूक्ष्मता का निर्णय देश, काल और संख्या द्वारा हो जाता है । अतः चतुर्थ-प्राणायाम को स्तम्भवृत्ति से विशेष प्राणायाम मानना चाहिए ।

स्वामिनारायणभाष्य

श्वास और प्रश्वास की गति का प्रतिबन्ध ही प्राणायाम है । इसके चार भेद किए गए हैं । (1) बाह्यवृत्तिनामकरेचक प्राणायाम (2) आभ्यन्तरवृत्तिनामक पूरक प्राणायाम (3) स्तम्भवृत्तिनामक कुम्भक प्राणायाम (4) केवलकुम्भकप्राणायाम ।

प्रश्वासपूर्वक गति का अभाव रेचक है । कोष्ठ की वायु की निःसारण क्रिया को प्रश्वास कहते हैं । जब प्रश्वास की गति का निरोध हो जाता है तब रेचक प्राणायाम होता है । साधारण स्थिति में प्राणवायु का आगमन और निःसारण ये दोनों क्रियायें स्वाभाविक रूप से स्वतः ही होती रहती हैं । परन्तु जब आसन में स्थिर होने के

- -

स आभ्यन्तरवृत्तिः प्राणायामः पूरकाख्यप्राणनिरोधो न पूरणमात्रः ।"

— भास्वती पृ0 269 ।

1 - " तत्पूर्वकः = दीर्घसूक्ष्मतापूर्वको भूमिजयात् दीर्घसूक्ष्मीभावस्य भूमिजयात्, क्रमेण = क्रमतः, न तु तृतीयस्तम्भवृत्तिवत्सकृत्, उभयोः = बाह्याभ्यन्तरयोः, गत्यभावः = स्तम्भवृत्ति विशेषरूपः, चतुर्थः प्राणायाम इति ।"

— भास्वती पृ0 273 ।

पश्चात् प्राणवायु की दोनों गतियों को रोका जाता है तब उस प्रतिबन्ध की प्रक्रिया को प्राणायाम कहते हैं । 'रेचक' में प्रश्वास अर्थात् अन्तस्थ वायु को निकलने से रोका जाता है । बाहर की वायु का आचमन करना आभ्यन्तरवृत्ति है । जिसका नाम पूरक भी है । बाह्य वायु को ग्रहण करने की गति को निरुद्ध करना पूरक-प्राणायाम है । जब विधारकप्रयत्न द्वारा रेचक, पूरक की गति का अभाव हो जाता है तब स्तम्भवृत्ति होती है ।[1]

इन तीनों प्राणायामों की दीर्घता तथा सूक्ष्मता देश, काल और संख्या द्वारा देखी जाती है । देश, काल के बारे में विवेचन वैशारदीकार के समान ही किया गया है । 'संख्या' के विवेचन में मात्राओं का क्रम निर्धारित किया गया है । 12, 24, 36 मात्राएँ हैं । इनमें 12 मात्राकाल तक रहने वाला प्राणायाम मृदु-प्राणायाम है, 24 मात्रा वाला मध्यम और 36 मात्रा वाला तीव्र-प्राणायाम होता है ।

रेचक और पूरक का अतिक्रमण कर केवल स्वयमेव ही रहने वाला प्राणायाम केवल-कुम्भक-प्राणायाम है ।[2] यह प्राणायाम उक्त प्राणायामों की अपेक्षा अधिक व्यापक है । व्यापकता के ही कारण केवल-कुम्भक-प्राणायाम का परीक्षण देश, काल और संख्याओं से नहीं होता । क्योंकि केवल-कुम्भक-प्राणायाम मास, संवत्सरादि काल तक रहने वाला होता है ।

प्राणायामों का योग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसकी महत्ता को ही ध्यान में रखकर यह कहा गया है कि 'प्राणायाम' 'तपस्या' से भी बढ़कर है ।[3]

- -

1 - " पूरकः श्वासपूर्वकोगत्यभावः ।"
" स्तम्भवृत्तिर्नाम - कुम्भकः, यत्रोभयोः श्वासप्रश्वासयोरभावो विधारकप्रयत्न-मात्रादेव भवति न तु तत्र रेचक-पूरकप्रयत्नापेक्षते ।"
--- भा०ना०भा०पृ० 252 ।

2 - " रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् । प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ।"
--- वही पृ० 255 ।

3 - " उक्तं चाऽऽगमिभिः - 'तपो न परं प्राणायामात्' ।"
--- वही पृ० 256 ।

योग के त्रिविध साधनों की व्यवस्था

योगसाधना के प्रधान उपाय अभ्यास और वैराग्य हैं । अभ्यास द्वारा चित्त स्थिरता को प्राप्त कर एकाग्र हो जाता है । एकाग्रचित्त ही समाधि साधना के योग्य होता है अतः अभ्यास का समाधि-साधना की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । इसी तरह 'वैराग्य' की भी उपयोगिता समाधि की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है । वैराग्य-भावना के उदित होने पर चित्त ऐहिक(पारलौकिक सभी प्रकार के विषयों के प्रति अनासक्त भाव होकर समाधि के योग्य हो जाता है । अभ्यास और वैराग्य के अतिरिक्त योग के अन्य और भी साधनों का उल्लेख प्राप्त होता है यथा— क्रियायोग, और यमनियमादि अष्टांगयोग । इन साधनों के अभ्यास से व्युत्थित चित्त वाले साधक भी योग-सिद्धि के योग्य हो पाते हैं परन्तु अभ्यास और वैराग्य का अनुष्ठान इन्हें भी करना पड़ता है । सम्भवतः इसी लिए अभ्यास और वैराग्य को योग का प्रमुख साधन माना गया है । इन साधनों के बीच संबन्ध भाव को लेकर सभी व्याख्याकारों ने अपनी अपनी व्याख्याओं में भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए हैं । जिनका उल्लेख अलग-अलग किया जा रहा है ।

व्यासभाष्य

योग के लक्षण के अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध करने पर ही योग की प्राप्ति होती है । चित्तवृत्तियों के निरोध के उपाय का वर्णन प्रथमपाद तथा द्वितीय-पाद दोनों में ही किया गया है । द्वितीय-पाद में 'क्रियायोग' नामक उपाय का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि अभ्यास और वैराग्य नामक उपायद्वय से समाहित चित्त वाले साधक योगप्राप्त करते हैं और व्युत्थित चित्त वालों के लिए पहले क्रियायोग का आचरण करना आवश्यक होता है । तत्पश्चात् अभ्यास और वैराग्य द्वारा उन्हें योगसिद्धि प्राप्त होती है । साधनपाद में ही अष्टांगयोगों का भी वर्णन किया गया है जिन्हें योग का साधन बतलाया गया है । अष्टांग योग किस प्रकार के अधिकारी के लिए है ऐसा कुछ भी उल्लेख भाष्य में नहीं प्राप्त होता है ।

समाहित चित्त वाले साधक अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध करके सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग को प्राप्त करते हैं । व्युत्थितचित्त वाले साधक भी योग प्राप्त कर सकते हैं परन्तु उनके चंचल चित्त को स्थिर करने के लिए पहले उन्हें तपस्या, स्वाध्यायादि क्रियायोग के उपायों का अनुष्ठान करना पड़ता है । क्रियायोग द्वारा क्लेशादिमल क्षीण हो जाते हैं । इन तनुभाव प्राप्त क्लेशादि को विवेकख्याति रूपी अग्नि द्वारा दग्ध-बीज-भावता प्राप्त कराकर अभ्यास और वैराग्य द्वारा योग को प्राप्त करते हैं । योग प्राप्त करने का तृतीय साधन या उपाय अष्टांग योग है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग हैं । इन अंगों का सेवन करने से भी अधिकारी योगप्राप्त करते हैं ।

'योग' प्राप्ति की दृष्टि से उक्त तीनों उपायों में 'अभ्यास' और 'वैराग्य' का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि क्रियायोग तथा अष्टांगयोग के पश्चात् सफलता प्राप्त करने के लिए अन्त में अभ्यास और वैराग्य नामक उपाय का सेवन सभी अधिकारियों को करना पड़ता है । अष्टांगयोग में प्रारम्भ के पांच साधनों के उपरान्त धारणा ध्यान और समाधि तो अभ्यास और वैराग्य द्वारा ही साध्य हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि अभ्यास और वैराग्य का योग के प्रत्येक साधनों से घनिष्ठ संबन्ध है ।

तत्ववैशारदी

तत्ववैशारदीकार ने भी केवल यही कहा है कि प्रथम-पाद में बताए गए उपाय समाहितचित्त वालों के लिए हैं और क्रियायोग नामक उपाय व्युत्थितचित्त वालों के लिए हैं । अष्टांगयोग को लेकर किसी विशेष अधिकारी का नामोल्लेख इस व्याख्या में भी नहीं किया गया है । समाहित-चित्त वाले साधक अभ्यास और वैराग्य द्वारा योग प्राप्त करते हैं । समाहितचित्त का तात्पर्य है अविक्षिप्त चित्त अर्थात् जिन साधकों का चित्त चंचल नहीं होता प्रत्युत सरलता से स्थिर हो जाता है उन्हें ही समाहितचित्त कहा गया है ।

व्युत्थित-चित्त वाले भी योग प्राप्त कर सकें इस बात को ध्यान में रखते हुए 'क्रियायोग' का उपदेश किया गया है । व्युत्थितचित्त वाले साधक के लिए पहले क्रियायोग का आचरण आवश्यक है उसके पश्चात् अभ्यास और वैराग्य नामक उपायों से योगसिद्धि प्राप्त होती है । असिद्ध लोग भी योग को प्राप्त कर सकते हैं ।

इसके लिए 'अष्टांगयोग' का उल्लेख किया गया है । यम, नियम, आसन प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग हैं । इनमें प्रारम्भ के पाँच साधनों को योग का बहिरंग साधन कहा गया है । धारणा, ध्यान और समाधि में चित्त अभ्यास और वैराग्य के फलस्वरूप ही अनुगत होता है ।

इस प्रकार तत्त्ववैशारदीकार की व्याख्या से भी यही निर्धारित होता है कि अभ्यास और वैराग्य दोनों साधनों के मध्य सामान्य तथा अनिवार्य उपाय हैं । बिना अभ्यास और वैराग्य के योग-सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती ।

राजमार्तण्ड -वृत्ति

वृत्तिकार भोज ने भी योग के साधनों का वर्णन करते हुए उन साधनों से संबन्धित साधकों के बारे में विशेष वर्णन नहीं किया है । समाहित-चित्त वाले साधक अभ्यास और वैराग्य द्वारा योग सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं । व्युत्थित चित्त वालों को अभ्यास और वैराग्य नामक योग के साधन का अनुष्ठान करने के लिए सर्वप्रथम क्रियायोग द्वारा क्लेशों को शिथिल करना चाहिए तदुपरान्त होते अभ्यास और वैराग्य के अनुष्ठान द्वारा योग को प्राप्त कर सकते हैं । क्लेशों से उत्पन्न अशुद्धियों को नष्ट करने के लिए योगांगों का अनुष्ठान करना चाहिए । ये योगांग आठ-प्रकार के हैं जिनके पालन से क्लेश रूपी अशुद्धियों का नाश हो जाता है और चित्त शुद्ध सात्त्विकवृत्ति में स्थित हो ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होता है । योगांगों का वर्णन करते समय भोजवृत्तिकार ने योगांगों के साधक विशेष का उल्लेख नहीं किया है । भाष्यकार की ही तरह ये भी इस विषय पर मौन हैं ।

विवरण

कैवल्य का साधन सम्यक्दर्शन है । सम्यक्दर्शन के अन्तर्गत सम्प्रज्ञात-समाधिगत-ज्ञान और विवेकख्याति रूप सम्यक्ज्ञान आते हैं जिनसे चित्तवृत्तियों का निरोध होने के पश्चात् प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का सम्यक् अर्थात् ठीक-ठीक ज्ञान

- -

1 - " व्युत्थित चित्तस्यापि कथमुपायाभ्यासपूर्वको योगः स्वास्थ्यम् उपयातीति तत्साधनानुष्ठानप्रतिपादनाय क्रियायोगमाह ।"

— रा0मा0 वृ0 पृ0 133 ।

प्राप्त होता है । परन्तु यह सम्यक् ज्ञान कैसे होता है ? इसके उत्तर में सम्यक्ज्ञान प्राप्ति के साधनों का उल्लेख साधन-पाद में किया गया है । विवरणकार की व्याख्या के अनुसार साधनपाद में प्रतिपादित योग के साधन ही योगसंबन्धित विशिष्ट साधन हैं । इन साधनों का प्रतिपादन मुख्य रूप से इसी पाद में किया गया है । इसीलिए इस पाद का नाम साधन पाद है ।[1]

साधन के अभाव में कोई भी सिद्धि नहीं होती । अतः समाधि तथा तदुपाय की सिद्धि के लिए साधनों की अपेक्षा होती है । ये साधन हैं क्रियायोग और यमनियमादि । समाधिपाद में वर्णित समाधियों की सिद्धि के लिए समाहितचित्त वाले साधक अभ्यास और वैराग्य का अनुष्ठान करते हैं और इन्हीं साधनों के अभ्यास द्वारा वे समाधि की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं । परन्तु व्युत्थित-चित्त वाले साधकों का चित्त (क्रियायोग) के आचरण यथा तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान द्वारा समाधि के योग्य बनता है[2] और इसके पश्चात् अभ्यास और वैराग्य द्वारा वे साधक भी योग को प्राप्त करते हैं ।[3]

साधनपाद में वर्णित योग के आठों अंगों की उपयोगिता विवेकख्याति के लिए कही गई है ।[4] विवरणकार ने योगवार्तिककार की भाँति साधकों की श्रेणियों के अनुसार इन साधनों की उपयोगिता नहीं सिद्ध की है प्रत्युत इन्होंने साधना के अनुसार साधनों की उपयोगिता का प्रतिपादन किया है ।

- -

1 - " योगसाधनानि च योगद्वारेण सम्यग्ज्ञानसाधनान्येव । तानि च प्राधान्येनास्मिन्पादे प्रतिपाद्यन्त इति साधन पाद इत्युच्यते ।"
— विवरण पृ0 121 ।

2 - " अविक्षिप्ताद्युत्थितचित्तस्य कुतः समाधिः इति समाधेरनाय च तपस उपादनम् ।"
— वही पृ0 124 ।

3 - " इतरयोगाङ्गसहितः समाधिं भावयति ।" — वही पृ0 124 ।

4 - " योगाङ्गानुष्ठानात्तु पञ्चयेन विवेकख्यातिसिद्धिरिति ।"
— वही पृ0 208 ।

योगवार्तिक

विज्ञानभिक्षु ने योग के साधनों का क्रमबद्धवर्णन किया है । इन्होंने उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन श्रेणियों में अधिकारियों को विभक्त किया है और अधिकारियों के स्वभाव के अनुकूल साधना के मार्ग को भी निश्चित् किया है । उत्तम अधिकारी अभ्यास और वैराग्य द्वारा सम्प्रज्ञातयोग और असम्प्रज्ञातयोग को प्राप्त करते हैं । मध्यम अधिकारी तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान आदि साधनों के द्वारा योग प्राप्ति के योग्य बनता है । क्रियायोग के उल्लिखित साधनों का अनुष्ठान करने के पश्चात् इनके लिए अभ्यास और वैराग्य का अनुष्ठान भी आवश्यक है । क्रियायोग को विज्ञानभिक्षु ने "कर्मयोग" कहा है[1] । क्योंकि स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान आदि उपायों में कर्मयोग के ही सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं । क्रियायोग द्वारा साधक अपने चित्त के मलों को हल्का करके उन्हें प्रसंख्यान अग्नि द्वारा दग्ध-बीज-भाव-ता प्राप्त कराकर अभ्यास और वैराग्य द्वारा योग को प्राप्त करता है । परं मन्दाधिकारी चूंकि उक्त दोनों अधिकारियों की तुलना में मन्द है अतः इन्हें परमन्द अधिकारी कहा गया है । इनका चित्त व्युत्थितचित्त वालों से भी अधिक व्युत्थित होता है । अतः योग के लिए इन्हें अधिक प्रयत्न करना पड़ता है । परमन्दाधिकारी के लिए योग के सभी उपायों का आचरण करना पड़ता है । यम, नियमादि योग के आठ साधनों का प्रथमतः अनुष्ठान करने के उपरान्त क्रियायोग तथा अभ्यास और वैराग्य का भी आचरण करने पर ही इन्हें योगसिद्धि प्राप्त होती है ।

योगदीपिका, पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति

इन दोनों व्याख्याओं में व्याख्याकार वार्तिककार के विवेचन से प्रभावित हैं । इन व्याख्याकारों ने भी वार्तिककार की ही भाँति साधकों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर के उनकी साधना का उल्लेख किया है ।

- -

1 - " क्रियायोगस्य मोक्षसाक्षाद्व्यापारकथनात्कर्मयोगो ज्ञानादि साधनतया ज्ञानाद्द्वारैव न साक्षान्मोक्षहेतुरिति सिद्धान्त इति । "

— यो०वा० पृ० 142 ।

मणिप्रभा

मणिप्रभाकार के अनुसार योग के साधनों का उल्लेख द्वितीय-पाद में ही है । मणिप्रभाकार ने इन साधनों को लेकर साधकों का उल्लेख नहीं किया है । अभ्यास और वैराग्य चित्तवृत्तियों के निरोध का उपाय है अतः इसके अनुष्ठानकर्ता को कोई विशेष संज्ञा इन्होंने नहीं दी है । अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाने पर चित्त स्थिति के योग्य हो जाता है । सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात नामक द्विविध योगों की प्राप्ति के साधनों का उल्लेख द्वितीयपाद में किया गया है । क्रियायोग और अष्टांगयोग ही योगप्राप्ति के साधन हैं ।

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग के अंग हैं इनका आचरण करने से क्लेशों को हटाकर समाधि की भावना की जाती है । अष्टांग द्वारा चित्त की क्लेश और कर्मरूपी अशुद्धियों का क्षय होता है तथा चित्त में ज्ञान का प्रकाश होता है जिससे विवेकख्याति प्राप्त होती है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार योग के बहिरंगसाधन हैं । धारणा, ध्यान और समाधि योग के अन्तरंग साधन हैं ।

योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका

इन व्याख्याओं में मणिप्रभा के विचारों का ही समर्थन किया गया गया है ।

भास्वती

योग को प्राप्त करने का साधन मन है । मन का निरोध करने पर ही योग की प्राप्ति होती है । अभ्यास और वैराग्य समाधि के उपाय हैं । जिनके द्वारा सिद्ध सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातसमाधि को प्राप्त कर अन्त में कैवल्य को प्राप्त हो जाता है । अभ्यास और वैराग्य नामक योग के उपाय समाहित चित्त वाले

- -

1- " मनः प्रधानसाधनानि तथाऽभ्यासेन वैराग्येण च निरुध्य समाधेः रवान्तर भेदात्सम्प्रज्ञातं कैवल्यहेतोः योगः प्रथमे पादे उद्दिष्टः ।"

— भास्वती पृ० 137 ।

योगी के लिए ही उपयुक्त है । व्युत्थित-चित्त वाले व्यक्तियों का चित्त चंचल रहता है । चंचल चित्त अभ्यास और वैराग्य रूप साधन नहीं कर सकता अतः उसके लिए पहले उन्हें क्रियायोग द्वारा चित्त की अशुद्धियों को दूर करना पड़ता है तत्पश्चात् योग को ध्येय मानकर योगानुकूल आचरण करना पड़ता है । चित्त की अशुद्धियों को हटाने के लिए यम-नियमादि योग के पाँच बहिरंगसाधनों का अनुष्ठान करने से ही साधक शान्तचित्त होकर योगाभ्यास के लिए समर्थ हो पाता है ।[1]

भास्वतीकार ने तृतीय साधन से सम्बन्धित साधक को कोई अन्य संज्ञा नहीं दी है । व्युत्थित-चित्त वाले साधकों के लिए ही उक्त दोनों साधनों का उपयोग बताया है ।

स्वामिनारायण-भाष्य

अभ्यास और वैराग्य द्वारा उत्तमसाधक योग प्राप्त कर लेते हैं । परन्तु व्युत्थितचित्त वाले साधक के लिए यह मार्ग अत्यन्त दुःसाध्य है । व्युत्थितचित्त वाले के लिए ही द्वितीय-पाद में क्रियायोग तथा अष्टांगयोग नामक योग के साधनों का विवेचन किया गया है ।[2] व्युत्थितचित्त वाले साधकों में पुनः कोई वर्गीकरण इन्होंने भी नहीं किया है । व्युत्थितचित्त वालों के लिए आरुरुक्षु संज्ञा इन्होंने दी है । 'आरुरुक्षु' अर्थात् व्युत्थितचित्त वालों का चित्त बहिर्मुखी होता है । अतिचंचल चित्त को योगसिद्धि के योग्य बनाने के लिए क्रमशः क्रियायोग तथा अष्टांगयोग का आचरण करना आवश्यक होता है ।

- -

1 - " दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कारासेवितः शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुर्युक्तः समाध्यभ्यासक्षमो भवेत् । "
— भास्वती पृ० 139 ।

2 - " समाहितयोगाद्व्युत्थितचित्तयोगस्याऽधिकारिणोऽभ्यासवैराग्याख्यसाधनेनैव पूर्वपाद योगः क्रियायोगादिसाधनानि निरपेक्षः प्रदर्शितः । अभ्यासवैराग्ये चाऽतिकठिने न सर्वेषामनायासेन भवतः । तस्माद् व्युत्थितचित्तस्य बहिर्मुखस्य योगाऽऽरम्भोः केनोपायेन क्रमतो योगसिद्धिः स्यात् । तदर्थं क्रियायोगं सकर्माष्टाङ्गानि साधनानि सपरिकरं विवेचयिष्यन् । "
— स्वा०ना०भा० पृ० 160 ।

धारणा, ध्यान और समाधि तीनों सम्प्रज्ञातयोग के अन्तरङ्ग साधन हैं और असम्प्रज्ञात के बहिरंग । कैसे ?

व्यासभाष्य

धारणा, ध्यान, समाधि, सम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तरंग साधन हैं । भाष्यकार ने अन्तरंग शब्द की कोई विशेष व्याख्या नहीं की है । केवल इतना कह कर व्याख्या समाप्त कर दी है कि यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि योग के साधनों में से धारणादि सम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तरंग साधन हैं । ये अन्तरंग साधन ही असम्प्रज्ञातयोग के लिए बहिरंग साधन हैं क्योंकि असम्प्रज्ञातसमाधि में इन तीनों का अभाव होता है । 'तदभावे-भावात्' अर्थात् असम्प्रज्ञात-समाधि तब प्रारम्भ होती है जब धारणा, ध्यान और समाधि का निरोध परवैराग्य के द्वारा हो चुकता है । इसके विपरीत सम्प्रज्ञातसमाधि की सिद्धि धारणा ध्यान और समाधि के उपस्थित न रहने पर नहीं होती । ये तीनों एक विषय में किए जाने पर 'संयम' कहे जाते हैं । सम्प्रज्ञातसमाधि संयम की ही परावस्था है । संयम के अभाव काल में सम्प्रज्ञातसमाधि की स्थिति नहीं होती । इसीलिए सम्प्रज्ञात की स्थिति के लिए इन तीनों साधनों की आवश्यकता होती है ।

तत्त्ववैशारदी

धारणा ध्यान और समाधि को सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरंग सिद्ध करने के लिए व्याख्याकार लिखते हैं कि धारणादि को तदनन्तर स्वीकार करने पर इसमें व्यभिचार दोष की आपत्ति होती है क्योंकि तदनन्तरत्व के कारण धारणादि की स्थिति ईश्वरप्रणिधान में होती है क्योंकि समाधि के अनन्तर ईश्वरप्रणिधान नामक योग का अंग आता है । अतः अन्तरंगत्व का प्रयोजक तदनन्तरत्व नहीं हो सकता और यदि समानविषयत्व को अन्तरंगत्व का प्रयोजक माना जाये तो धारणादि सम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तरंग सिद्ध होते हैं ।

- -

1 - " तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरंगं सम्प्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वेभ्यो यमादिभ्यः पञ्चभ्यः साधनेभ्य इति ।" — व्यास भाष्य पृ० 284 ।

2 - " तदप्यन्तरंगं साधनत्रयं निर्बीजस्य योगस्य बहिरंगं भवति । कस्मात् तदभावे-भावादिति ।" — वही पृ० 285 ।

3 - " त्रितयं सूत्रोक्तं (धारणा) ध्यानम् समाधयः) सम्प्रज्ञात समान विषयत्वे न्नान्तरम्, न तेषां यमादयः । — त०वै०पृ० 284 ।

क्योंकि धारणा, ध्यान, समाधि में जो ध्येय विषय होता है उसी ध्येय विषय का साक्षात्कार सम्प्रज्ञात-समाधि में प्राप्त होता है । इस प्रकार सम्प्रज्ञातसमाधि तथा धारणादि का विषय समान होता है । अतः अन्तरंगत्व का प्रयोजक तत्ववैशारदीकार के अनुसार समानविषयत्व होता है । असम्प्रज्ञातसमाधि पर-वैराग्य के अनन्तर होती है, अतः इस समाधि के लिए धारणादि भी पाँच अंगों के समान बहिरंग सिद्ध हुए ।[1]

राजमार्तण्डवृत्ति

धारणा, ध्यान, समाधि सम्प्रज्ञातसमाधि के स्वरूप का निष्पादन करते हैं। अतः इन्हें सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरंग कहा गया है ।[2] अन्तरंगत्व का प्रयोजन इनके इस व्याख्या के अनुसार "स्वरूप का निष्पादन करना है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, समाधि के लिए परम्परया सहायक हैं । निर्बीज-समाधि के लिए धारणा ध्यान और समाधि भी परम्परया ही सहायक हैं अतः यह तीनों निरालम्ब समाधि के लिए अन्तरंग नहीं हैं । प्रत्युत बहिरंग है ।[3]

विवरण

इस व्याख्या में अन्तरंग "योग" के साधनत्वीसमाप्ति के रूप में ग्रहण किया गया है ।[4] धारणात्रय 'योग' की स्थिति के लिए परमावश्यक अंग हैं । इन तीनों साधनों के द्वारा ही 'योग' की प्राप्ति होती है । बिना इन साधनों के योग सर्वथा असम्भव है इसी लिए इन साधनों को योग का आवश्यक अंग तथा चित्त की संपत्ति कहा गया है ।[5] "योग" शब्द में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों योग अन्तर्भूत हैं । इनमें से धारणात्रय सम्प्रज्ञातयोग के ही अन्तरंग माने जाते हैं। असम्प्रज्ञात योग निर्बीज है, अतः इस योग में इन साधनों को अन्तरंग नहीं माना जाता है । ये असम्प्रज्ञातयोग के लिए बहिरंग हैं क्योंकि असम्प्रज्ञातयोग "परवैराग्य" द्वारा प्राप्त होता है । इस समाधि में इन सबीज साधन-त्रयों का सर्वथा अभाव रहता है ।[6]

- -

1 - "(असम्प्रज्ञातसमाधेः) तस्य निर्बीजतया तेः सह समान विषय त्वमन्तरंगत्वमदोषकमिः न तु तदनन्तरभावस्तस्य बहिरंगे परवैराग्यानन्तरभावितया सव्यभिचारत्वादिति किंतीं सव्यभिचारमप्यन्तरंगत्वं तदनन्तरभाविताभावत् नास्ति ।" — त०वै०पृ० 286 ।

2 - "धारणादि योगांगत्रयं सम्प्रज्ञातस्य समाधेरन्तरंग समाधिस्वरूपनिष्पादनात् ।" — रा०मा०वृ० पृ० 286 ।

3 - "निर्बीजस्य निरालम्बस्य शून्यभावनापरपर्यायस्य समाधेरेतदपि योगांगत्रयं बहिरंगं पारम्पर्येणोपकारकत्वात् ।" — वही पृ० 287 ।

4 - "तदन्तरंगत्वं पूर्वसाधनासमवत्ताभ्यास अयं आद्यः करणापि ... ।" — विवरण पृ० 237 ।

5 - धारणादित्रयेण विना न योगः सम्भवति कदाचित् । - - योगस्य चित्तसंपत्तिरुक्तम् ।" — वही पृ० 238 ।

6 - " तद्य सबीजान्तरंगसाधनत्रयस्य भावेऽपि पुरुष सत्व विवेकापेक्षया निर्बीजयोगस्य

योगवार्तिक

धारणादि सम्प्रज्ञातसमाधि के साक्षात्-कारण हैं। साक्षात्कारण होने के कारण ही धारणा, ध्यान और समाधि को सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरंग तथा 'बीज'[1] कहा गया है। धारणा, ध्यान और समाधि जब एक ध्येय में ही होने लगें तब उन्हें 'संयम' कहा जाता है। यह सम्प्रज्ञातसमाधि का साक्षात्कारण है। सम्प्रज्ञातसमाधि में उक्त संयम के ध्येय विषय का साक्षात्कार होता है उससे भिन्न विषयों का कोई ज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धारणा, ध्यान, समाधि, सम्प्रज्ञात-समाधि के अन्तरंग हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पाँच चित्त की स्थिरता के लिए उपयोगी हैं तथा सम्प्रज्ञातसमाधि के लिए ये परम्परया सहायक होते हैं। साक्षात् नहीं।

असम्प्रज्ञातसमाधि को निर्बीजसमाधि भी कहते हैं। इस समाधि के लिए धारणादि तीनों अन्तरंग नहीं होते। अपितु उक्त पाँचों बहिरंग साधनों की भाँति ये भी परम्परया सहायक होते हैं।[2] असम्प्रज्ञातसमाधि परवैराग्य से प्राप्त होती है अतः असम्प्रज्ञातसमाधि निरालम्बन होती है। विवेक तथा प्रकृतिलीन उपासक भी असम्प्रज्ञातसमाधि की प्राप्ति केवल वैराग्य द्वारा करते हैं। सालम्बन संयम की अपेक्षा उक्त उपासकों को भी नहीं हुआ करती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि असम्प्रज्ञातसमाधि के लिए धारणादि-त्रय की अपेक्षा नहीं होती। इसलिए धारणादि-त्रय जो सालम्बन अभ्यास है, असम्प्रज्ञात में साक्षात्कारण नहीं बनते। इसलिए ये असम्प्रज्ञात के अन्तरंग कारण नहीं माने जाते।

योगदीपिका

योग के आठ अंगों में से यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार सम्प्रज्ञात योग के बहिरंग हैं और धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों अन्तरंग हैं।[3] असम्प्रज्ञात-समाधि 'निर्बीज-समाधि' कही जाती है क्योंकि इस समाधि में ध्येय रूप बीज का अभाव होता है। ध्येय रूप बीज का अभाव यह सिद्ध करता है कि धारणादि-त्रय असम्प्रज्ञातयोग के अन्तरंग नहीं प्रत्युत परम्परया सहायक होने के कारण बहिरंग हैं।

- -

भावात् बहिरंगत्वम्।" विवरण पृ0 238।

1- "अन्तरंगत्वे च बीजमिदं यद्ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधको सम्प्रज्ञाते ध्येयसंयमः साक्षादेव कारणं विषयान्तरसंचार रोधकत्वात्।" — योगवार्तिक पृ0 284।

2- "निर्बीज योगस्यासम्प्रज्ञातस्य तदपि त्रयं बहिरंगमेव, विवेकख्यातिपरवैराग्य द्वारा परम्परया हेतुत्वेनासाधकत्वा भावाविशेषः।" — वही पृ0 286।

3- "पूर्वेभ्यः पूर्वपादोक्त यमाद्यंगेभ्यः समाधिपादोक्तं धारणादित्रयं योगस्य सम्प्रज्ञातस्यान्तरङ्गं भवति।" यो०दी० 3-7।

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

धारणा ध्यान और समाधि को सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरंग माना गया है । सम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय स्वरूप सम्यक्प्रकारेण भासित होता रहता है । धारणादि-त्रय में भी ध्येय सर्वथा विद्यमान रहता है। इस प्रकार 'साध्य' विषय दोनों में एक ही होते हैं और बिना साध्य रूप ध्येय के सम्प्रज्ञातसमाधि नहीं हो सकती । ये धारणादित्रय आवश्यक रूप से इस समाधि में विद्यमान रहते हैं । अतः इन्हें सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरंग माना गया है ।[1] असम्प्रज्ञातसमाधि में इन सभी का चिरनिरोध हो जाता है और चित्त सर्वज्ञानशून्य, ध्येयशून्य निर्बीज-समाधि में अवस्थित हो जाता है । सम्प्रज्ञात-समाधि, विवेकख्याति आदि असम्प्रज्ञातसमाधि की परम्परया सहायता करते हैं । इन सब का परवैराग्य द्वारा निरोध कर दिया जाता है तब असम्प्रज्ञातसमाधि सिद्ध होती है । परम्परया सहायक होने के कारण सम्प्रज्ञातसमाधि तथा उसके अन्तरंग धारणा-त्रय भी असम्प्रज्ञातसमाधि के बहिरंग सिद्ध हुए ।[2]

मणिप्रभा

धारणा, ध्यान, और समाधि सम्प्रज्ञातयोग के लिए साक्षात् रूप से उपकारक हैं । अतः इन्हें सम्प्रज्ञात-योग का अन्तरंग कहा गया है ।[3] अन्तरंग का प्रयोजन मणिप्रभाकार के अनुसार 'समानविषयता' से है अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि जब एक ही ध्येय में किए जाते हैं तब संयम होता है । सम्प्रज्ञातसमाधि में उसी ध्येय विषय का साक्षात्कार होता है । ध्येय-विषय दोनों में समान होते हैं अतः अन्तरंग का प्रयोजन यहाँ समानविषयता ही है । धारणादित्रय सम्प्रज्ञातयोग के अन्तरंग निरूपित किए गए हैं । असम्प्रज्ञातयोग के लिए ये तीनों भी बहिरंग हैं क्योंकि

---

1 - "साध्यसमानविषयत्वेन हि सम्प्रज्ञातं प्रत्यन्तरंगत्वम् ।" — पा०यो०सू०वृ० पृ० 62 ।

2 - "अथ निर्बीजस्य तस्य बहिरंगतामाह । तेषु चित्तनिरोधेषु परवैराग्यानन्तर-मुत्पादकत्वात् ।"
"तदपि त्रयं निर्बीजस्यासम्प्रज्ञातस्य बहिरंगमेवेत्यर्थः ।" वही पृ० 62 ।

3 - "धारणाऽऽदित्रयं योगिनः समानविषयतया साक्षादुपकारकत्वात् 'अन्तरंगम्' ।" — मणिप्रभा पृ० 92 ।

असम्प्रज्ञातयोग में धारणादि के साथ समानविषयता का संबन्ध नहीं होता है । सम्प्रज्ञातयोग के परिपक्व हो जाने पर, पर-वैराग्य के द्वारा सम्प्रज्ञात का भी निरोध होने पर असम्प्रज्ञातयोग रूप निर्बीज-योग होता है । अतः असम्प्रज्ञातयोग में उक्त धारणादि भी परम्परा रूप से सहायक होते हैं । अतः असम्प्रज्ञातयोग के लिए यह साधन-त्रय बहिरंग हैं ।

योगसूत्रार्थबोधिनी

धारणादित्रय सम्प्रज्ञातसमाधि के साक्षात् उपकारक होने के कारण सम्प्रज्ञात-समाधि रूप अंगी के अन्तरंग हैं[1] । और निर्बीज-समाधि के लिए ये तीन भी बहिरंग हैं, क्योंकि सम्प्रज्ञातयोग के परिपक्व हो जाने पर परवैराग्य द्वारा सम्प्रज्ञातयोग का भी निरोध होने पर निर्बीज-समाधि होती है। अतः यहाँ परम्परया ये तीनों सहायक होते हैं । इसलिए असम्प्रज्ञातयोग के लिए धारणात्रिक भी बहिरंग है ।

योग सिद्धान्तचन्द्रिका

धारणात्रिक को सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरंग माना गया है । अन्तरंग का अर्थ है 'साक्षात्रूप से सहायक या उपकारक'। यम नियमादि पाँचों परम्परया सम्प्रज्ञातसमाधि के सहायक हैं । धारणादि-त्रय साक्षात् रूप से सम्प्रज्ञातसमाधि के सहायक हैं अतः इन्हें सम्प्रज्ञातसमाधि का 'अन्तरंग' कहा गया है[2] । ये ही धारणादि-त्रय असम्प्रज्ञातयोग के लिए बहिरंग हैं क्योंकि असम्प्रज्ञातयोग का अन्तरंगसाधन 'परवैराग्य' है, धारणादि असम्प्रज्ञातयोग के लिए परम्परया सहायक हैं; अतः ये असम्प्रज्ञातयोग के बहिरंग साधन हैं ।

- -

1. " धारणात्रयमन्तरंगम् । अंगिसमाधिविषयतया साक्षादुपकारकत्वात् । अतएव तत्पूर्वभूमिषु विनियोगार्थमत्र निरूपितमित्यर्थः ।" — सू0बो0 पृ0 35 ।

2. " धारणाध्यानसमाधयः, अन्तरंगम् अंगिसमाधिविषयतया साक्षात् स्वरूपोपकार-कमित्यर्थः ।" — यो0सि0च0 पृ0 109 ।

भास्वती

धारणादित्रय सम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तरंग हैं। इस संबन्ध में इस व्याख्या में कोई वर्णन नहीं किया गया है। केवल 'सुगमं भाष्यम्' लिख दिया गया है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि भास्वतीकार ने इस विषय के संबन्ध में भाष्य के ही विचारों, तर्कों का अनुमोदन किया है। असम्प्रज्ञातसमाधि के लिए ये साधनत्रय क्या हैं? इस संबन्ध में अति संक्षिप्त विवेचन प्राप्त है। वह इस प्रकार है :- असम्प्रज्ञातसमाधि निर्बीज है, क्योंकि इसमें धारणादितीनों साधनों का अभ्यास नहीं किया जाता है। धारणादित्रय ध्येययुक्तत्वेन सबीज हैं। इन सबीज साधनों से रहित होने के कारण असम्प्रज्ञातसमाधि को ही निर्बीज कहा गया है। असम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरंग 'परवैराग्य' है क्योंकि 'परवैराग्य' ही के द्वारा असम्प्रज्ञातयोग की प्राप्ति होती है। बिना इसके यह योग नहीं प्राप्त होता है।[1]

स्वामिनारायणभाष्य

धारणादित्रय सम्प्रज्ञातसमाधि के साक्षात्सम्पादक हैं। अतः इन्हें सम्प्रज्ञात-समाधि का अन्तरंग कहा गया है।[2] क्योंकि साक्षात् रूप से जो अंग जिसकी सहायता करे उसे उस अंगी का अन्तरंग कहा जाता है।[3] एक ही ध्येय-विषय में धारणा, ध्यान और समाधि का होना 'संयम' है। यह 'संयम' ही सम्प्रज्ञातसमाधि का साक्षात् सम्पादक है।[3] क्योंकि जब ध्येय-विषय का ही सम्यक् ध्यान, धारणा और समाधि होती है तब सम्प्रज्ञातसमाधि होती है। बिना ध्येय-विषय का सम्यक्ज्ञान हुए सम्प्रज्ञातसमाधि नहीं होती। इस प्रकार ये तीनों अंग साक्षात् सम्प्रज्ञातरूपी अंगी के साक्षात् सहायक सिद्ध हुए और इसीलिए इन्हें सम्प्रज्ञात-समाधि का अंतरंग कहा गया है। असम्प्रज्ञात-समाधि के लिए ये अंग बहिरंग हैं क्योंकि ये अंग साक्षात् रूप से असम्प्रज्ञात-समाधि का सम्पादन नहीं करते प्रत्युत परम्परया असम्प्रज्ञातसमाधि की सहायता करते हैं। अतः इन्हें असम्प्रज्ञातयोग के संदर्भ में बहिरंग कहा गया है।[4]

---

1 - "धारणाऽऽदिसबीजाभ्यासाभावे निवृत्तेः निर्बीजस्य प्रादुर्भावात्, परवैराग्यमेव तस्यान्तरंगमुक्तम्।" — भास्वती पृ० 268, 269

2 - "धारणादियोगांगत्रयं सम्प्रज्ञातस्य समाधेरन्तरंगमित्युच्यते साक्षात् समाधिस्वरूप सम्पादकत्वादिति।" — स्वा०ना०भा० पृ० 269

3 - "यतः संयमो यथा सम्प्रज्ञातयोगस्य साक्षात् सम्पादकस्तथा नाऽसम्प्रज्ञातयोगस्य।" — वही पृ० 269

4 - "किन्तु सम्प्रज्ञातयोगद्वारेणेति, बहिरंगत्वं परम्परया सम्पादकत्वेनांगत्वमिति।" — वही पृ० 269

योगसाधनाकाल में होने वाले चित्त के परिणामों का वर्णन

व्यासभाष्य

गुणों की निरन्तर परिणमनशीलता के कारण त्रिगुणात्मक चित्त भी परिणामशील है तथा प्रत्येक क्षण चित्त में कुछ न कुछ परिणाम हुआ करता है। योग साधना-काल में चित्त में जो परिणाम होते हैं वे तीन प्रकार के होते हैं। (1) निरोधपरिणाम (2) समाधिपरिणाम (3) एकाग्रतापरिणाम।

<u>निरोधपरिणाम</u> :– चित्त के व्युत्थान-संस्कारों का दब जाना तथा निरोध-संस्कारों का उदित होना निरोध-परिणाम है। व्युत्थान-संस्कार चित्त के धर्म हैं। योगकाल से भिन्न समय में चित्त की वृत्तियाँ जब सांसारिक विषयों से आवद्ध होतीहैं तब जो संस्कार चित्त में बनते हैं उन्हें व्युत्थान-संस्कार कहा गया है। निरोध प्रक्रिया से बने संस्कार-निरोध संस्कार कहलाते हैं। ये संस्कार भी चित्त के ही धर्म हैं। निरोध-संस्कारों से ही व्युत्थान-संस्कार दबते हैं। इस समय चित्त में केवल निरोध-संस्कार मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं। यही चित्त का निरोध-परिणाम है।

<u>समाधिपरिणाम</u> :– चित्त में सर्वार्थता का अभाव तथा एकाग्रता का आविर्भाव होना चित्त का समाधिपरिणाम है। सर्वार्थता चित्त का धर्म है। सर्वार्थता का अर्थ है – चित्त का अनेकों विषयों से आवद्ध होना। समाधिकाल से भिन्न स्थिति में सर्वार्थता चित्त का स्वाभाविक धर्म है। यही चित्त जब एकाग्र हो जाता है तब

- -

1• "व्युत्थानसंस्कारा चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्यय निरोधे न निरुद्धाः। निरोध संस्कारा अपि चित्तधर्माः। तयोरभिभवप्रादुर्भावौ व्युत्थानसंस्कारा हीयन्ते, निरोधसंस्कारा आधीयन्ते। निरोधक्षणं चित्तमन्वेति। तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वं निरोधपरिणामः। तदा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोधसमाधौ व्याख्यातम्।"

— व्यासभाष्य पृ0 286।

शनैः-शनैः सर्वार्थता का तिरोभाव होने लगता है और चित्त में एकाग्रता का उदय होने लगता है । चित्त का क्षीयमाणसर्वार्थता तथा उदीयमान एकाग्रता नामक दो धर्मों से अन्वित होना ही चित्त का समाधिपरिणाम है[1] । क्रमशः सर्वार्थता का क्षय होता है और क्रमशः ही एकाग्रता का उदय होता है । इसलिए (इस समय चित्त को) एकसाथ दोनों से अन्वित कहा जा सकता है ।

एकाग्रतापरिणाम :- समाधि में लीन चित्त में एक ही प्रकार के ज्ञान का शान्त होना तथा उदित होना चित्त का 'एकाग्रता परिणाम' है । चित्त समाधिपर्यन्त एकाग्र रहता है।इसलिए इस एकाग्रचित्त में हुए परिणामों को एकाग्रता परिणाम कहा गया है । इस समय चित्त में जो ज्ञान शान्त तथा उदित होते हैं वे ध्येय-विषयक ज्ञान होते हैं । इस समय यह आवश्यक है कि जिस प्रकार के ज्ञान उदित होकर शान्त हो गये हों पुनः तत् सदृशज्ञान ही चित्त में उदित होते रहें । एकाग्रचित्त में एक ही प्रकार के ज्ञान का अस्त होना तथा उदित होना एकाग्रता-परिणाम है[2] ।

भाष्यकार के उक्त विवेचन से 'निरोधपरिणाम' असम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तर्गत आता है और 'समाधिपरिणाम' अंगभूतसमाधि में तथा 'एकाग्रतापरिणाम' सम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तर्गत आता है ।

तत्त्ववैशारदी

व्युत्थानसंस्कारों का अभिभव तथा निरोध-संस्कारों का आविर्भाव चित्त का निरोध-परिणाम है । निरोधपरिणाम असम्प्रज्ञातसमाधि में होता है । व्युत्थानसंस्कारों का अभिभव तथा निरोध-संस्कारों का आविर्भाव क्रमशः होता है । अतः निरोध-परिणाम में चित्त इन दोनों धर्मों से अन्वित रहता है[3] । चित्त में निरोधकालिक

- -

1 - "सर्वार्थतायाः क्षयस्तिरोभाव इत्यर्थः । एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः । तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तम् । तदिदं चित्तमपायोपजनयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधिपरिणामः ।" — व्यासभाष्य पृ० 289 ।

2 - "समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्त उत्तरस्तत्सदृश उदितः । समाधिचित्तमुभयोरनुगतं पुनस्तथैव समाधिभ्रेषादिति । स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ।" — वही पृ० 290 ।

3 - "तयोर्व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ । तत्र व्युत्थानसंस्कारस्याभिभवो निरोधसंस्कारस्याविर्भावश्च धर्मिणो निरोधक्षणस्य निरोधावसरस्य द्वयोरवस्थयोरन्वयः ।" — त०वै०पृ० 287 ।

परिणामों से निरोधसंस्कार बनते हैं । जिनकी आवश्यकता व्युत्थानसंस्कारों के निरोध के लिए होती है । क्योंकि जिस प्रकार क्लेशों को दूर करने के लिए क्लेशों के मूलकारण अविद्या को नष्ट किया जाता है उसी प्रकार व्युत्थानसंस्कारों का निरोध , निरोधसंस्कारों से ही होता है । वृत्तियों के निरोध से व्युत्थानसंस्कार नहीं निरुद्ध होते हैं । इसी लिए परवैराग्यरूप निरोधसंस्कार से सम्प्रज्ञात एवं व्युत्थानसंस्कारों का निरोध करने पर निरोधरूप असम्प्रज्ञातयोग की प्राप्ति योगी को होती है[1] । इस अवस्था में योगी के चित्त में केवल निरोध-संस्कार रहते हैं । व्युत्थान-संस्कार दबे रहते हैं ।

समाधिपरिणाम --- समाधिपरिणाम सम्प्रज्ञातकाल में अथवा योग के प्रारम्भिककाल में होता है[2] सर्वार्थता का क्षय होने पर तथा एकाग्रता का उदय होने पर समाधिपरिणाम होता है ।'सर्वार्थता ' का अर्थ'विक्षिप्तता ' किया गया है अर्थात चित्त का विक्षिप्त होकर विषयों में भटकना ही 'सर्वार्थता' है । चित्त की इस विक्षिप्तता का तिरोभाव होना अर्थात् सर्वार्थता का अत्यन्ताभाव न होना अपितु क्रमशः तिरोहित होना तथा एकाग्रता का उदय होने पर चित्त का आत्मभूत होकर समाधि में लीन हो जाना ही 'समाधिपरिणाम' है । इस अवस्था में चित्त की पूर्वकालिक तथा पश्चात्कालिक घटनाओं का नाश हो जाता है और आत्मभूत चित्त समाधि में स्थित हो जाता है ।[3]

एकाग्रतापरिणाम --- परिनिष्ठित सम्प्रज्ञातसमाधि में एकाग्रतापरिणाम होता है । समाहितचित्त में शुद्धज्ञान का उदित होकर शान्त होना तथा पुनः तत् सदृश प्रत्यय का ही उदित होना चित्त का 'एकाग्रतापरिणाम' है ।[4] एकाग्रचित्त में ही समाधि होती है । इस अवस्था में चित्त की एकाग्रता समाधिपरिणाम की अपेक्षा उत्कृष्ट की होती है । इस समय हुई सम्प्रज्ञातसमाधि को ही परिनिष्ठित-सम्प्रज्ञातसमाधि कहा गया है ।

- -

1 - " निरुध्यन्ते येनेति निरोधा ज्ञानप्रसादः परं वैराग्यम् ।"-- त0वै0पृ0 287 ।

2 - " सम्प्रज्ञातसमाधिपरिणामावस्थां चित्तस्य दर्शयति ।" -- वही पृ0 289 ।

3 - " आत्मभूतयोः सर्वार्थतैकाग्रतयोर्धर्मयोर्यथाक्रमं क्षयोदयौ सर्वार्थतायाः क्षयः एकाग्रताया उपजनस्तयोरनुगतं चित्तं समाधीयते पूर्वापरीभूतमाध्यमान समाधिविशेषं भवतीति ।"
--- वही पृ0 229 ।

4 - " समाधेः पूर्वापरीभूताया अवस्थायाः निष्कृतौ सत्यौ शान्तोदितावतीतवर्तमानौ तुल्यौ च तौ प्रत्ययौ चेति तुल्यप्रत्ययौ । एकाग्रतायां तु द्वयोः साम्यम् ।"
-- वही पृ0 290 ।

राजमार्तण्डवृत्ति

चित्त का स्वरूप त्रिगुणात्मक है । गुणों की विशेषता उनकी चंचलता है अतः चित्त सर्वथा चंचल गुणयुक्त है । परन्तु जब चित्त की क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ नामक व्युत्थानभूमियों का निरोध हो जाता है तब चित्त में केवल सात्त्विकवृत्ति अवशिष्ट रह जाती है । 'निरोध की प्रक्रिया चित्त की सात्त्विक वृत्ति का ही परिणाम है ।[1] निरोध-काल में चित्त व्युत्थान और निरोध इन उभयवृत्तियों से अन्वित रहता है ।[2] अर्थात् चित्त की व्युत्थानवृत्तियाँ चित्त से एकदम सभी समाप्त नहीं हो जातीं । जिस क्रम से उनका क्षय होता है उसी क्रम से दूसरी वृत्ति उदित होती है इस प्रकार चित्त में निरोधवृत्ति के उदय काल के समय व्युत्थानवृत्ति से भी चित्त अन्वित रहता है ।

निरोधपरिणाम —— क्षिप्त विक्षिप्त और मूढ़ चित्त की व्युत्थान भूमियाँ हैं । इन व्युत्थान भूमियों में चित्त में जो वृत्तियाँ बनती हैं उन्हें व्युत्थानवृत्तियाँ कहते हैं । व्युत्थानवृत्तियों से बने संस्कार व्युत्थान-संस्कार कहलाते हैं । व्युत्थान-संस्कारों का निरोध, निरोधसंस्कारों से ही होता है । निरोध-संस्कार निरोधवृत्तियों से बनते हैं । इस प्रकार व्युत्थान संस्कारों का तिरोहित होना तथा निरोध संस्कारों का प्रादुर्भूत होना ही निरोध परिणाम है । इस समय चित्त में केवल सात्त्विक वृत्तियों का प्रवाह होता रहता है । अतः यद्यपि सात्त्विकवृत्तियों का प्रवाह चित्त में होता रहता है फिर भी चित्त के इस अवस्था को 'स्थिरचित्त' कहा गया है । सम्भवतः इसका हेतु यह हो सकता है कि इस समय चित्त में अन्य कोई परिणाम नहीं होते । केवल सात्त्विकवृत्ति में ही चित्त का स्थित होना उसकी स्थिरता का द्योतक है ।

समाधिपरिणाम :— चित्त का अनेक प्रकार के अर्थ को ग्रहण करना सर्वार्थता है । सर्वार्थता को चित्त का विक्षेप कहा गया है क्योंकि सर्वार्थता के कारण चित्त विषय

- -

1 - " निरोधः प्रकृष्टसत्त्वसंगितया चेतसः परिणामः ।" — रा० मा० वृ० पृ० 288 ।

2 - " तदा निरोधक्षणे चित्तस्योभयवृत्तित्वादन्वयो यः स निरोध परिणाम उच्यते।" — वही पृ० 289 ।

3 - " व्युत्थानगुणवृत्त्या यद्यपि चेतसो निश्चलत्वं नास्ति तथाऽपि एवंभूतः परिणामः स्थैर्यमुच्यते ।" — वही पृ० 289 ।

गुण में ही भटकता रहता है । एकाग्र नहीं हो पाता । जब चित्त से 'सर्वार्थता का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है तब चित्त में एकाग्रता का उदय होता है और एकाग्रचित्त किसी एक ध्येयालम्बन में स्थित होकर समाहित हो जाता है । इस प्रकार सात्त्विक चित्त का एकाग्रचित्त में होना ही समाधिपरिणाम है । निरोधपरिणाम की तुलना में समाधिपरिणाम[1] में विशिष्टता यह है कि निरोधपरिणाम में व्युत्थान संस्कारों का अत्यन्ताभाव नहीं होता है प्रत्युत उनका न्यग्भाव होता है ।[2] अर्थात् उनका प्रभाव कम हो जाता है इसके विपरीत समाधि परिणाम में सर्वार्थता का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है और एकाग्रतारूप धर्म की उत्पत्ति होती है । समाधिपरिणाम का लक्षण देखते हुए इसे सम्प्रज्ञात-समाधि के अन्तर्गत मानना चाहिए ।

<u>एकाग्रतापरिणाम</u> :- समाहितचित्त की एकाग्रता तीनों कालों में बनी रहती है । जिस तरह की वृत्ति अतीतकाल में बनती है तत्सदृश ही वृत्ति वर्तमान तथा भविष्यत् काल में बनती है । कहने का तात्पर्य यह है कि चित्त अपने ध्येय रूपी आलम्बन में इतना एकाग्रनिष्ठ होता है कि उसकी वृत्तियाँ तीनों कालों में समान रूप की होती हैं । इस प्रकार तीनों कालों में समान वृत्तियों का ही उदित होना चित्त का एकाग्रतापरिणाम है ।[3] जब चित्त एकाग्र रहेगा तभी एक तरह की वृत्तियाँ उदित होंगी और शान्त होंगी । यह एकाग्रता समाहित-चित्त वाले योगी के चित्त में ही हो सकती है । अन्य चंचलवृत्तियों वाले चित्त में नहीं ।

राजमार्तण्डवृत्ति के आधार पर ये तीनों परिणाम एकाग्र शुद्धसात्त्विक चित्त में ही होते हैं । सात्त्विक और एकाग्र चित्त सम्प्रज्ञातसमाधि की विशेषता है । अतः सम्प्रज्ञातसमाधि में इन तीनों परिणामों की स्थिति माननी चाहिए ।

- -

1 - '' सर्वार्थता लक्षणस्यधर्मस्य क्षयोऽत्यन्ताभिभव एकाग्रतालक्षणस्य धर्मस्य प्रादुर्भावो ऽभिव्यक्तिश्चित्तस्योद्भूतत्वेनान्वयितयाऽवस्थानं समाधिपरिणाम इत्युच्यते ।''

— रा0म0वृ0 पृ0 292 ।

2 - '' उभय संस्कारलक्षणयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ पूर्वस्य व्युत्थान संस्कार रूपस्य न्यग्भावः ।''

— वही पृ0 291 ।

3 - '' समाहितस्यैव चित्तस्यैकप्रत्ययो वृत्तिविशेषः शान्तोऽतीतमध्वानं प्रविष्टः ।''

— वही पृ0 294 ।

विवरण

चित्त त्रिगुणात्मक है । गुणों के परिणाम से चित्त भी परिणमनशील है अतः जब चित्त में निरोध रूप परिणाम होता है तब चित्त उस परिणाम से ही अनुगत होता है ।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चित्त पुरुष की तरह कूटस्थ नित्य नहीं है ।[2] यह सर्वदा परिणमनशील है । जिस प्रकार की वृत्तियों का प्रवाह होता है उसी प्रकार के आकार से चित्त आकारित होता है । व्युत्थान-काल में जिन वृत्तियों से चित्त आकारित होता है उन्हें व्युत्थानवृत्तियाँ कहा गया है । व्युत्थानवृत्तियों से ही चित्त में व्युत्थानसंस्कार बनते हैं । ये व्युत्थान-संस्कार चित्त के धर्म हैं । ये ज्ञानात्मक नहीं होते ।

[3] 'निरोध-संस्कार' भी चित्त के धर्म होते हैं । प्रत्ययों का निरोध करने से बने संस्कार निरोध-संस्कार कहलाते हैं । ये व्युत्थान-संस्कारों का निरोध करते हैं । जब चित्त में वे व्युत्थान-संस्कारों की कार्यक्षमता शान्त हो जाती है अर्थात् व्युत्थान-संस्कार शान्त होने लगते हैं तब इनका अभिभव होता है और निरोध-संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है ।[4] इस प्रकार शक्तिशाली निरोध-संस्कारों के बल से व्युत्थान-संस्कारों से हीन चित्त में जो परिणाम होता है उसे निरोधपरिणाम कहा गया है ।[5] निरोध-परिणाम 'प्रत्ययात्मक नहीं है अतः यह असम्प्रज्ञातसमाधि का ही परिणाम हो सकता है । निरोध-परिणाम की अवस्था में चित्त की सभी बाह्यवृत्तियाँ निरुद्ध हो चुकी होती हैं । चित्त में केवल संस्कार शेष रह जाते हैं ।

- -

1 - " निरोधस्य (विवरण) अथे हि निरोधधर्मसम्बोध्यमानं चित्तं निरुध्यते । चलं गुणवृत्तं यतो चित्तं गुणवृत्तं चलम् इति अवश्यंभावी तथा बाह्यवृत्तिभ्यो निरुध्यमानं चित्तस्य परिणामः ।" — विवरण पृ० 239 ।

2 - " न ह्यपरिणममानस्य चित्तस्य पुरुषवत् कौटस्थ्ये निरोध उपकल्प्यते ।" — वही पृ० 239 ।

3 - " तथा निरोधजन्मा संस्कारः अप्रत्ययात्मकः चित्तस्यैव धर्मः ।" — वही पृ० 239 ।

4 - " प्रत्ययनिरोधाच्च निरोधजः संस्कारः संजायते । तयोः व्युत्थान-निरोध-संस्कारयोः धर्मिणि चित्ते वर्तमानयोः अभिभव प्रादुर्भावौ भवतः ।" — वही पृ० 239 ।

5 - " व्युत्थानसंस्काराणामपि हीयमानतया सत्यपि संबन्धे प्रादुर्भवता निरोधेनैव बलवत्त्वात् निरोधपरिणाम इति समाख्यातम् ।" — वही पृ० 239 ।

<u>समाधिपरिणाम</u> — सर्वार्थता चित्त का धर्म है। सर्वार्थता का अर्थ है चित्त में 'भोग' और 'अपवर्ग' की योग्यता का होना।[1] क्योंकि अविद्यमान का विनाश नहीं हो सकता और न ही अविद्यमान का आविर्भाव हो सकता है।[2] चित्त में सर्वार्थता भी रहती है और सर्वार्थता से मुक्ति पाने की भी योग्यता रहती है। इसलिए 'सर्वार्थता' और 'एकाग्रता' दोनों को चित्त का धर्म कहा गया है।[3] द्रष्टा का दृश्य से उपरक्त होकर शब्दादि के आकार को ग्रहण करना ही सर्वार्थता है।[4] और निरुद्ध चित्त में एक ही प्रकार के प्रत्यय का शान्त होना तथा उदित होना 'एकाग्रता' है। इस प्रकार समाधि के योग्य चित्त की 'सर्वार्थता' के क्षय हो जाने पर या तिरोहित हो जाने पर, और 'एकाग्रता' के उदित हो जाने पर, चित्त का इन 'क्षय' और 'उदय' रूप परिणामों से अनुगत होना समाधिपरिणाम है। यह सम्प्रज्ञातसमाधि की अवस्था में होता है।[5]

<u>एकाग्रतापरिणाम</u> :— समाधिकाल में ही एकाग्रता परिणाम भी होता है। समाहितचित्त की जब सभी बाह्यवृत्तियों का निरोध हो जाता है तथा समाधिस्थ चित्त में एक ही प्रकार के प्रत्यय शान्त होते हैं और पुनः वैसे ही उदित होते हैं तब चित्त में जो परिणाम होता है उसे 'एकाग्रतापरिणाम' कहा गया है।[6] उक्त परिणाम त्रय के द्वारा साधक को अतीत अनागत का ज्ञान होता है।

- -

1 — "सर्वार्थता भोगापवर्गार्थ योग्यताविचित्रता चित्तधर्मः।"
— विवरण पृ0 241।

2 — "न हि किंचिद्विद्यमानं विनश्यति, नाविद्यमानमुत्पद्यते।"
— वही पृ0 241।

3 — "तयोः क्षयोदययोः धर्मित्वेनानुगतं चित्तम्।"
— वही पृ0 241।

4 — "द्रष्टा पुरुषो दृश्यं शब्दादि तद्भावाद् उपरक्तं चित्तं सर्वार्थं पुरुषस्य भोगापवर्गार्थं भवति।"
— वही पृ0 356।

5 — "योऽसौ चित्तेन सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदययोरनुगमः स समाधिपरिणामः।"
— वही पृ0 241।

6 — "समाहितचित्तस्य निरुद्धबाह्यवृत्तेः पूर्वः प्रत्ययः शान्तः तिरोभूतः। उत्तरस्तत्सदृश उदितः प्रादुर्भूतः। समाधिचित्तं समाधानविशिष्टं समाध्यवस्थम्। समाधिचित्तमुभयोः शान्तोदितयोः प्रत्यययोः अनुगतम्।"
— वही पृ0 241।

योगवार्त्तिक

असम्प्रज्ञात और सम्प्रज्ञात दोनों समाधियों में निरोधपरिणाम होता है।[1] सम्प्रज्ञात में भी चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। अतः इस समाधि में निरोधपरिणाम होता है और असम्प्रज्ञात में तो सम्प्रज्ञात का भी निरोध हो जाता है तथा केवल निरोध-संस्कार शेष रह जाते हैं। अतः इसमें भी निरोधपरिणाम होते हैं। चित्त की स्थिरता के लिए निरोधपरिणाम का महत्वपूर्ण स्थान है। सम्प्रज्ञातकाल में भी निरोधपरिणाम होता है, इसके पक्ष में तर्क देते हैं कि यदि सम्प्रज्ञातयोग को भी निरोधपरिणाम के अन्तर्गत नहीं स्वीकार करते हैं तो इसे योग की कोटि में नहीं रखा जा सकता क्योंकि योग का लक्षण तो है — 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः योगः' और चित्तवृत्तियों का निरोध सम्प्रज्ञातसमाधि में भी होता है अतः सम्प्रज्ञातसमाधि में भी निरोध की व्यापकता सिद्ध होती है।[2] व्युत्थानसंस्कारों का अभिभव और निरोध-संस्कारों का प्रादुर्भाव क्रमशः होता है। व्युत्थानसंस्कारों का क्रम से ह्रास होता है नाश नहीं। इसी प्रकार निरोधसंस्कारों की क्रमशः वृद्धि होती है, चित्त की इस अवस्था को ही निरोधपरिणाम कहा गया है।[3]

समाधिपरिणाम — योगांगभूतसमाधि की प्रारम्भिक अवस्था में समाधिपरिणाम होता है।[4] चित्त की विक्षिप्तता क्रमशः कम होती है और क्रमशः ही चित्त एकाग्र भी होता है।[5] इस प्रकार क्रम से चित्त का विक्षिप्तता से एकाग्रता की ओर प्रवृत्त प्राप्त होने पर चित्त समाहित होता है। समाहितचित्त की इस अवस्था को ही समाधिपरिणाम कहा गया है।

एकाग्रतापरिणाम :- परिनिष्पन्न योगांगसमाधि में एकाग्रतापरिणाम होता है।[6] सर्वार्थता का पूर्ण क्षय हो जाने पर एक ही प्रकार के ज्ञान का उदित होना तथा शान्त होना तथा पुनः वैसे ही ज्ञान का उदित होना एकाग्रतापरिणाम है। सदृश का अर्थ यहाँ 'सजातीय' किया गया है[7]।

- -

1 - " तथा च व्युत्थानं निरोधश्च योगद्वयसाधारण एवेति भावः, केवलव्युत्थानभङ्गासम्प्रज्ञात-व्यनिरोधमात्र इत्यत्रे सम्प्रज्ञातव्यनिरोधस्य परिणामकथनान्न्यूनता इति। " — यो0वा0पृ0 287।

2 - " तेन सम्प्रज्ञातस्यापि निरोधस्य संस्कारजनकत्वेऽपि तत्कालीनप्रज्ञाजन्यसंस्कारस्येव निरोधसंस्कारत्वमुपपन्नमिति।" — वही पृ0 288।

3 - " व्युत्थानसंस्काराभिभवश्च क्रमेण ह्रासो न तु नाशः, निरोधसंस्कारप्रादुर्भावश्च क्रमेण वृद्धिः, तौ निरोधपरिणामो निरोधक्षणपरिणामः ।" — वही पृ0 287।

4 - " योगांगसमाधिका ये परिणामं आयाति ।" — वही पृ0 289।

5 - " सर्वार्थताया अत्यन्तोच्छेदः एकाग्रं न भवति, नापि एकाग्रताया निष्पत्तिरेकदा भवति, किं तु क्रमेणैवातः क्रमोपचयौ ।" — वही पृ0 289।

6 - " सर्वार्थताप्रत्ययोर्भयोरपायकाल उदयमकाले चानुगतं यत्समाधियत्से स समाधिपरिणाम उच्यते।" — वही पृ0 289।

7 - " इदानीमङ्गसमाध्याख्य परिणामान्तरमुक्त्वा परिणामान्तरमाह।" — वही पृ0 290।

इस व्याख्या में भी 'व्युत्थान' और 'निरोध' का ग्रहण 'सम्प्रज्ञात' और 'असम्प्रज्ञात' योग के अर्थ में किया गया है।[1] 'अभिभव' और 'प्रादुर्भाव' का क्रमशः 'ह्रास' और 'वृद्धि' अर्थ किया गया है। इस प्रकार 'सम्प्रज्ञातरूप' व्युत्थान-संस्कार का ह्रास और असम्प्रज्ञातयोग रूप निरोध-संस्कारों की वृद्धि जिस समाधि में होती है उसे 'निरोधपरिणाम' कहा गया है।[2] एकाग्र तथा स्थिर चित्त में जब इस तरह का परिणाम प्रतिक्षण अर्थात् निरन्तर होता रहता है तभी निरोध-परिणाम होता है।[3] केवल एक बार यदि एक व्युत्थानवृत्ति का ह्रास और निरोध-संस्कार का उदय होता है तो उसे निरोध-परिणाम नहीं कहा जा सकता। जब प्रतिक्षण यह क्रिया स्थिर चित्त में होती रहती है तभी निरोध-परिणाम होता है। सम्भवतः इसीलिए इस व्याख्या में क्षय के लिए ह्रास तथा प्रादुर्भाव के लिए वृद्धि शब्द का प्रयोग हुआ है। लगातार क्षीयमाण को ही ह्रास कहा जा सकता है और लगातार बढ़ते रहने को वृद्धि कहते हैं।

<u>समाधिपरिणाम</u> :-- योग-समाधि की अवस्था में ही समाधि-परिणाम होता है।[4] सभी विषयों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना ही विक्षिप्तता है। विक्षिप्तावस्था में साधक सांसारिक उपकरणों के प्रति आकृष्ट हो उन्हीं में सुख की कल्पना करके उनको प्राप्त करने के लिए सचेष्ट रहता है। परन्तु जब किसी तरह साधक को यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि विक्षिप्तता का परिणाम दुःख है तो वह उससे विमुख

- -

1 - "व्युत्थानं निरोधश्च योगद्वयसाधारणमेवात्र ग्राह्यम्।" — यो०दी०पृ० 62।

2 - "तथा च व्युत्थानसंस्कारस्य ह्रासो वृत्ति निरोध संस्कारस्य वृद्धिः निरोध-कालीनः परिणामः।" — वही पृ० 62।

3 - "स च निरोधक्षणैकचित्तान्वय स्थिरे चित्ते [illegible] प्रतिपादनाय विशेषणम्। निरोधस्य प्रतिक्षणमिताप्रायपरिणामसाधाय निरोधक्षणेत्युक्तम्।" — वही पृ० 62।

4 - "अंगसमाधेरवस्थायां विशेषमाह।" — वही पृ० 63।

हो समाधि के लिए यत्न करने लगता है । जब सर्वार्थता अर्थात् विक्षिप्तता का प्रतिक्षण तिरोभाव होने लगता है और एकाग्रता का आविर्भाव होने लगता है तब उस समय चित्त की जो स्थिति होती है उसे "समाधिपरिणाम" कहा गया है ।[1]

एकाग्रतापरिणाम -- अंग-समाधि का ही उत्तरकालीन परिणाम एकाग्रता-परिणाम है[2]। जब सर्वार्थता का पूर्ण रूप से क्षय हो जाता है और चित्त में सजातीय-ज्ञान ही शान्त होते हैं तथा उदित होते रहते हैं तब जो परिणाम चित्त में होता है उसे "एकाग्रतापरिणाम" कहा गया है ।[3]

पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति

निरोधपरिणाम असम्प्रज्ञातयोग का कार्य रूप है । असम्प्रज्ञातसमाधि की तुलना में सम्प्रज्ञातसमाधि व्युत्थानरूप है, असम्प्रज्ञातसमाधि में सम्प्रज्ञातसमाधि का भी निरोध हो जाता है और चित्त में केवल निरोध-संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं । जब सभी क्षणों में केवल निरोध-संस्कार ही चित्त में रहें तब निरोध-परिणाम होता है अर्थात् असम्प्रज्ञात को भी चित्त के परिणाम का ही "निरोधपरिणाम" कहा गया है ।[4]

समाधिपरिणाम -- अंगभूतसमाधि की अवस्था में चित्त में समाधिपरिणाम होता है । सर्वार्थता का अर्थ इस व्याख्या में भी विक्षिप्तता किया गया है । विक्षिप्तता का प्रतिक्षण निरोध और एकाग्रता का आविर्भाव होने पर चित्त में जो परिणाम होता है उसे समाधिपरिणाम कहते हैं ।[5]

एकाग्रतापरिणाम -- अंगभूत-समाधि की ही परिनिष्ठित दशा एकाग्रता-परिणाम है । इस समाधि में सर्वार्थता का अशेष क्षय हो जाता है और चित्त में जब सजातीय प्रत्यय ही उदित तथा शान्त होते रहते हैं तब एकाग्रतापरिणाम होता है ।[6]

- -

1 - " सर्वार्थता विक्षिप्तता तस्याः प्रतिक्षणं क्षयस्तिरोभावो भवति । एकाग्रताया आविर्भावो भवति । अयं समाधिकालीनश्चित्तपरिणाम इत्यर्थः ।"

-- योगदीपिका पृ0 63 ।

2 - " अंगसमाधेरेवोत्तरपरिणाममनन्तरकालीनं परिणाममन्तरमाह ।" -- वही पृ0 63

3 - " ततः सर्वार्थतायां निःशेषतः क्षये सति शान्तोदितौ विनष्टोत्पन्नौ तुल्य प्रत्ययावेकाकार प्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रताकालीनः परिणामो भवति ।" -- वही पृ0 63 ।

4 - " सम्प्रज्ञातोऽप्यत्र व्युत्थानम् । तत्र व्युत्थानकालिकसंस्काररूपेण तत्र चित्तस्य परिणामः । सर्वक्षणेषु च निरोधलक्षणो तत्संस्कारस्यैव चित्तस्य तत्राप्यय इत्यर्थः ।"

-- पा0यो0सू0वृ0पृ0 62

5 - " सर्वार्थता विक्षिप्तता तस्याः प्रतिक्षणं क्षयः तिरोभावः एकाग्रताया आविर्भावो भवति । अयं समाधिकालीनश्चित्तपरिणाम इत्यर्थः ।" -- वही पृ0 63 ।

6 - " ततः सर्वार्थतायां निःशेषतः क्षये सति शान्तोदितौ विनष्टोत्पन्नौ तुल्य

मणिप्रभाकार सम्प्रज्ञातसमाधि को व्युत्थान मानते हैं । इस व्युत्थान-समाधि का निरोध परवैराग्य से होता है । परवैराग्य से सम्प्रज्ञातसमाधि का निरोध होने के उपरान्त असम्प्रज्ञातसमाधि का आविर्भाव होता है ।

चूँकि सम्प्रज्ञातसमाधि व्युत्थान रूप है अतः उस समाधि में बनी हुई वृत्तियाँ तथा उनके संस्कार व्युत्थान-संस्कार हुए । परवैराग्य व्युत्थानरूप सम्प्रज्ञातसमाधि का निरोधक है अतः परवैराग्य रूप निरोधक से बने संस्कार निरोधसंस्कार हुए । इस प्रकार सम्प्रज्ञातकालिक व्युत्थानसंस्कारों का परवैराग्य रूप निरोध संस्कारों से निरोध होने पर चित्त में निरोध-परिणाम होता है । यह निरोध-परिणाम चित्त की निर्बीज-समाधि में होता है ।

<u>समाधिपरिणाम</u> — चित्त की विक्षिप्तभूमि में चित्त सभी विषयों के प्रति आसक्त होकर उन्हीं को प्राप्त करने में व्यस्त रहता है । इस प्रकार की वृत्ति ही सर्वार्थता कहलाती है । चित्त में यह वृत्ति भी रहती है अतः इसे चित्त का धर्म कहा जाता है । एकाग्रता भी चित्त का ही धर्म है । एकाग्र अवस्था में चित्त की राजस, तामस वृत्तियों का निरोध हो जाता है और चित्त में प्रकृष्ट सात्त्विक वृत्ति शेष रह जाती है जो ध्येयार्थमात्र में एकाग्र हो जाती है और परिणामतः स्थिर चित्त समाधिस्थ हो जाता है ।

चित्त के उक्त दोनों धर्मों का क्रम से क्षय और उदय ही समाधि-परिणाम है । 'क्षय' का अर्थ 'तिरोभाव' किया गया है । उदय का अर्थ 'प्रादुर्भाव' अर्थात् न तो सर्वार्थता का विनाश होता है और न ही एकाग्रता की उत्पत्ति होती है ।[2]

- -

प्रत्ययो एकाकारप्रत्ययो चित्तस्यैकाग्रता कालिकः परिणाम इत्यर्थः । सजातीय एको नश्यति अपर उत्पद्यते इत्येवरूपतेत्यर्थः पूर्वधर्मापाये धर्मान्तरोत्पत्तिरेव परिणाम इति भावः
— पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ० 63 ।

1 - "व्युत्थानं सम्प्रज्ञातः । स निरुध्यते येन तत्परवैराग्यं निरोधः । तत्र यदा परवैराग्य स्वरूपया सम्प्रज्ञातवृत्तिसंस्कारस्य अभिभवे सति परवैराग्यसंस्कार एवाभिव्यक्तः । स निर्बीज "निरोधपरिणाम" इति भावः ।" — मणिप्रभा पृ० 53 ।

2 - "चित्तस्य सर्वार्थता नानाऽर्थाकारता विक्षिप्तत्वरूपो धर्मः । एकाग्रता समाध्यो धर्मः । तयोर्यथाक्रमं 'क्षयोदयौ' तिरोभाव प्रादुर्भावौ, न सतो विनाशो नासत उत्पत्तिः ।" समाधिपरिणाम" इत्यर्थः ।" — वही पृ० 54 ।

ये दोनों चित्त के धर्म हैं । जो चित्त में हमेशा विद्यमान रहते हैं । एकाग्र अवस्था में सर्वार्थता दब जाती है, तिरोहित हो जाती है और एकाग्रता प्रकट हो जाती है । इस प्रकार सर्वार्थता का तिरोहित होना और एकाग्रता का आविर्भूत होना ही समाधि-परिणाम है । समाधिपरिणाम की स्थिति के विवेचन के आधार पर इस परिणाम को सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत ही होना चाहिए ।

<u>एकाग्रतापरिणाम</u> -- निरन्तर एक ही प्रकार की वृत्ति का उदित होना शान्त होना पुनः उदित होना चित्त की एकाग्रता का द्योतक है । अतः इस तरह का परिणाम एकाग्रतापरिणाम है । यह एकाग्रतापरिणाम सम्प्रज्ञातयोग में होता है ।[1]

<u>योगसूत्रार्थबोधिनी</u>

सम्प्रज्ञातसमाधि को असम्प्रज्ञातसमाधि की तुलना में 'व्युत्थान' माना गया है । 'परवैराग्य' द्वारा सम्प्रज्ञातसमाधि का भी निरोध हो जाने पर असम्प्रज्ञातसमाधि होती है ।[2] इस प्रकार व्युत्थान-संस्कारों का अभिभव तथा निरोध-संस्कारों का प्रादुर्भाव होने पर ही निरोध-परिणाम होता है । यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस समय चित्त में दोनों क्रियायें साथ-साथ होती रहती हैं अतः उस समय चित्त व्युत्थान-वृत्तियों के अभिभव तथा निरोध-संस्कारों के प्रादुर्भाव से अन्वित रहता है ।[3] अर्थात् दोनों क्रियायें साथ-साथ होती है । ऐसा नहीं कि एक की समाप्ति हो जाने पर दूसरे का आविर्भाव हो । जब सभी व्युत्थान संस्कारों का अभिभव हो जाता है तब चित्त में केवल निरोध-संस्कार ही स्थिर रूप में विद्यमान रह जाते हैं । चित्त की इस अवस्था को ही <u>निरोध-परिणाम</u> कहा गया है ।[4] यह असम्प्रज्ञातकालीन अथवा निर्बीजसमाधि का परिणाम है ।

- -

1 - " चित्तस्य नैरन्तर्येण वृत्तिप्रवाहमेकविषयमेकाग्रताऽऽख्यः परिणाम इत्यर्थः ।"

-- मणिप्रभा पृ0 54 ।

2 - " व्युत्थानसंस्काराः । स निरुध्यते येन तत् परं वैराग्यं निरोधः ।"

-- यो0सू0बो0 पृ0 36 ।

3 - " तत्र यथा व्युत्थानाऽभिभवो निरोधप्रादुर्भावश्च तथा तथा निरोधसंस्कारव्याप्तस्य क्रमेणावसरेण युक्तं चित्तं भवति ।" -- वही पृ0 36 ।

4 - " सर्वात्मना व्युत्थान संस्काराभिभवे सति निरोधस्थैर्यमात्र ।"

-- वही पृ0 36 ।

समाधिपरिणाम – विक्षिप्तावस्था में चित्त अनेक प्रकार के विषयों में आसक्त रहता है । चित्त की इस प्रकार की प्रवृत्ति का क्रम से क्षय अथवा तिरोहित हो जाना और चित्त में एकाग्रता का प्रादुर्भाव होना 'समाधिपरिणाम' है[1] । समाधिपरिणाम सम्प्रज्ञातसमाधि का ही परिणाम है ।

एकाग्रतापरिणाम – एकाग्र मन में एक ही प्रकार की वृत्तियों का निरन्तर उदित होना तथा शान्त होना एकाग्रतापरिणाम है । एक ही प्रकार की वृत्ति के उदय और शान्त होने से चित्त की एकाग्रता बनी रहती है । अतः इस प्रकार की स्थिति को एकाग्रतापरिणाम कहा गया है[2] ।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका

निरोधपरिणाम निर्बीजसमाधि कालीन परिणाम है । चित्त की क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त के भेद से तीन प्रकार की व्युत्थानभूमियाँ कही गयी हैं । असम्प्रज्ञात की तुलना में सम्प्रज्ञात भी व्युत्थान रूप है[3] । निर्बीज-समाधि में उन तीनों व्युत्थान-भूमियों का निरोध करने के साथ-साथ सम्प्रज्ञातकालीन अवस्था का भी निरोध किया जाता है । क्षिप्तादि तीनों भूमियों का नाश हो जाता है अर्थात् उनका समूल विनाश हो जाता है और सम्प्रज्ञातकालीन व्युत्थान-संस्कारों का निरोध 'ह्रास' रूप का होता है[4] । अर्थात् ये धीरे धीरे क्षीण होती चलती हैं । व्याख्याकार ने 'अभिभव' का 'नाश' और 'ह्रास' दोनों अर्थ किया है । इस प्रकार इन व्युत्थानवृत्तियों तथा संस्कारों का नाश और ह्रासरूप अभिभव होने के साथ परवैराग्यजनित निरोध संस्कारों का आविर्भाव होना ही निरोध-परिणाम है[5] । निरोधकाल में अभिभव और प्रादुर्भाव की क्रिया क्रम से वृत्तिरूप

- -

1 – " चित्तस्य सर्वार्थता नानार्थकारत्वं विक्षिप्तत्वरूपो धर्मः । एकाग्रतात्वरूपमन्यो-धर्मः । तयोर्यथाक्रमं क्षयोदयौतिरोभावप्रादुर्भावौ समाधिपरिणाम इत्यर्थः ।"
— यो0चं0पृ0 36 ।

2 – " तुल्यप्रत्ययो चित्तस्य नैरन्तर्येण वृत्तिद्वयमेकविषयमेकाग्रतारूप परिणाम इत्यर्थः ।।"
— वही पृ0 36 ।

3 – " क्षिप्तमूढविक्षिप्ताख्यं भूमित्रयं व्युत्थानम् । असम्प्रज्ञातापेक्षया सम्प्रज्ञातस्य निरोधः परवैराग्यं समाधावपि निरुध्यते नेनेति व्युत्थानं ।" — यो0सि0चं0पृ0110

4 – " अभिभवः क्षिप्तादित्रयस्य नाशः संप्रज्ञातस्य तु ह्रासः ।" — वही पृ0 11

5 – " एतौ द्वौ क्रमेण वर्धितौ निरोधपरिणामः ।" — वही पृ0 110 ।

प्राप्त करती है । इस प्रकार व्युत्थान-संस्कारों के त्याग तथा निरोध-संस्कारों का लाभ होने से निरोध-परिणाम रूप वर्तमान अवस्था की प्राप्ति होती है[1] । निरोध-परिणामकाल में चित्त निरोध-परिणामों से अन्वित होता है, क्योंकि यह परिणाम उस समय चित्त में ही होता है । अतः चित्त का तत्कालीन निरोध-परिणाम से अन्वित होना स्वाभाविक है । योगकाल में चित्त स्थिर तथा एकाग्र होता है । चित्त अन्य परिणामों से अयुक्त रहता है[2] ।

<u>समाधिपरिणाम</u> – 'योगांगसमाधि' का परिणाम 'समाधिपरिणाम' है । विषयों को ग्रहण करने की बलवती इच्छा ही सर्वार्थता या विक्षिप्तता है । चित्त का एक विषय में स्थित होना एकाग्रता है । इन दोनों प्रकार की वृत्तियों का क्रम से क्षय और उदय ही चित्त का समाधिपरिणाम है[3] ।

<u>एकाग्रतापरिणाम</u> — सर्वार्थता का पूर्ण रूपेण क्षय हो जाने पर एक-वस्तु विषयक सदृश प्रत्यय का ही उदित होना तथा शान्त होना चित्त का एकाग्रता परिणाम है[4] । 'एकाग्रतापरिणाम' अंगसमाधि की परिनिष्ठित अवस्था का परिणाम है ।

- -

1 - " व्युत्थानत्यागेन निरोधसंस्कारस्वधर्मस्य लाभात् । तथा धर्मस्य वर्तमानावस्था-प्राप्त्यैव ।" — योगसिद्धान्त चन्द्रिका पृ० 110 ।

2 - " निरोधक्षणीनः परिणामः । स च निरोधक्षणचित्तान्वयः । निरोध क्षणेषु कथंचित् स्थिरे चित्तेऽन्वितः इत्यर्थः ।" — वही पृ० 110 ।

3 - " सर्वार्थतालक्षणस्यानानाविधार्थग्रहणरूपा विक्षिप्तता एकाग्रता एकमात्रविषयता-तयोर्यथा क्रमं क्षयोदयौ तिरस्कारप्रकाराविर्भावप्रादुर्भावौ चित्तस्य योगांगसमाधिकालीन परिणाम इत्यर्थः ।" — वही पृ० 111 ।

4 - एको व्यावृत्तीत स्त्वद्यागामी तुल्यप्रत्ययो एकवस्तुविषयत्वेन सदृशौ प्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रताकालीनः पुनः परिणामो भवति । शान्तोऽपि एकः प्रत्ययो भवति, अन्योऽप्यनन्तोत्पन्न इत्येवं परिणामो भवतीत्यर्थः ।"
— वही पृ० 111 ।

भास्वती

चित्त की अवस्था जिसमें समस्त व्युत्थान-संस्कार नष्ट हो जाते हैं और निरोध-संस्कारों की वृद्धि होती है उस निरोधवृद्धि रूप चित्त के परिणाम को 'निरोधपरिणाम' कहते हैं।[1]

चित्त की विक्षिप्त तथा एकाग्र भूमियों में चित्त में जो संस्कार बनते हैं उन्हें व्युत्थान-संस्कार कहते हैं। इन व्युत्थान-संस्कारों का निरोध परवैराग्य एवं निरोधक प्रयत्न द्वारा होता है। व्युत्थान-संस्कारों का निरोध तथा निरोध-संस्कारों की वृद्धि ही 'निरोधपरिणाम' है। इस समय चित्त में केवल निरोध-संस्कार शेष रह जाते हैं। इस अवस्था में चित्त में कोई ज्ञानात्मकवृत्ति नहीं बनती। फलतः ज्ञान संस्कारों का भी अभाव हो जाता है। इस प्रकार निरोधपरिणाम असम्प्रज्ञातसमाधि की ही अवस्था विशेष है।

समाधिपरिणाम — इन्द्रियों का एक साथ ही विषयों की तरफ संचरण शील होना सर्वार्थता है। सर्वार्थता का क्षय तथा एकाग्रता का उदित होना ही समाधि—परिणाम है। समाधि-परिणाम सम्प्रज्ञातसमाधि में होता है।[2] 'सर्वार्थता' शब्द का अर्थ भास्वतीकार ने युगपद् अर्थात् एक साथ ही सभी इन्द्रियों का विविध विषयों को ग्रहण करने के लिए क्रियाशील होना किया है।

एकाग्रतापरिणाम — एकाग्रतापरिणाम समाधिकाल में होता है। इस समय चित्त के विसदृश प्रत्यय उत्पादक धर्म का क्षय हो जाता है और सदृश प्रत्ययोत्पादक धर्म का उदय होता है।[3] इस समाधि में सर्वार्थतारूप प्रत्ययों के संस्कारों का क्षय होता है तथा एकाग्रतारूप प्रत्यय वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

- -

1 - " निरोधप्रत्ययाभावात् संस्कार-धर्मपरिणामेवाय परिणाम एकस्य धर्मिणश्चित्तस्येति विषः।"
— भास्वती पृ० 291

2 - " प्रत्यय धर्माणां संस्कार धर्माणामन्यथाभावः, सर्वार्थताक्षीण समाधित्वस्वभावेन समाधिप्रज्ञया च चित्तस्यापि संस्कारः सम्प्रज्ञातः समाधिपरिणाम इति विषः।"
— वही पृ० 292

3 - " विसदृशप्रत्ययोत्पादकधर्मस्य क्षयः सदृशप्रत्ययोत्पादकधर्मस्योपजन प्रत्यय चित्तस्यान्यथाभावः, ' - - - - - समाधौ - विसदृशप्रत्ययानां सदृशीकरणं तादृश एकाग्रतापरिणामस्यः समाधिर्भवति।"
— वही पृ० 293

स्वामिनारायणभाष्य

श्रीकृष्णवल्लभाचार्य के अनुसार चित्त की क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त तथा एकाग्र-भूमियाँ व्युत्थानरूप हैं। एकाग्र-भूमि को भी व्युत्थान इस लिए मानते हैं क्योंकि एकाग्र भूमि में होने वाली सम्प्रज्ञातसमाधि असम्प्रज्ञात की तुलना में व्युत्थानरूप है।[1] अतः सम्प्रज्ञात काल में चित्त में बने संस्कार व्युत्थान-संस्कार हुए। इन व्युत्थान-संस्कारों का क्रम से अभिभव तथा असम्प्रज्ञातकालीन निरोध-संस्कारों का प्रादुर्भाव ही 'निरोधपरिणाम' है। 'अभिभव' का प्रयोग इन्होंने लघुभावता के अर्थ में किया है। अर्थात् जब व्युत्थान-संस्कारों का प्रभाव हल्का होने लगे तब व्युत्थान-संस्कारों की इस लघुभावता को उनका अभिभव प्राप्त होना कहते हैं। 'प्रादुर्भाव' का अर्थ वर्तमान काल में अभिव्यक्त होना किया है।[2] अतः दोनों का सम्मिलित अर्थ हुआ, व्युत्थानसंस्कारों के लघु होने पर, हल्के पड़ जाने पर निरोधसंस्कारों का अभिव्यक्त होना ही चित्त का 'निरोध' परिणाम है। निरोध परिणाम की अवस्था में चित्त में केवल निरोधसंस्कार शेष रह जाते हैं। निरोधपरिणाम के लक्षण के आधार पर यह परिणाम असम्प्रज्ञातसमाधि में होता है। निरोधावस्था में चित्त स्थिर रहता है।[3]

समाधिपरिणाम

क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त भूमियों में ही चित्त विषयों के प्रति आसक्ति रखता हुआ चंचल रहता है। क्योंकि तीनों भूमियों में चित्त की चंचलता ही सर्वाधिक है। जब क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्तभूमियों का क्षय हो जाता है और चित्त एकाग्र भूमि में स्थित हो सम्प्रज्ञातसमाधिनिष्ठ हो जाता है तब चित्त की इस अवस्था के परिणाम को समाधिपरिणाम कहते हैं। समाधिपरिणाम और सम्प्रज्ञातसमाधि दोनों ही चित्त की

---

1 - "व्युत्थानं - क्षिप्तमूढविक्षिप्तमिति चित्तभूमिकात्रयम्, तथा सम्प्रज्ञातयोगरूपैकाग्र-भूमिकाऽपि व्युत्थानं, तस्या असम्प्रज्ञातयोगापेक्षया व्युत्थानत्वादिति। निरोधो नाम पंचमी चित्त-भूमिका।" — स्वामिनारायण-भाष्य - पृ० 270

2 - "अभिभवो नाम लघुभावता, प्रादुर्भावो नाम वर्तमानाध्वन्यभिव्यक्तिरूप तथाऽऽविर्भावः।" — वही पृ० 270

3 - "यावत्कालं निरोधावस्था तावच्चित्तस्थैर्यं नियमतो भवति चेति।" — वही पृ० 270

एकाग्रभूमियों में घटित होते हैं अतः समाधिपरिणाम को सम्प्रज्ञातसमाधि भी कहा जा सकता है।[1]

एकाग्रतापरिणाम :- समाहितचित्त में सदृशवृत्तिविशेष का उदित होना तथा शान्त होना चित्त का एकाग्रतापरिणाम है ; अर्थात् एकाग्र चित्त में केवल सात्त्विकवृत्ति का प्रवाह बना रहता है। उस समय जब सजातीय प्रत्यय-विशेष ही शान्त होकर पुनः उदित होते रहें तब जो परिणाम होता है उसे 'एकाग्रता-परिणाम' कहते हैं।[2] चित्त की एकाग्रता वृत्ति विशेष के उदित होने तथा तिरोहित होते समय समान भाव से बनी रहती है। उसकी एकाग्रता में कोई बाधा नहीं पड़ती क्योंकि वृत्तियाँ भी एक ही समान होती हैं।

---

1 - "एकाग्रतायाश्चतुर्थभूमिकायां उदयो भवति तदा चित्तस्य समाधि-परिणामो भवति, चित्तं ससमाधिकं जायते, सोऽयमेकाग्रतावस्थात्मकस्ततः सम्प्रज्ञात-समाधि परिणाम इत्युच्यते।"

— स्वामिनारायण-भाष्य पृ0 270।

2 - उपरंजकवृत्तिविशेषो स्वरूपेण चित्तमेकाग्रं वर्तते यत् तच्चित्तस्यैकाग्रतापरिणाम इत्युच्यते।"

— वही पृ0 270।

कैवल्यपाद

निर्माणकाय और निर्माणचित्त का विवेचन

व्यासभाष्य

निर्माण का साधारण अर्थ प्राकृतिक रूप बनाना है । परन्तु निर्माणकाय और निर्माण-चित्त दोनों के प्रसंग में 'निर्माण' को पूर्णतया इसी अर्थ में नहीं लिया गया है। यहाँ निर्माण का अर्थ है - चमत्कार के द्वारा भौतिक शरीर से भिन्न शरीर या शरीरों का निर्माण करना । जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से सिद्धि प्राप्त करने वाले सिद्ध अपने पूर्व शरीर को त्याग कर सिद्धजन्म इच्छित, नूतन शरीर को धारण कर सकते हैं । इन सिद्धियों के फलस्वरूप निर्मित इन्हीं शरीरों और चित्तों के लिए क्रमशः "निर्माणकाय" और "निर्माणचित्त" नामक संज्ञायें हैं ।

सिद्धलोग अपनी सिद्धियों के द्वारा पूर्व शरीर को त्याग कर नूतन इच्छित शरीर का निर्माण कर लेते हैं । शरीरेन्द्रिय का निर्माण प्रकृत्यापूर से होता है । "प्रकृत्यापूर" का तात्पर्य है प्रकृति के तत्वों का अनुप्रवेश । शरीरेन्द्रिय का निर्माण प्रकृति के ही तत्वों से हुआ है अतः नए शरीर के निर्माण में भी प्रकृति के तत्वों का अनुप्रवेश होता है तभी नए शरीरेन्द्रिय का निर्माण होता है । पंच महाभूतों से स्थूल शरीर का निर्माण होता है और अस्मितातत्व से इन्द्रियों का निर्माण होता है इस प्रकार प्रकृति के विभिन्न विकारों से शरीरेन्द्रियों का निर्माण होता है ।

सिद्धयोगी के शरीरेन्द्रियों के निर्माण के समय योगजसंस्कार निमित्तकारण बनते हैं । योगी के अधर्मसंस्कारों से प्रकृति में जो प्रतिबन्ध लगा रहता है, उन प्रतिबन्धों को धर्म संस्कार ही दूर करते हैं । योगजसंस्कार निर्माण काय में प्रकृति के प्रयोजक या प्रेरककारण नहीं बनते प्रत्युत निमित्त कारण ही बनते हैं । क्योंकि,

- -

1 - पूर्वपरिणामापाय उत्तरपरिणामोपजनस्तेषामपूर्वावयवानुप्रवेशाद्भवति । कायेन्द्रिय प्रकृतयश्च स्वं स्वं विकारमनुगृह्णन्त्यापूरेण धर्मादिनिमित्तमपेक्षमाणा इति ।"

— व्यासभाष्य पृ0 397 ।

योगजसंस्कार चित्त के कार्य हैं अतः योगजसंस्कार प्रकृत्यापूर में प्रयोजक न बनकर निमित्तकारण बनते हैं । अभिमतारूप प्रकृति, चित्त का कारण है । अतः योगजसंस्कार प्रकृति के प्रेरक न हो कर निर्माणकाय और निर्माण-चित्त की रचना में निमित्तकारण की भूमिका अदा करते हैं ।

प्रत्येक निर्माण-काय सचित्त होते हैं । जितने शरीर का निर्माण सिद्ध लोग करते हैं उतने ही चित्त का भी निर्माण करते हैं ।[1] अनेकों निर्मित चित्तों का प्रेरक प्रमुख चित्त होता है । यह प्रमुख चित्त ही अन्य निर्माण-चित्तों को उनके कार्यों में नियुक्त करता है । जन्म, औषध, मंत्र, तपस्या से निर्मित चित्त कर्माशय युक्त हैं अतः ये कैवल्य के लिए उपयोगी नहीं हैं । योगज चित्त ही अनाशय हैं अतः योगजचित्त ही कैवल्य के लिए उपयोगी हैं ।

तत्ववैशारदी

वाचस्पतिमिश्र ने जन्म से ही सिद्ध प्राप्त वैधाचि देह को निर्माणकाय नहीं माना है । निर्माण-काय का अर्थ है अपने शरीर को त्याग कर नया शरीर निर्माण करना या उसी के रहते हुए अन्य शरीर का निर्माण करना । भाष्यकार से पृथक विचार रखते हुए इन्होंने पाँच प्रकार की सिद्धियों से पाँच प्रकार के निर्माण-काय नहीं स्वीकार किया है । ये निर्माण-काय और निर्माणचित्त चार प्रकार का ही मानते हैं ।[2] औषध, मन्त्र, तपस्या और समाधि से ही शरीरेन्द्रिय का अन्य जातीयक परिणाम होता है । एक शरीर का अपाय होने पर पुनः नए शरीर का निर्माण पूर्व शरीर के अवयवों से ही नहीं हो जाता अतः प्रकृत्यापूर का महत्व यहाँ स्वीकार किया गया है । प्रकृति के

- -

1 - "अभिमतामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति । ततः सचित्तानि भवन्तीति ।" — व्यासभाष्य पृ0 401 ।

2 - " अत्र जन्मपूर्व सिद्धयो धर्मादिसाधनासु तेषामेव कायेन्द्रियाणां जात्यन्तर-परिणतिरिष्यते ।" — त0वै0 पृ0 398 ।

तत्वों का अनुप्रवेश आकस्मिक रूप से नहीं होता है प्रत्युत एक शरीर का अपाय होने पर दूसरे शरीर के निर्माण के लिए प्रकृति के तत्वों का अनुप्रवेश होने पर ही निर्माणकाय बनते हैं ।[1]

सभी निर्माण-काय सचित्त होते हैं । चित्त को यहाँ 'मन' भी कहा गया है । प्रत्येक निर्माणकाय का अलग-अलग मन होता है । इन सभी निर्माण चित्त या मन का एक नायक मन होता है जो निर्माणमन को निर्देश देता रहता है । तात्पर्य यह[2] है कि एक नायक मन ही अन्य सभी निर्माणकायों में प्रमुख रूप से व्याप्त रहता है । क्योंकि निर्माण कायों के निर्माणचित्त भी नायक चित्त के ही निर्देशानुसार कार्य करते हैं अतः परावस्था से नायक चित्त की सत्ता सभी निर्माण कायों में व्याप्त है ऐसा मानना चाहिए ।

<u>राजमार्तण्डवृत्ति</u>

जितनी सिद्धियों का सूत्र में उल्लेख है सभी अनेकों प्रकार के 'जन्म' को देने वाली हैं ।[3] साधक को जितनी भी सिद्धियाँ इस जन्म में प्राप्त होती हैं वे सभी पूर्वजन्म में किए गए समाधि के अभ्यास का परिणाम है अर्थात् पूर्व अभ्यस्त समाधि से ही साधक को अगले जन्म में पाँच सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं । जिनके द्वारा सिद्ध अपनी इच्छानुसार वर्तमान जन्म में ही अन्य आलौकिक शरीर धारण कर लेते हैं । जात्यन्तर परिणामप्रकृत्यापूर से होता है । पिछले जन्म की प्रकृति ही इस जन्म में विकारों को आपूरित कर लेती है ।[4] सिद्धलोग एक साथ ही अनेकों प्रकार के कर्मों का

---

1 - "कायस्य हि प्रकृतिः पृथिव्यादीनि भूतानि, इन्द्रियाणां च प्रकृतिरस्मिता तदवयवानुप्रवेश आपूरस्तस्माद्भवति ।" — त०वै० पृ० 398 ।

2 - "तस्मादेकमेव चित्तं प्रयोजकमिति तथा बहूनपि निर्माणकायान्व्याप्नोतीति आह — निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ।" — वही पृ० 401 ।

3 - "तत्र याः पूर्वमुक्ताः सिद्धयस्तासां नानाविधजन्मादि कारणप्रतिपादन-द्वारेणैव बोधयति ।" — रा०मा०वृ० पृ० 420 ।

4 - "पातञ्जलस्यैव हि प्रकृतयोऽमुष्मिञ्जन्मनि विकारानापूरयन्ति जात्यन्तरा-कारेण परिणमयन्ति ।" — वही पृ० 423 ।

फल भोग करने के लिए अनेक शरीर धारण कर लेते हैं। प्रत्येक निर्मित शरीर के लिए अलग-अलग निर्माण चित्त होते हैं। निर्माण चित्तों की रचना अस्मितातत्त्व से होती है। जिस प्रकार सिद्ध लोग इच्छानुसार अनेकों निर्माण कायों का निर्माण करते हैं उसी प्रकार अस्मितातत्त्व से उतने ही निर्माण चित्तों का भी निर्माण करते हैं। इन अनेक चित्तों के व्यापार भिन्न भिन्न होते हैं परन्तु उनका संचालन एक मुख्य सिद्ध चित्त द्वारा होता है जिसे प्रेरक चित्त कहा गया है।

विवरण

योगी अपने योगबल से तथा सिद्ध लोग सिद्धियों के बल से बहुत से शरीरों की रचना कर लेते हैं। इस प्रकार से निर्माण किए शरीर को ही निर्माण काय कहा गया है। निर्माण कायों की रचना दो प्रकार से होती है। एक तो पूर्व शरीरेन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर शरीरान्तर की उत्पत्ति होती है। दूसरे प्रकार का निर्माण काय तब होता है जब सिद्ध, शरीर के रहते हुए अन्य जातीयक शरीर धारण कर लेता है। इस प्रक्रिया को ही जात्यन्तर परिणाम कहा गया है। यह जात्यन्तर परिणाम प्रकृत्यापूर के द्वारा ही सम्भव होता है। शरीरेन्द्रिय की रचना प्रकृति के अवयवों से हुई है अतः जब योगी को शरीर की रचना अपेक्षित होती है तब शरीर निर्माण के अनुकूल प्रकृति के विकारों का अनुप्रवेश होता है। तभी निर्माण-कायों की रचना होती है। निर्माण काय जिस परिमाण के होते हैं उतने ही परिमाण में उनके बनाने वाले तत्व अनुप्रविष्ट होते हैं। यदि अल्प शरीर धारण करना होता है तो अल्पपरिमाण में ही प्रकृत्यापूर होता है और यदि दीर्घशरीरधारण करना होता है तो अधिक परिमाण में प्रकृत्यापूर होता है।

प्रकृत्यापूर के अन्य धर्मादि निमित्त बनते हैं। इनका कार्य प्रकृति के

- -

1. "योगिनः स्वयं निर्मितेषु कायेषु यानि चित्तानि मूलकारणादस्मितामात्रादेव तदिच्छया प्रसरन्ति अग्नेर्विस्फुलिङ्गा इव युगपत्परिणमन्ति।" -रा0 मा0 पृ0 429।
2. "जन्मसिद्धो तु पतितपूर्वोपार्जित कार्यकरणस्य शरीरान्तरमुत्पत्तिरित्यत्र नास्ति तत्र विवादः। अपतित शरीरस्य तु जात्यन्तरपरिणामे किं नैव कार्यकरणमुपादानमुत्पद्यते इति - तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातीयपरिणतानां - जात्यन्तर परिणामः प्रकृत्यापूरात्"।

— विवरण पृ0 304।

अवयवों को प्रेरित करना नहीं है प्रत्युत शरीर निर्माण के मार्ग में उपस्थित बाधाओं को दूर करना है।[1] अधर्म रूपी आवरण के हट जाने पर निर्माण के अनुकूल प्रकृति के अवयव स्वयमेव ही अनुप्रविष्ट हो जाते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि क्या अनेक निर्माण कायों के लिए योगी अनेक निर्माण चित्त की रचना करता है या एक ही मन से सभी निर्माण कायों का कार्य चलता है? इसका उत्तर इस प्रकार से दिया गया है। चित्तैकत्व के अभाव में शरीर मृतप्राय और निरर्थक है।[2] बिना चित्त के शरीर में क्रिया शक्ति का संचार नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त जितने निर्माण काय हैं उन सभी निर्माणकायों के लिए पृथक्-पृथक् चित्तों की स्थिति अनिवार्य है। एक चित्त जिसे "विभु" कहा गया है वही प्रधान चित्त है। वह सभी निर्मित शरीरों के संचालन का कार्य नहीं कर सकता। वह अनेक निर्मित चित्तों का नियंत्रण अवश्य करता है परन्तु उनके स्थान पर निर्माणकायों का चित्त नहीं बनता अतः प्रत्येक निर्माण काय के लिए अलग अलग निर्माण चित्त की रचना योगी करता है।[3]

जन्म, औषधि, मन्त्र, तपस्या और समाधि द्वारा निर्मित निर्माणचित्त पाँच प्रकार के होते हैं। इन निर्माणचित्तों का नायक एक प्रधान चित्त होता है। प्रधान चित्त को 'योगजन्यचित्त' भी कहा जाता है। यह चित्त अनाशय अर्थात् आशयों से रहित होता है इसके मूल में क्लेशादि नहीं रहते अतः यही चित्त अपवर्गभागीय होता है। अन्य निर्माण चित्त, आशययुक्त होते हैं, क्योंकि निर्माण चित्त कर्मसंस्कारों और प्रयोजन-वशात् निर्मित होते हैं। अतः वे चित्त अपवर्गभागीय नहीं होते।[4]

- -

1 - "धर्मो प्रकृतीनामावरणमधर्मं भिनत्ति । धर्मस्याधर्मोऽपि निमित्तमावरणम् ।"
— विवरण पृ0 319

2 - "चित्तैकाभावे च मृतवदेव कायो निरर्थकः स्यात् ।" — वही पृ0 32

3 - "एकचित्तत्वे तु गुणप्रधानभावः प्रवृत्तिभेदश्च नोपपद्यते । तत्र विभुत्वादेकचित्तत्वेऽपि बहुकार्यकारित्वमुपपद्यते । गुणप्रधानानेकप्रवृत्ति-भेदार्थं तु कल्पनैव एषितव्यः ।"
— वही पृ0 320

4 - "पञ्चविधं निर्माणचित्तं जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिसामर्थ्यनिर्मितम् । तत्र तेषु यदेव ध्यानजं चित्तं तदेव अनाशयं कर्मक्लेशाशयवर्जितम् ।"

— वही पृ0 321

योगवार्त्तिक

पंचविध सिद्धियों से सिद्ध लोग 'निर्माणकाय' बनाते हैं। 'निर्माणकाय' के प्रसंग में विज्ञानभिक्षु ने एक विशेष विचार प्रकट किया है।[1] जात्यन्तरपरिणाम गज, तुरंग या अन्य प्रकार के देहों से भी संबन्धित हो सकता है अर्थात् सिद्ध लोग अपनी सिद्धियों के द्वारा जब जैसे शरीर का निर्माण करना चाहें कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त अपने ही शरीर को बढ़ा, घटा भी सकते हैं। सभी प्रकार के 'निर्माणकाय' केवल संकल्पमात्र से नहीं बनते। संकल्प के साथ-साथ प्रकृति के अवयवों का अनुप्रवेश होने पर ही निर्माणकाय बनते हैं।

सभी निर्माणकाय अपने अपने निर्माणचित्तों से युक्त होते हैं।[2] सिद्ध के संकल्प द्वारा अस्मितातत्त्व से निर्माणचित्तों की रचना होती है। निर्माणचित्तों को निर्माणमन भी कहा जा सकता है।[3] मन कहने से अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता है निर्माणमन की रचना के साथ ही बुद्धि और अहंकार का भी निर्माण हो जाता है। प्रकृति के ही तत्त्वों से बुद्धितत्त्व का निर्माण होता है। पुनः बुद्धि से अहंकार की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार निर्माणकाय, निर्माणमन, बुद्धि और अहंकार का भी निर्माण सिद्ध लोग करते हैं।[4] उक्त विवेचन केवल योगवार्त्तिक में ही उपलब्ध है अतः भाष्यकार तत्त्ववैशारदीकार तथा भोजवृत्ति की तुलना में इनका विवेचन विशिष्टतापूर्ण है और उचित भी है क्योंकि निर्माणकाय और निर्माणमन की रचना होने पर बाकी अवान्तर तत्त्वों की रचना भी आवश्यक है।

निर्माणचित्तों के संदर्भ में एक प्रमुखनायक चित्त की स्थिति को इन्होंने भी स्वीकार किया है।[5] निर्माणचित्तों की संख्या सिद्धियों की संख्या के अनुसार पाँच है। इन चित्तों में केवल ध्यानजचित्त ही कैवल्य भागीय होता है अन्य निर्माणचित्त कषाययुक्त होते हैं। अतः ये मोक्ष प्राप्ति के योग्य नहीं होते।

- -

1 - "मनुष्यादिजातित्वेन पूर्वपरिणतस्य चित्तस्य कायेन्द्रियाणां कामरूपतावस्थायां यो देवतिर्यगादिजातिपरिणामः स प्रकृत्यापूरादेव भवति न तु संकल्पमात्रादिच्छयेति व्याख्यान्तरम्। अभिमानिकस्य परिणामविशेषस्य प्रकृत्यापूरमात्रत्वेऽपि बोध्यम्। अत्र च जात्यन्तरशब्देन योगिनां गजतुरगादिदेहानां तथा कायव्यूहादिकमपि ग्राह्यम्। आपूरशब्देनापि प्रकृतीनां संहननमपि ग्राह्यम्।" — यो०वा० पृ० 398 ।

2 - "स्वसंकल्पेन निर्मितचित्तानि निर्माणचित्तान्युच्यन्ते, तानि बहूनि निर्माणदेहसंख्यानि भवन्ति।" — वही पृ० 401 ।

3 - "अत्र चित्तशब्दो मनोमात्रवाची न अहंकारप्रकृतितत्त्ववचनात्।" — वही पृ० 401 ।

4 - "बुद्ध्यहंकारा अपि अनेके स्वप्रकृतिप्रधानकव्यापूरादवगन्तव्या युक्तिसाम्यादिति" वही पृ० 401

5 - "पूर्वसिद्धं योगिचित्तं तदेव सर्वचित्तानां प्रयोजकं करोति।" — वही पृ० 403 ।

योगदीपिका, पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति

सिद्धियाँ पाँच प्रकार की बताई गई हैं[1]। इनमें से अणिमादि सिद्धियाँ देवताओं को जन्म से ही प्राप्त होती हैं। इन सिद्धियों के द्वारा देवादि आवश्यकतानुसार अपने शरीर को घटा, बढ़ा सकते हैं। शरीरनिर्माणकार्य प्रकृति के अवयवों के उपचय से होता है। देहेन्द्रिय के निर्माणार्थ प्रकृति के महाभूतों का अनुप्रवेश अनिवार्य है। महाभूतों के आपूरण से ही जात्यन्तर परिणाम होते हैं ऐसा व्यास, वाचस्पतिमिश्र, विज्ञानभिक्षु, भोजवृत्तिकार तथा मणिप्रभाकार मानते हैं। योगदीपिकाकार ने 'सत्वादि' के उपचय से शरीर निर्माण होता है ऐसा माना है। सत्वादि का तात्पर्य है प्रकृति के[2] तीनों गुण सत्व, रज और तमोगुण। इनके द्वारा ही शरीररचना सम्भव है।

सांख्ययोग में प्रकृति का स्वरूप त्रिगुणात्मक है अतः उसके विकार भी त्रिगुणों से ही युक्त होंगे अतः स-त्वादि या 'महाभूत' शब्द के प्रयोग से अर्थ में कोई भिन्नता नहीं आती। 'जात्यन्तर' पद अणिमा, महिमा, लघिमा आदि सिद्धियों का द्योतक है। इन सिद्धियों से जो निर्माण काय बनते हैं उनमें प्रकृति के अवयवों का अनुप्रवेश होता है तभी निर्माणकाय तैयार होते हैं[3]। निर्माण की इस प्रक्रिया में धर्मसंस्कार निमित्त कारण बनते हैं ये प्रकृत्यापूर में प्रयोजक नहीं बनते प्रत्युत ये अधर्मादि की निवृत्ति करते हैं।

जितने भी निर्माण काय होते हैं सभी के लिए निर्माण चित्तों का निर्माण सिद्ध अपनी संकल्पशक्ति के द्वारा 'अस्मिता' नामक तत्व से करता है। 'निर्माण' चित्तों के लिए निर्माणमन भी प्रयुक्त हो सकता है ऐसा योगदीपिकाकार भी मानते हैं। इन सभी निर्माणचित्तों का एक प्रयोजक अथवा प्रेरक चित्त होता है जिसे 'निर्मातृचित्त' कहते हैं[4]। 'निर्मातृचित्त' के संकल्प से ही उनचित्तों का सारा कार्य व्यापार होता है।

- -

1- "देवादीनामणिमादिसिद्धयो जन्म मात्रजा इत्येवं पंचप्रकाराः सिद्धयो भवन्तीत्यर्थः।" —योगदीपिका पृ0 86।

2- "देहेन्द्रियकारणसात्विकाद्यवयवोपचयाद्भवति।" — वही पृ0 86।

3- "जात्यन्तरपदं च अणिमाद्यखिलसिद्ध्युपलक्षणं प्रकृत्यापूरश्चापगमश्चाप्युपलक्षकः।" — वही पृ0 86।

4- "निर्मातृचित्तसंकल्पेनैव तेषामखिलव्यापार इत्यर्थः।" — वही पृ0 88।

जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि नामक पाँच प्रकार की सिद्धियों से सिद्ध लोग अपने संकल्प से अभीप्सित शरीर धारण कर लेते हैं। ये सिद्धियाँ पूर्व जन्म में योग के अभ्यास द्वारा प्राप्त होती हैं।[1] जिनके द्वारा सिद्ध लोग अपनी इच्छानुसार जन्मादिग्रहण कर लेते हैं। "पृथ्वीपर्यन्त प्रधान की सत्ता व्याप्त है। मनुष्य के स्थूल सूक्ष्म शरीर का निर्माण प्रधान के ही विकारों से हुआ है अतः नर अन्य जातीय शरीर का निर्माण भी प्रकृति के ही विकारों के अनुप्रवेश से सम्भव है।[2] देहादि की रचना में धर्मादिनिमित्त कारण बनते हैं प्रयोजक नहीं।

निर्माणकायों के साथ निर्माणचित्तों की भी रचना आवश्यक रूप से होती है। जिस प्रकार प्रकृत्यापूर से योगी निर्माणकायों की रचना करता है उसी प्रकार प्रकृति के अहंकार नामक विकार से निर्माणचित्त का निर्माण होता है।[3] ये निर्माणचित्त विभिन्न भोगों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। निर्मित चित्तों का एक नियामक चित्त भी होता है। इस नियामक चित्त में योग की शक्ति होती है अर्थात् यह चित्त योगसिद्ध कर युक्त होता है इसीलिए यह निर्माण चित्तों का नायक चित्त होता है।[4] जन्मादि सिद्धियों के भेद से निर्माणचित्त भी पाँच प्रकार के होते हैं।

- -

1 - "पूर्वजन्माभ्यस्तयोगस्य एव जन्मादिनिमित्तेन व्यज्यन्ते।" -
— मणिप्रभा पृ० 74 ।

2 - "प्रधानस्य पृथिव्यन्ताः प्रकृतयस्तासां सर्वत्र सत्त्वान्नरादिदेहावयवेषु नाशायापूरादुपमर्देन निमित्तानुरोधेनावयवानुप्रवेशः जात्यन्तरपरिणामो" उच्यते।"
— वही पृ० 75 ।

3 - "योगप्रभावान्निर्मीयन्त इति निर्माणानि चित्तानि योगिसंकल्पाधीन प्रकृत्यापूरात्कायवदहंकारात्प्रकृतेर्जायन्त इत्यर्थः।"
— वही पृ० 76 ।

4 - "निर्मितचित्तानां योगी स्वभोगानुकूल प्रवृत्तिविशेष नियामकं चित्तं निर्मिमीते योगबलात्त 'चित्तं' तेषां नायकं भवति।"
— वही पृ० 76 ।

पृथ्वी पर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं सभी प्रधान या प्रकृति के के सत्त्वादिगुणों से ही निर्मित है । अतः पंचविधसिद्धियों के फलस्वरूप जात्यन्तर परिणाम भी प्रकृति के अवयवों के अनुप्रवेश से ही होता है ।[1] प्रकृति के अवयवों के अनुप्रवेश के लिए यहाँ "प्रकृत्यापूर" पद का प्रयोग किया गया है । प्रकृत्यापूर के समय धर्मादि निमित्तों की अपेक्षा होती है । धर्मादि यहाँ प्रयोजक या प्रेरक नहीं बनते क्योंकि कार्य कभी कारण को प्रवर्तित नहीं कर सकता ।[2] धर्मादि योगजसंस्कार हैं जिनका कार्य केवल प्रकृत्यापूर के समय मार्ग में आयी हुई बाधाओं को दूर करना है । धर्मादि के द्वारा प्रकृत्यापूर के विरोधी तत्वों का निरोध हो जाता है जिससे जात्यन्तर-परिणाम के समय प्रकृति के अवयवों का अनुप्रवेश स्वयमेव हो जाता है ।[3] इस प्रकार प्रकृत्यापूर से ही योगी अनेक शरीरों का निर्माण करता है जिन्हें 'निर्माणकाय' कहा गया है । अब प्रश्न उठता है कि क्या अनेक निर्माणकाय अनेक मन वाले होते हैं या एक ही मन द्वारा सभी निर्माण काय संचालित होते हैं ।[4]

इस शंका का समाधान इस प्रकार से किया गया है :- जिस प्रकार योगी संकल्पद्वारा प्रकृत्यापूर से अनेक शरीरों का निर्माण करता है उसी प्रकार योग के प्रभाव से अहंकार तत्व द्वारा अनेक चित्तों का निर्माण करता है जिन्हें "निर्माणचित्त' कहा गया है ।[5] निर्माण चित्त सिद्धियों के अनुसार पाँच प्रकार के स्वीकार किए गए हैं । निर्माणचित्तों की रचना योगी भोगानुकूल करता है ।[6] इन निर्मित चित्तों का एक नायक

---

1. " प्रधानाद्यः पृथिव्यन्ताः प्रकृतयस्तासां सर्वत्र सत्वादिदेहावयवेषु तासामापूराद् धर्मादिनिमित्तानुरोधेनावयवाऽनुप्रवेशाज्जात्यन्तरपरिणामो युज्यते ।" -यो०सू०बो०पृ० 50 ।

2. " न हि धर्मादिनिमित्तं तत्प्रयोजकं प्रकृतीनां भवति, न कार्येऽपिकारणं प्रवर्त्तत इति ।" — वही पृ० 51 ।

3. " तथा धर्मः प्रकृतीनामावरणधर्मं भिनत्ति । तस्मिन् भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति ।" — वही पृ० 51 ।

4. "ननु यदा योगी बहून् कायान् निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवति अथवाऽनेकमनस्का इति ।" — वही पृ० 51 ।

5. " योगप्रभावान्निर्मीयन्त इति निर्माणानि चित्तानि योगिसंकल्पाधीन प्रकृत्यापूरात् कार्यवदहंकारात् प्रकृतेर्जायन्त ।" — वही पृ० 51 ।

6. "निर्मितचित्तानि योगी स्वभोगानुकूलप्रवृत्तिविशेषभाजकं निर्मिमीते ।" — वही पृ० 52 ।

चित्त होता है जो उनके ऊपर नियंत्रण रखता है ।[1] यह नायक चित्त उन चित्तों से उत्कृष्ट कोटि का होता है । यह योग-बल से उत्कृष्टता प्राप्त कर के ही उन अनेक चित्तों का नायक बनता है । इसे ही ध्यानज तथा अनाशय चित्त भी कहा गया है । यह अनाशय चित्त ही कैवल्यभागीय होता है ।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका

प्रकृति के अवयवों से ही शरीरेन्द्रिय की रचना हुई है । अतः अन्य इच्छित शरीरादि का निर्माण प्रकृति या प्रधान के तत्वों के अनुप्रवेश से ही होता है । योगी अपनी इच्छानुसार देवता, पक्षी, आदि अन्य जातीयक शरीर को धारण करने में समर्थ होता है । यह शरीरधारण 'प्रकृत्यापूर' अर्थात् प्रकृति के अवयवों के अनुप्रवेश से ही संभव होता है । अपनी इच्छानुसार शरीर को बड़ा करना तथा अपनी इच्छानुसार शरीर को छोटा करना यह सब कार्य प्रकृति के तत्वों के अनुप्रवेश तथा अपगम से ही सम्भव होता है ।[2] यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जात्यन्तरपरिणाम में धर्मादिनिमित्त बनते हैं । निमित्त का अर्थ 'अनुरोधक' किया गया है । केवल इतना ही वर्णन इस व्याख्या में प्राप्त है ।

भास्वती

मनुष्य के शरीर की रचना प्रकृति के ही अवयवों से हुई है । इन्द्रिया-दि से मनुष्य-शरीरेन्द्रिय का निर्माण हुआ है जिन्हें मानुषप्रकृतिक या करण शक्ति कहा गया है । इस करण शक्ति में उन करणों से अवच्छिन्न परिणाम की प्रकृति अन्तर्निहित है जिसके फलस्वरूप ही सिद्धलोग सिद्धियों के बल से तथा, योगी योगबल से एकजातीयक शरीर से अन्य जातीयक शरीर धारण कर लेते हैं । एक जाति से अन्य जातीयक परिणाम को जात्यन्तर परिणाम कहा गया है । यह जात्यन्तरपरिणाम प्रकृति

- -

1 - "योग बलात् स्वचित्तं तेषां नायकं भवति ।" - या०सु०यो० पृ० 92 ।

2 - " प्रधानादिपृथिव्यान्तानि कार्येभ्यादिप्रकृतयः । तासाम् आपूरात् धर्माद्यनुरोधेन मनुष्यादिदेहावयवेषु अनुप्रवेशात् कायस्याकायत्वं देवादितिर्यगादिरूप जात्यन्तरः अणोर्महद्भावश्च भवति । एवं महतोऽणुभावः प्रकृत्यपगमादित्यपि बोध्यम् ।"
- यो०सि०च० पृ० 142 ।

के तत्वों के अनुप्रवेश से होता है।[1] ये प्रकृतियाँ द्विविध हैं। प्रथम तो अनुभूतपूर्व कर्माशय व्यंग्य हैं, द्वितीय अननुभूतपूर्व। प्रथम के अनुसार शरीर में परिवर्तन, पूर्वसंचित पूर्वानुभूत कर्माशयों के फलोपभोग के उन्मुख होने पर होती है। द्वितीय के अनुसार योगी ध्यानज सिद्धि द्वारा अननुभूत शरीरादि की रचना करता है।[2] जात्यन्तरपरिणाम प्रकृत्यापूर से ही होता है। जात्यन्तरपरिणाम के समय धर्मादि निमित्त बनते हैं। यहाँ 'धर्मादि' को प्रकृति का अपना धर्म इस रूप में ग्रहण किया गया है।

धर्मादि प्रकृति को कार्य के लिए प्रेरित नहीं करते प्रत्युत अनुप्रवेश के समय उपस्थित बाधाओं को या बाधक गुणों को रोकते हैं जिससे कि प्रकृत्यापूर अपने आप हो जाये।[3] योगी जिस प्रकार स्वेच्छा से एक से अनेक शरीरों को धारण करता है उसी प्रकार स्वेच्छा से ही अनेक चित्तों का भी निर्माण करता है जिन्हें निर्माणचित्त कहा गया है। ये निर्माणचित्त ही सिद्धचित्त कहलाते हैं।[4] इन निर्माणचित्तों से योगी किसी प्रकार के बन्धन का अनुभव नहीं करता।[5]

निर्मित अनेक चित्तों की प्रवृत्तियों में भेद होता है। इनका संचालन करने के लिए ही एक प्रधान चित्त का निर्माण किया जाता है जो एक साथ ही सभी निर्मित चित्तों की देख रेख करता है।[6] ये निर्माण चित्त जन्म, मन्त्र, औषधि, तपस्या और ध्यान से निर्मित होते हैं। इनमें से ध्यानजचित्त योगसाधना से उत्पन्न होता है। यह चित्त अनाशय होने के कारण ही कैवल्य भागीय होता है।

- -

1 - "निरुद्धो कार्येन्द्रियाणामन्यजातीयः परिणामो दृश्यते, स च जात्यन्तर परिणामः प्रकृत्यापूरादेव भवति, प्रकृतिः = कार्येन्द्रियाणां प्रत्येकं जात्यवच्छिन्नं रूपं = कैशिकत्वं तस्य मूलीभूता शक्तिरूपा संततरूपाभिरूपाणां ग्रात्याभिव्यक्तिः।" — भास्वती पृ0 393।

2 - "तत्र द्विविधाः प्रकृतयः कर्माशयव्यङ्ग्या अनुभूतपूर्वा वासनारूपास्तथाऽननुभूतपूर्वा अध्ययनवेशाद, ... ध्यानसिद्धिमूलक - अननुभूतपूर्वाऽनुभूयमानस्य विशेषस्य प्रकाशस्यान्निमित्तात् सोऽभिव्यक्ता भवति। आपूरः।" — वही पृ0 393।

3 - "धर्मादि निमित्तं न प्रकृतिं कार्यान्तरजननाय प्रयोजयति विकारत्वात्, स्वोपयोगि निमित्तम् अनुप्रवेशाभिनिमित्तभूता गुणावरणभित्तिं ततः प्रकृतिः स्वयमेवानुप्रविशति।" — वही पृ0 395।

4 - "निर्माणचित्तमत्र सिद्धचित्तम्।" — वही पृ0 399।

5 - "स्वेच्छयैकमनेकं वा चित्तं कार्यं च निर्मिमीते। स्वेच्छया व्युत्थानं निरोधश्च ततो न निर्माणचित्तं बन्धहेतुः।" — वही पृ0 397

6 - "बहुचित्तानां प्रवृत्तिभेदेऽपि सर्वेषां यथा प्रवृत्तिप्रयोजकमेकं प्रधानचित्तं निर्मिमीते तेनैव युगपदेव तदङ्गभूतप्रधानचित्तेषु संचरन् तानि स्वस्वविषयेषु प्रवर्तयति।" — वही पृ0 398।

जन्म, औषधि, मन्त्र, तपस्या और समाधि से उत्पन्न सिद्धियों से सिद्धजन स्वेच्छित शरीर धारण कर लेते हैं। प्रकृति के विकारों से ही शरीर की रचना हुई है अतः नव शरीर का धारण भी प्रकृति के तत्त्वों के अनुप्रवेश से ही होता है। पंचमहाभूतों से शरीर की रचना तथा अहंकार नामकतत्त्व से इन्द्रियों की रचना होती है।

देवताओं को जन्म से ही अणिमादिसिद्धियाँ प्राप्त रहती हैं। त्रिविक्रमभगवान का वामन अवतार अणिमा सिद्धि का ही द्योतक है। देवादि अथवा सिद्धजन जितने भी निर्माण कार्य करते हैं, सभी निर्माणकार्य प्रकृति के अवयवों के अनुप्रवेश से ही करते हैं। एक साथ अनेकों कर्मों का फल भोग करने के लिए सिद्ध लोग अनेक शरीर धारण करते हैं। शरीर धारण प्रकृत्यापूर द्वारा होता है, धर्मादि इसमें निमित्त कारण बनते हैं।

योगी के संकल्प से जात्यन्तर परिणाम होते हैं। अतः यहाँ पर यह शंका होती है कि योगी के संकल्प से प्रकृति की स्वतंत्रता बाधित हो सकती है। इस शंका का समाधान करते हुए व्याख्याकार ने यह विवेचन किया है कि – योगी का संकल्प प्रकृति की स्वतंत्रता में बाधक नहीं होता प्रत्युत प्रकृति की कार्यशक्ति का उद्बोधक होता है। इस कार्य जनन क्रिया में धर्मादि निमित्त कारण बनते हैं, इन का काम शरीरेन्द्रिय निर्माण कार्य के समय अनपेक्षित अधर्मों को दूर करना या हटाना है। इस प्रकार प्रकृत्यापूर तथा धर्मादि निमित्त की सहायता से सिद्ध लोग स्वेच्छित शरीर का निर्माण कर अपने पूर्व जन्म के कर्मों के फल का भोग करते हैं। जितने निर्माण-कार्यों की रचना होती है उतने ही निर्माण चित्तों की भी रचना करनी पड़ती है। निर्माण चित्तों की रचना अहंकार से होती है। ये निर्माण-चित्त पाँच प्रकार के होते हैं। (1) जन्मजसिद्धियुक्त (2) औषधिजसिद्धियुक्त (3) मन्त्रजसिद्धियुक्त (4) तपोजन्यसिद्धियुक्त और (5) समाधिजन्यसिद्धियुक्त। इनमें से पाँचवाँ - समाधिजन्य चित्त ही कैवल्य के लिए उपयोगी होता है क्योंकि इस चित्त में वासनायें नहीं होतीं।

धर्ममेघसमाधि

व्यासभाष्य

निरन्तर विवेकख्याति होती रहने पर जो समाधि होती है उसे धर्ममेघ-समाधि कहा गया है । धर्ममेघसमाधि में प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का विविक्त-ज्ञान होता रहता है जिसके फलस्वरूप साधक को 'सर्वज्ञातृत्व' नामक सिद्धि की उपलब्धि होती है परन्तु धर्ममेघसमाधि निष्ठ साधक 'प्रसंख्यान' के प्रति भी रागरहित रहता हुआ किसी प्रकार की इच्छा नहीं करता ।[1] इस अवस्था में प्रत्ययजन्य संस्कारों का भी नाश हो जाता है । संस्कारों का नाश हो जाने से एक प्रकार से बीज का ही नाश हो जाता है फलस्वरूप चित्त में पुनः कोई प्रत्ययात्मक संस्कार नहीं उत्पन्न होते ।[2] इस समाधि में स्थित साधक के चित्त के अविद्यादि क्लेशों का समूल नाश हो जाता है अतः क्लेशों और कर्मों से विनिर्मुक्त साधक जीवित रहता हुआ भी मोक्ष की अवस्था का अनुभव करता है[3] अर्थात स्वरूप प्रतिष्ठित हो जाता है ।

तत्ववैशारदी

विवेकख्याति प्राप्त चित्त की जब निरन्तर विवेकख्याति होती रहे उस समाधि दशा स्थिति को धर्ममेघ-समाधि कहते हैं । धर्ममेघ-समाधि के सम्बन्ध में सूत्र है — " प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः "। इस सूत्र के आधार पर वाचस्पति मिश्र ने धर्ममेघ-समाधि की विवेचना की है । धर्ममेघ समाधिनिष्ठ योगी को अन्य किसी भी प्रत्यय का ज्ञान नहीं होता उसे सर्वथा विवेकख्याति होती रहती है । अन्त में एक ऐसी भी स्थिति आती है जब कि योगी का चित्त विवेकख्याति के प्रति भी

- -

1 - " प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्ततोऽपि न किंचित्प्रार्थयते ।" -- व्यासभाष्य पृ0 454।

2 - " तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवतीति संस्कारबीजक्षयान्नास्य प्रत्ययान्तराण्युत्पद्यन्ते ।" -- वही पृ0 454 ।

3 - " तदभावादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति । - - - - क्लेश कर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान्विमुक्तो भवति ।" — वही पृ0 455 ।

विरक्त हो जाता है और तब तत्त्वज्ञान के प्रति भी वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। उस समय योगी जीवित होता हुआ भी मुक्त अर्थात् जीवन्मुक्त कहा जाता है।

शंका होती है कि जीवित होता हुआ मुक्त किस प्रकार से हो सकता है ? वाचस्पतिमिश्र ने इस शंका का निवारण 30वें सूत्र के आधार पर इस प्रकार किया है। जब धर्ममेघ-समाधि में योगी की स्थिति हो जाती है तब उसके चित्त के समस्त विकार, सारे क्लेश तथा कर्माशय समूल दग्धबीज हो जाते हैं। त्रिगुणों का भी परिणाम-क्रम समाप्त प्राय हो जाता है जिसके फलस्वरूप चित्त के समस्त आवरण रूप मल अपेत हो जाते हैं और चित्त नितान्त निर्मलभाव से समाधि में लीन हो जाता है और उसे निरन्तर विवेकख्याति होती रहती है। इस विवेकख्याति के प्रति भी मिथ्याभाव के समाप्त हो जाने से योगी को परवैराग्य प्राप्त होता है और योगी जीवन्मुक्त कहा जाता है।

उक्त धर्ममेघसमाधि की पराकाष्ठा ज्ञान के अनन्त विस्तार में होती है। जैसा कि व्याख्याकार ने कहा है — " धर्ममेघस्य पराकाष्ठा ज्ञान प्रसाद मात्रम्।" अर्थात् धर्ममेघ-समाधि में ज्ञान का अनन्त विस्तार हो जाता है जिसके समक्ष ज्ञेय का स्वरूप अल्प हो जाता है। ज्ञान के अनन्त प्रसार से परवैराग्य को प्राप्त कर योगी व्युत्थान-संस्कारों का समूल नाश करता है इस प्रकार धर्ममेघ-समाधि में अवस्थित योगी के समस्त विकार दूर हो जाते हैं तथा योगी कैवल्य प्राप्त करता है। तत्त्ववैशारदीकार ने धर्ममेघ-समाधि की शाब्दिक व्याख्या इस प्रकार से की है — "सर्वान्धर्मान्वियद्भिमेहति वर्षति प्रकाशनेनेति धर्ममेघः समुच्यते।" 'मिह सेचने' धातु से मेघ शब्द की निष्पत्ति होती है और 'धृञ् धारणे' धातु से धर्म शब्द की निष्पत्ति होती है। उक्त समाधि भी विवेकख्यातिरूपधर्म की वर्षा करती है अतः इसका नाम 'धर्ममेघ-समाधि' उचित ही है। इस धर्ममेघ समाधि के उदित होने से पुरुष के भोगापवर्ग को सम्पादन करने वाले गुणों का परिणाम क्रम भी समाप्त हो जाता है जिसके फलस्वरूप गुणों को कैवल्य प्राप्त हो जाता है और वे प्रधान में लीन हो जाते हैं। पुरुष भी अपने स्वरूप में स्थित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है जिसे कैवल्य भी कहा गया है।

---

1 - द्रष्टव्य - त०वै०पृ० 457 ।

राजमार्तण्डवृत्ति

निरन्तर विवेकख्याति होते रहने पर जो समाधि होती है उसे धर्ममेघ-समाधि कहा गया है । विवेकख्याति को ही 'प्रसंख्यान' भी कहा गया है । जितने भी परस्पर विलक्षण स्वभाव वाले तत्व हैं उनका यथाक्रम विशिष्टज्ञान ही प्रसंख्यान अथवा विवेकख्याति है । विवेकख्यातिनिष्ठ साधक जब विवेकख्याति से प्राप्त होने वाली सिद्धियों रूप फल के प्रति 'अकुसीद' अर्थात् रागरहित होता है तब उसे निरन्तर विवेकख्याति ही होती रहती है जिससे परम प्रकृष्ट 'धर्ममेघ – समाधि' की स्थिति होती है ।[1]

'प्रसंख्यान' से प्राप्त फलों का नाम निर्देश वृत्तिकार भोज ने नहीं किया है परन्तु 'फल ' शब्द से 'सर्वज्ञत्व' और 'सर्वभावाधिष्ठातृत्व 'नामक दोनों सिद्धियों का ही ग्रहण होता है । इन दोनों सिद्धियों के प्रति अनासक्ति होने पर साधक निरन्तर विवेकख्याति में निमग्न होकर धर्ममेघ-समाधि में स्थित हो जाता है । धर्ममेघ-समाधि काल में चित्त में अन्य व्युत्थानात्मक प्रत्यय नहीं उदित होते । धर्ममेघसमाधि में प्रज्ञा अत्यन्त उत्कृष्ट होती है जिससे अविद्यादि क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है और चित्त को अनन्त ज्ञान प्राप्त होता है

विवरण

इस व्याख्या में 'धर्ममेघसमाधि' का विवेचन उक्त सभी व्याख्याओं से भिन्न रूप में किया गया है । 'अकुसीद' का अर्थ इस व्याख्या में 'अप्रार्थक' किया गया है ।[2] विवेकख्यातिरूप प्रसंख्यान के प्रति अन्तःकरण की प्रयत्नशीलता की वृत्ति का न होना तथा 'प्रसंख्यान ' के प्रति भी विरक्ति हो जाने पर केवल विवेकख्याति का होना ही 'सर्वथा-विवेकख्याति ' है जिसे 'धर्ममेघसमाधि ' कहा गया है ।[3] ।

- -

1 - " सर्वप्रकारविवेकख्यातेः परितोषात्धर्ममेघः समाधिर्भवति ।"
— रा० मा० वृ० पृ० 301 ।

2 - " अकुसीदः अप्रार्थको भवति ।" — विवरण पृ० 363 ।

3 - " प्रसंख्यानप्रसादं विशेषावधिकं न किंचित् प्रार्थयते । अविद्याभ्यात् प्रसंख्यानेऽपि न प्रार्थना । तत्रापि प्रसंख्याने विरक्तः । सर्वथा सर्वेण प्रकारेण विवेकख्यातिर्यस्य स सर्वथाविवेकख्यातिरेव भवति ।" — वही पृ० 363 ।

यह समाधि कैवल्य नामक परम् धर्म की वर्षा करती है । इसीलिए इसको 'धर्ममेघ' की संज्ञा दी गई है । यह समाधि सम्यक्ज्ञान रूप है क्योंकि इस समाधि में ही सर्वथा विवेकख्याति होने के कारण प्रत्येक पदार्थ का सम्यक्ज्ञान प्राप्त होता है तथा विपर्यय-रूपमिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है । इस समाधि में क्लेशकर्मादि से निवृत्त विद्वान पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है ।[2]

योगवार्तिक

योग के विघ्नों का अभाव हो जाने पर सर्वथा विवेकख्याति होती रहने पर जो समाधि होती है उसे 'धर्ममेघसमाधि' कहा गया है । यह समाधि सम्प्रज्ञातयोग की ही पराकाष्ठा है ।[3] इस समाधि में प्रकृतिपुरुष के यथार्थ-स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त होता है जिसे 'विवेकसाक्षात्कार' कहा गया है ।[4] इस 'विवेक' 'साक्षात्कार' के ही द्वारा साधक को दो प्रकार की सिद्धियों की उपलब्धि होती है । ये सिद्धियाँ हैं — सर्वभावाधिष्ठातृत्व' और 'सर्वज्ञातृत्व' । 'धर्ममेघसमाधिनिष्ठ' योगी इन दोनों प्रकार के सिद्धियों के प्रति 'अकुसीद' रहता है अर्थात् दोनों में से किसी भी सिद्धि को अपनाने की इच्छा नहीं करता हुआ, निरन्तर प्रसंख्यान रूप विवेकख्याति में ही लीन रहता है ।

यह धर्ममेघसमाधि 'क्लेशकर्मादि' का समूल विनाश करती है और धर्म की वर्षा करती है ।[5] इसी आधार पर इस समाधि का नाम 'धर्ममेघ-समाधि' दिया गया है । इस समाधि में क्लेश, कर्म और संस्कारों का आत्यन्तिकदाह हो जाने के कारण साधक जीवित रहता हुआ भी मोक्ष की दशा का अनुभव प्राप्त करता है । इस अनुभव के ही कारण उसे जीवन्मुक्त भी कहा गया है ।[6] जीवन्मुक्त साधक के ज्ञान का प्रकाश 'अनन्त' तथा 'विभु' होता है । अतः उस अनन्त ज्ञान के प्रकाश के समक्ष 'ज्ञेय' अल्प

---

1 - " कैवल्याख्यं परं धर्मं वर्षतीति धर्ममेघः इति संज्ञा ।" — विवरण पृ0 36 3

2 - " मूलैः क्लेशैः सहोच्छिन्ना भवन्ति ।" — वही पृ0 36 3 ।

3 - " सर्वथा निरन्तरं विवेकख्यात्युदयाद्धर्ममेघनाम्नी सम्प्रज्ञातयोगस्य पराकाष्ठा भवतीत्यर्थः ।" — यो0वा0पृ0 455 ।

4 - " प्रसंख्यानं विवेकसाक्षात्कारः ।" — वही पृ0 455 ।

5 - " क्लेशकर्मादीनां निःशेषोन्मूलकं धर्मं मेहति वर्षतीति धर्ममेघः ।" — वही पृ0 455 ।

6 - " अत्र जीवन्मुक्तस्य सवासनक्लेशात्यन्तनाशाभिधानात् ।" — वही पृ0 456 ।

भासित होता है अर्थात् उसके लिए अब और कुछ शेष नहीं रह जाता ।[1] 'धर्ममेघ-समाधि' में 'सर्वज्ञातृत्व' नामक सिद्धि के प्रति भी परवैराग्य द्वारा वैराग्योदय होने पर ही असम्प्रज्ञात एवं 'कैवल्य' नामक योग की प्राप्ति होती है ।[2] इस प्रकार धर्ममेघ-समाधि का कैवल्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है ।

योगदीपिका

धर्ममेघसमाधि सम्प्रज्ञातसमाधि की ही पराकाष्ठा है । इस समाधि में योग के विघ्नों का सर्वथा अभाव हो गया होता है और निरन्तर विवेकख्याति का उदय होता रहता है ।[3] इस समाधि का 'धर्ममेघ' नाम क्यों रखा गया है, इस संबन्ध में योगदीपिकाकार ने लिखा है -- ' इस समाधि में उत्तम योग के धर्म की वर्षा होती है अतः इस समाधि का नाम 'धर्ममेघ' है ।[4]

'धर्ममेघसमाधि' में साधक को प्रकृति, पुरुष के स्वरूप का विविक्तज्ञान प्राप्त होता है, जिसे 'विवेकसाक्षात्कार' कहा गया है । विवेकसाक्षात्कार के साथ ही उसे 'सर्वभावाधिष्ठातृत्व' और 'सर्वज्ञातृत्व' नामक सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं । परन्तु जब साधक इन सिद्धियों के प्रति किसी भी प्रकार से आसक्त नहीं होता है तब उसे 'अकुसीद' कहा जाता है । साधक जब सिद्धियों के प्रति 'अकुसीद' होकर उनकी उपेक्षा करता हुआ निरन्तर 'विवेकख्याति' में ही लीन रहता है तब धर्ममेघसमाधि होती है ।

'धर्ममेघसमाधि में' क्लेश, कर्माशयों का निःशेष नाश हो जाता है अतः वे पुनः चित्त में उदित नहीं होती और साधक इनसे विनिर्मुक्त हुआ केवल विवेकख्यातियुक्त धर्ममेघसमाधि में स्थित होकर जीवन्मुक्त की दशा का अनुभव करता है । इस समय साधक के ज्ञान के अनन्त प्रकाश के सम्मुख 'ज्ञेय' 'अल्प' भासित होता है । अर्थात् इस समाधि में साधक का ज्ञान अनन्त तथा व्यापक होता है ।

- -

1 - " ज्ञानस्य सत्त्वप्रकाशावरणमलापायादिति विभुत्वात् ज्ञेयं प्रकाश्यमल्पं तदेवाल्पं भवतीत्यर्थः ।" — यो०भा०पृ० 457 ।

2 - " यथोक्तसार्वज्ञ्यतत्परवैराग्योपयोगात् अवान्तरपरवैराग्यं प्रारब्धयोगसमाधिलब्धं वा तृतीयं मुख्यमत्रमाह – ।" — वही पृ० 458 ।

3 - " योगविघ्नाभावेन सर्वथा निरन्तरं विवेकख्यात्युदयाद्धर्ममेघनाम्नी सम्प्रज्ञातस्य पराकाष्ठा भवतीत्यर्थः ।" — यो०दी०पृ० 100 ।

4 - " उत्तमं योगजधर्मं मेहति वर्षतीति धर्ममेघः ।" — वही पृ० 100 ।

पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति

इस व्याख्या में इस विषय का प्रतिपादन योगवार्तिका के ही अनुरूप किया गया है । व्याख्या की पंक्तियाँ अक्षरशः मिलती हैं । अतः इस व्याख्या के अनुसार भी 'धर्ममेघ-समाधि' का स्वरूप वही हुआ जैसा योगवार्तिका में प्रतिपादित है ।

मणिप्रभा

सांख्ययोग में प्रतिपादित 26 वों तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर बुद्धि और पुरुष का विविक्तज्ञान ही विवेकख्याति है । इस विवेकख्याति से सर्वज्ञता तथा सर्वाधिष्ठातृ-त्वादि रूप फलों की प्राप्ति होती है परन्तु जब साधक को इन फलों के प्रति कोई राग नहीं होता तब वह उन्हें नहीं अपनाता है और निरन्तर विवेकख्याति में ही निष्ठ होने पर धर्ममेघसमाधि को प्राप्त करता है । विवेकख्याति से प्राप्त फलों के प्रति रागरहित होना ही अकुसीद है । अकुसीद यहाँ विवेकख्यातिनिष्ठ साधक का विशेषण है । प्रसंख्यान के प्रति वैराग्य होने पर ही 'धर्ममेघसमाधि' होती है । धर्ममेघसमाधि के प्रति परवैराग्य होने पर प्रसंख्यान का भी निरोध हो जाता है और तब चित्त निर्बीज या असम्प्रज्ञातसमाधि में स्थित हो जाता है ।

धर्ममेघसमाधि के उदित होने से क्लेशादि समूल विनष्ट हो जाते हैं । अतः धर्ममेघ समाधि का कैवल्य की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

योगसूत्रार्थबोधिनी

'धर्ममेघसमाधि' सम्प्रज्ञातयोग की पराकाष्ठा है ।[2] निरन्तर विवेकसाक्षात्कार का होना ही धर्ममेघसमाधि है । साधक को इस समाधि के प्राप्त ज्ञान के प्रति किसी भी प्रकार का राग नहीं होता अर्थात् वह विवेकसाक्षात्कार के प्रति आसक्ति-रहित होता हुआ, अपनी समाधि में स्थित रहता है । इस समाधि में अविद्यादिक्लेश तथा संस्कार सभी कुछ योग

- -

1 - " षड्विंशतितत्त्वाभ्यासतः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिर्या जायते सर्वाधिष्ठातृत्वाद्युप-लक्षफला तत् प्रसंख्यानम् तत्र 'अकुसीदस्य' कुत्सितेषु विषयेषु सीदतीति कुसीदो रागः तद्रहितस्य सर्वात्मना विवेकख्यातिरेव सन्ततिरूपो 'धर्ममेघसंज्ञ' 'समाधि' र्भवति ।"

— मणिप्रभा पृ0 89 ।

2 - " समाधि धर्ममेघनामसम्प्रज्ञातयोगस्य पराकाष्ठा भवतीत्यर्थः ।"

— यो0सू0बो0 पृ0 60 ।

के बिना ही नष्ट हो जाते हैं और साधक जीवित रहता हुआ भी, धर्म, अधर्म से विमुक्त होकर जीवन्मुक्त की दशा का अनुभव करता है।

विवेकख्यातिरत जीवन्मुक्त का ज्ञान अनन्त प्रकाश के कारण इतना अधिक व्यापक हो जाता है कि उस व्यापक और अनन्त ज्ञान के सामने 'ज्ञेय' अल्प हो जाता है।

भास्वती

विवेकख्याति से प्राप्त होने वाली सिद्धियों के प्रति रागरहित होना 'अकुसीद' है। विवेकज सिद्धियों को जब साधक कुत्सित मानकर उनके प्रति आसक्ति रहित होकर केवल विवेकख्याति में ही लीन रहता है तब उसे धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होती है। निरन्तर विवेकख्याति होती रहने वाली समाधि को धर्ममेघसमाधि की संज्ञा इसलिए दी गई है क्योंकि इस समाधि में कैवल्य रूपी धर्म की वर्षा होती है। जिस प्रकार वर्षा से तालाब इत्यादि बिना किसी प्रयत्न के जल से परिपूर्ण हो जाते हैं उसी प्रकार धर्ममेघसमाधि के द्वारा बिना किसी अन्य प्रयत्न के ही साधक को कैवल्य का लाभ प्राप्त होता है। धर्ममेघसमाधि से सभी क्लेशकर्मादि समूलविनष्ट हो जाते हैं और साधक जीवन्मुक्त हो जाता है।

भास्वतीकार ने विवेकख्याति से प्राप्त सिद्धियों का नाम निर्देश नहीं किया है। केवल 'सिद्धियाँ' लिखा है अतः यह विचार किया जाता है कि यदि कोई नई बात कहनी होती तो व्याख्याकार अवश्य ही लिखते, यहाँ केवल 'सिद्धियाँ' शब्द से भाष्यकार द्वारा वर्णित सिद्धियाँ ही समझनी चाहिए।

- -

1 - " उत्पन्नसाक्षात्कारात् क्लेशाः संस्कारा अविद्यादयः क्लेशः रागम्। एवं कर्मप्रारब्धमिन्नं सत्य च भोगं विनैव नाशं - - - - जीवन्नेव हि विद्वान् हर्षामर्षाभ्यां विमुक्तो भवतीति।"

— यो०सु०वी० पृ० 60।

परस्पर विलक्षण जितने भी पदार्थ हैं सभी का क्रम से आवश्यिक ज्ञान ही 'तत्त्वज्ञान' है । इस 'तत्त्वज्ञान' के लिए ही दूसरा शब्द 'प्रसंख्यान' प्रयुक्त किया गया है । 'तत्त्वज्ञान' के द्वारा साधक को 'सर्वभावाधिष्ठातृत्व' और 'सर्वज्ञातृत्व' नामक दो प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । परन्तु जब साधक इन सिद्धियों के परिणामदोष का दर्शन कर उनके प्रति विरक्त हो जाता है तब सर्वदा 'विवेकख्याति' ही होती रहती है । यह विवेकख्याति दृढ़ भूमिवाली होती है, इसमें अविद्यादि क्लेशों और संस्कार रूप बीजों का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है । इस प्रकार की विशेषताओं से सम्पन्न समाधि ही 'धर्ममेघसमाधि'[1] कही गई है । इस समाधि में विवेकख्याति रूपी धर्म की वर्षा होती है ।[2] धर्ममेघसमाधि में क्लेशकर्मों का आत्यन्तिक और समूल विनाश हो जाने के कारण शुक्ल, कृष्ण शुक्ल कृष्णादि भेद से युक्त त्रिविध कर्मों से हमेशा के लिए छुटकारा मिल जाता है और साधक जीवनमुक्त हो जाता है । जीवन्मुक्त की दशा में साधक का ज्ञान अनन्त विस्तार वाला होता है । इस समय वह सारे जगत को हस्तामलक की भाँति देखता है ।[3]

- -

1 - " सर्वथा विवेकख्यातिरेव दृढ़भूमिर्भवति, विवेकख्यातिकारणीभूतं तत्त्वज्ञानं च निरुध्यते, विवेकख्यातिमतस्तस्य संस्काररूपस्य बीजस्याऽऽत्यन्तिकनाशात्क्लेशादिव्युत्थानानि न जायन्ते तदा धर्ममेघसमाधिरुच्यते इति । "

— स्वा०ना०भा०पृ० 321 ।

2 - " क्लेशकर्मादीनां निःशेषनोन्मूलकं विवेकख्यात्यात्मकं धर्मं मेहति वर्षतीति धर्ममेघ इति । "

— वही पृ० 321 ।

3 - " एवंविधे तत्त्वप्रकाशे सति यथासर्वं योगी समष्टं व्यष्टं वा यथावद् विज्ञातुं समभिलषति तत् तत् सर्वं गोचरीकरणायत्नेन हस्तामलकवत् पश्यति । "

— वही पृ० 322 ।

व्यासभाष्य

क्षणों की निरन्तरता अर्थात् क्षणों का निरन्तर बिना किसी बाधा के प्रवाहित होते रहना ही 'क्रम' है। दो क्षणों की साथ स्थिति असम्भव है, उनके बीच क्रम का होना अनिवार्य है। पहले वाले क्षण के समाप्त होने पर पश्चात् क्षण का अनन्तर रूप से आविर्भाव क्रमों से ही होता है। क्रम का स्वरूप न तो पूर्वक्षण में होता है न पर-क्षण में होता है। यह पूर्व क्षण के नष्ट होने और पश्चात् क्षण के आने के बीच निरन्तरता रूप का है। अर्थात् क्षणों का नैरन्तर्य ही क्रम है। क्रम का ज्ञान क्षणों के परिणाम के अन्त से होता है। इसको स्पष्ट करने के हेतु भाष्य का उदाहरण बहुत ही सार्थक है। यथा – जिस प्रकार नया वस्त्र एकाएक पुराना नहीं हो जाता, जिस दिन जिस क्षण वह खरीदा जाता है उसी क्षण से क्रमशः उसमें पुरातनता आने लगती है। इस प्रकार वस्तु के 'नवीनत्व' नामक परिणाम क्रम की समाप्ति होने पर ही उसके पूर्व के क्षणों से संबंधित 'क्रम' का अनुमान कर लिया जाता है।

'क्रम' नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के पदार्थों में होता है। अनित्य पदार्थों में क्रम की समाप्ति देखी जा सकती है यथा बुद्ध्यादि विकारों में परिणाम के अन्त से ज्ञात होने वाले क्रम की समाप्ति देखी जाती है अर्थात् जब बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियादि प्रकृति के विकारों का अन्तर्भाव प्रकृति में हो जाता है तब उनके परिणाम क्रम की समाप्ति हो जाती है।

नित्यता दो प्रकार की होती है।[3] (1) परिणामिनित्यता (2) कूटस्थ-नित्यता। परिणामिनित्यता गुणों में होती है। त्रिगुण का स्वभाव प्रतिक्षण परिणमित होते रहना है। प्रतिक्षण परिणमनशील होने पर भी गुणों का यथार्थस्वरूप नष्ट नहीं होता अतः इन्हें परिणामिनित्य की संज्ञा दी गई है। परिणामिनित्य में क्रम की समाप्ति

---

1 - "पूर्वस्माद् उत्तरधर्मिणो यदानन्तर्यं क्षणस्य स क्रमः।" — व्यासभाष्य पृ0 383।

2 - "क्षणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्तेनावसानेन गृह्यते क्रमः।" — वही पृ0 459

3 - "द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थ नित्यता पुरुषस्य। परिणामिनित्यता गुणानाम्।" — वही पृ0 459।

नहीं होती क्योंकि त्रिगुण कभी भी नष्ट नहीं होते । त्रिगुणों का परिणमन 'सदृश' और 'विसदृश' प्रकारक होता है, विसदृश परिणाम द्वारा ही बुद्ध्यादि विकारों की रचना होती है । अतः जब बुद्ध्यादि अव्यक्तभाव को प्राप्त हो जाते हैं, और गुणों के कृतार्थ हो जाने पर गुणों के विसदृशपरिणाम की अविरतधारा समाप्त हो जाती है, तब सदृशपरिणाम की धारा विद्यमान रह जाती है । गुणों के संबन्ध में यह ज्ञातव्य है कि उनकी सदृश-परिणमनशीलता कभी भी नष्ट नहीं होती । अतः परिणामिनित्य में भी क्रम की समाप्ति नहीं होती ।

अपरिणामिनित्य अथवा कूटस्थनित्य में परिणामों का क्रम नहीं होता क्योंकि क्रम परिणामों के अन्त में होता है, पुरुषतत्व कूटस्थनित्य है उसमें परिणाम नहीं होता अतः उसमें क्रम का ग्रहण नहीं किया जा सकता । मुक्त पुरुष स्वरूपप्रतिष्ठित स्थिति को एकाएक नहीं प्राप्त कर लेते । निरन्तर प्रयत्नों के फलस्वरूप ही उन्हें अपने अन्दर स्थित कूटस्थनित्य-स्वरूप का बोध होता है । यह बोध निरन्तर साधना के द्वारा ही प्राप्त होता है । यह स्वरूप-अस्तिता रूप बोध क्रमशः ही प्राप्त होता है अतः पुरुषों में भी 'क्रम' विकल्पित किया जाता है । परन्तु पुरुषों में क्रम की कल्पना मात्र की जा सकती है यथार्थतः उनमें क्रम का ग्रहण कभी भी नहीं हो सकता क्योंकि पुरुष की सत्ता त्रिगुणों से भिन्न है और उसमें किसी भी प्रकार का परिणाम कभी भी घटित नहीं होता है ।

तत्ववैशारदी

क्रम क्षण-समूह पर आश्रित होता है । एक क्षण में क्रम नहीं होता एक क्षण के पश्चात् अनन्तररूप से दूसरे क्षणों का होते रहना ही क्रम है । इसीलिए क्रम को क्षणसमूहाश्रयी कहा गया है । परिणाम का पर्यवसान होने पर क्रम लक्षित होता है। इसीलिए क्षणों की परिणाम धारा के पौर्वापर्य को ही क्रम कहा गया है ।

- -

1 - " परिणामक्रमः क्षणप्रतियोगी, क्षणः प्रतिसंबन्धी यस्य स तथोक्तः । क्षणपरम्पराश्रयः इत्यर्थः । न जातु क्रमः क्षणानन्तर्यमन्तरेण शक्यो निरूपयितुम् । न चैकस्य क्षणस्य क्रमः । तस्मात्क्षणपरम्पराश्रयः परिशिष्यते ।" — त0वै0सू0 459 ।

क्रम का स्वरूप स्पष्टतः नहीं प्रकाश में आता प्रत्युत परिणाम का पर्यवसान होने पर ही क्रम का स्वरूप लक्षित होता है । इस सम्बन्ध में भाष्य में प्रयुक्त उदाहरण का इन्होंने भी समर्थन किया है । अनित्य पदार्थों में परिणामक्रम दिखाई पड़ता है परन्तु नित्य पदार्थों में परिणामक्रम होता है या नहीं इस विषय का विवेचन प्रस्तुत करने के लिए पहले नित्यता के ऊपर विचार किया गया है । नित्यता दो प्रकार की बताई गई है । कूटस्थ नित्यता और परिणामिनित्यता । कूटस्थनित्यता का अर्थ है "जो अपने स्वभाव से कभी भी नहीं हटे अर्थात् जो सदैव स्थिर रहे उसे ही कूटस्थनित्य कहा गया है ।[1] पुरुष ही कूटस्थनित्य है, यह अपरिणामी है अतः इसमें "परिणामक्रम" नहीं हो सकता ।

'प्रधान' परिणामिनित्य है । यद्यपि प्रधान भी नित्यतत्त्व है परन्तु इसमें निरन्तर रूप से परिणामों का क्रम चलता रहता है क्योंकि यह त्रिगुणात्मक है । त्रिगुण सर्वदा परिणमनशील होते हैं अतः त्रिगुणात्मक प्रकृति भी 'परिणामक्रम' युक्त हुई । परन्तु इसमें परिणामक्रम की कभी भी समाप्ति नहीं होती है, क्योंकि गुणों में परिणाम के क्रम की कभी भी समाप्ति नहीं होती ।[2] प्रकृति जब साम्यावस्था में रहती है तब भी गुणों में परिणाम होता रहता है अतः प्रधान अथवा गुणों में परिणामक्रम की समाप्ति नहीं देखी जा सकती ।

राजमार्तण्डवृत्ति

काल का सबसे छोटा भाग क्षण है । अनुभूत क्षणों में ही क्रम का ज्ञान होता है । अननुभूत क्षणों में क्रम का ज्ञान नहीं होता । अनुभूतक्षणों की निरन्तरता बुद्धि द्वारा ग्रहण करने पर ही 'क्रम' का ज्ञान होता है । क्रम का ग्रहण क्षणों के क्रम से होता है अर्थात् एक क्षण का अवसान होने पर दूसरे क्षण का आविर्भाव क्रम से ही होता है । 'क्रम' के संबन्ध में मूल धारणा की विवेचन राजमार्तण्डवृत्ति में उपलब्ध है । इस व्याख्या में परिणामिनित्य तथा कूटस्थनित्यादि का वर्णन नहीं किया गया है । क्रम के स्वरूप के सम्बन्ध में परिणामों के 'पौर्वापर्य' भाव की अनिवार्यता को भी नहीं स्वीकार किया गया है । इस वृत्ति में क्रम के संदर्भ में 'पौर्वापर्य' शब्द का उल्लेख नहीं किया गया है ।

---

1 - "ननु कूटस्थ स्वभावादप्रच्युतमस्तु नित्यम् ।" — त०वै०पृ० 460 ।

2 - "प्रधानस्य तु परिणामक्रमो न समाप्तपर्यवसानः ।"
"गुणेभ्य समाप्तपर्यवसानः परिणामक्रम इत्युक्तम् ।"
— वही पृ० 460 ।

विवरण

'क्रम' क्षणों के साथ रहने वाला होता है।[1] क्षणों के मध्य आनन्तर्य का होना ही 'क्रम' है। इस प्रकार क्षणसमूह में अखिल रहने वाला 'क्रम' क्षणों का आनन्तर्यरूप है।[2] क्रम के अस्तित्व का अनुमान अनित्य पदार्थों तथा घटादि में सरलता से परिलक्षित हो जाता है।[3] परन्तु नित्य पदार्थों यथा पुरुष जो कूटस्थनित्य है उसमें क्रम का अस्तित्व नहीं होता। पुरुष अपरिणामि नित्य है, कूटस्थ नित्य है अतः उसमें क्रम नहीं होता है।[4] इसके विपरीत गुण जो नित्य होते हैं उनमें परिणामक्रम दृष्ट होता है। उनमें परिणाम क्रम का अवसान नहीं होता। गुणों के धर्म यथा महदादि में परिणामक्रम का अन्त लब्ध होता है अर्थात् उनमें परिणाम-क्रम 'लब्ध-पर्यवसान' होता है।

योग वार्तिक

क्षणों की अनन्तरता ही क्रम है। विज्ञानभिक्षु ने परिणामधारा के पौर्वापर्य को क्रम के लिए महत्वपूर्ण नहीं माना है। अविरत परिणामधारा में ही क्रम का अनुमान किया जाता है।[5] अनित्य पदार्थों में ही क्रम की समाप्ति का अनुमान किया जा सकता है प्रधान में नहीं, क्योंकि प्रधान परिणामशील होते हुए भी नित्यतत्व है।[6] इसके विपरीत

- -

1. "क्षणं प्रति युज्यत इति क्षणप्रतियोगी।" — विवरण पृ0 365।
2. "तत्र क्षणस्य क्षणान्तरः पश्चात्पः अविच्छेदो नैरन्तर्यं तथा भवितुं शीलं यस्य क्षणस्य प्रत्यासत्तिरेव भाविनः क्षणस्य यत् आनन्तर्यं सः क्षणस्य क्रमः।" — वही पृ0 309
3. "तत्रानित्येषु घटादिषु क्रमो दृष्टः।" — वही पृ0 366।
4. "परमार्थतः पुरुषेष्वपरिणामित्वान्नास्ति क्रम इत्यर्थः।" — वही पृ0 367
5. "क्षणप्रतियोगी क्षणानन्तरस्य विरोधी क्षणेनाव्यवहित इति यावत्। एवंरूपोऽत्र क्रमो विवक्षितो न तु पौर्वापर्यं मात्रमिति विज्ञेयमर्थः।" — यो0वा0 पृ0 461।
6. "प्रधानस्य नित्यत्वेनानित्येष्वेव क्रमः सिद्धो न तु प्रधानेऽपि, तस्य स्वरूपावस्थाया अभावात्।" — वही पृ0 461।

बुद्ध्य आदि में क्रम की समाप्ति देखी जाती है क्योंकि बुद्ध्यादि अनित्य है[1]। इनका पर्यवसान भी होता रहता है। इस प्रकार यह सर्वथा निश्चित है कि परिणाम-क्रम की समाप्ति अनित्य पदार्थों में ही होती है, नित्य पदार्थों में नहीं। परन्तु पुरुष में तो परिणाम-क्रम भी नहीं होता कारण वह 'अपरिणामी' तथा 'कूटस्थनित्य' है। यद्यपि चित्त-पुरुष में परिणाम का अध्यासमात्र होता है, वस्तुतः वह भी परिणाम-क्रम से अछूता ही रहता है।

योगदीपिका, पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

प्रारम्भिक क्षण के पश्चात दूसरे क्षण का अनन्तररूप से आते रहना ही क्रम का स्वरूप है। क्षणों की अनन्तरता ही क्रम का स्वरूप है। क्रम के स्वरूप में पौर्वापर्य को नहीं स्वीकार करना चाहिए।[2] ऐसा 'योगदीपिकाकार' का मत है। क्रम का ज्ञान परिणामों के पर्यवसान तथा उनकी उत्पत्ति से होता है। क्रम की समाप्ति अनित्य पदार्थों में देखी जाती है। अनित्य पदार्थों 'वस्त्र' और 'सुवर्ण' का उदाहरण दिया गया है। इनमें प्रारम्भ से अन्त तक क्रम दृष्ट होता है। जगत की सृष्टि का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है अतः इसमें भी परिणाम की अविच्छिन्न धारा का अनुमान किया जाता है। सृष्टि की प्रक्रिया गुणों के परिणामस्वरूप ही होती है। चूंकि गुणों को परिणामिनित्य कहा गया है अतः त्रिगुणात्मक जगत में भी यद्यपि परिणाम-क्रम दृष्ट होता है परन्तु उनका नाश कभी भी नहीं होता। क्योंकि सृष्ट्यादि के प्रवाह का अत्यन्ताभाव कभी नहीं होता।

योगदीपिकाकार ने नित्यता का विवेचन नहीं किया है। साथ ही परिणाम-क्रम की समाप्ति को भी नहीं स्वीकार किया है। इस व्याख्या के अनुसार अनवच्छिन्न-परिणामधारा का ही अनुमान किया जाना चाहिए। पातंजलयोगसूत्रवृत्तिकार की व्याख्या योगदीपिका की भाँति है अतः इस व्याख्या में प्रतिपादित विवेचन को यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है।

- -

1 - " बुद्ध्यादिषु महदादिषु तत्पर्यवसानो विनाशित्वादित्यर्थः।"
— योगवार्तिक 462।

2 - " अनन्तरयोगी क्षणप्रवाहावसरस्य विरोधि-क्षणेनाप्यनन्तरित इति यावत्। एवं रूपोऽयं क्रमो विवक्षितो न तु पौर्वापर्यमात्रमिति विशेषणार्थः। परिणामस्य पूर्वधर्माप्यये धर्मान्तरोत्पत्तिरित्युक्तम्।"
— यो०दी०सू० 102।

'क्रम' क्षणसमूह पर आश्रित रहने वाला होता है । क्षणों के परिणामों का पौर्वापर्य ही क्रम है [1] । 'क्रम' क्या है ? इसका स्पष्टीकरण इस व्याख्या में इस प्रकार से किया गया है । यह पूर्वक्षण है और यह उत्तरक्षण है इस प्रकार पूर्व और उत्तर रूप क्षणों का पौर्वापर्य ही 'क्रम' है [2] । इस क्रम में संयम करने से सूक्ष्म पदार्थों का भेदज्ञान या विवेकख्याति होती है । यहाँ यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि 'क्रम' 'क्षण' को नहीं कहा जा सकता प्रत्युत क्षणसमूह के मध्य क्रमिकता या अनन्तरता ही 'क्रम' है । अब प्रश्न उठता है कि यह 'क्रम' क्या 'नित्य' पदार्थों में रहता है या 'अनित्य' पदार्थों में रहता है ?

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार से दिया गया है । नित्यता दो प्रकार की बताई गई है । (1) कूटस्थ-नित्यता (2) परिणामि नित्यता । कूटस्थनित्य पुरुष है और परिणामिनित्य गुण हैं । मणिप्रभाकार ने भी बुद्ध्यादि को अनित्य माना है । इनके अनुसार परिणाम क्रम सावधिक और निरवधिक होता है । बुद्धि आदि अनित्य पदार्थों में यह परिणाम क्रम 'सावधिक' होता है । 'परिणामिनित्य' गुणों में यह परिणाम-क्रम 'निरवधिक' होता है । सावधिक का अर्थ है एक निश्चित अवधि के पश्चात् परिणाम की समाप्ति का होना । निरवधिक शब्द का अर्थ है – जिसके परिणाम-क्रम की समाप्ति ही न हो । परिणामिनित्य में परिणामक्रम की समाप्ति नहीं होगी और 'बुद्धि' के परिणाम-क्रम की समाप्ति पुरुषसाक्षात्कार प्राप्त हो जाने के पश्चात् हो जाती है । अतः एक निश्चित अवधि के पश्चात् परिणाम-क्रम की समाप्ति देखी जा सकने के कारण ही बुद्धि के संदर्भ में परिणाम-क्रम को सावधिक कहा गया है [3] । कूटस्थ पुरुष में 'क्रम' का अस्तित्व नहीं होता है । बुद्धि आदि से सम्बद्ध पुरुष में भ्रमवश क्रम का आरोप भले कर लिया जाये परन्तु वस्तुतः पुरुष क्रम से सर्वथा रहित है क्योंकि वह अपरिणामी है तथा कूटस्थनित्य है [4] ।

---

1 – " क्षणा प्रतियोगिनो निरन्तरो यस्य स क्षणप्रतियोगी ।"
" 'क्षण प्रतियोगी' 'क्रम' इति पदस्य विशेषणम् ।" – मणिप्रभा पृ0 91 ।

2 – " क्षणप्रत्यासत्त्या पूर्वक्षणोऽयमुत्तरक्षण इति क्षणानां, तेषां क्रमस्य, पौर्वापर्यस्य संयमादतिसूक्ष्माणां भेदसाक्षात्कारो विवेकजं भवति ।" — वही पृ0 71 ।

3 – " अनित्येषु बुद्ध्यादिषु धर्मेषु रागादि-परिणामक्रमस्य पुरुषख्यातेऽपवर्गान्तः पुरुषसाक्षात्कारोऽवसान इति क्रमः तेषु सावधिकः, गुणेषु परिणामिनित्येषु परिणामक्रमो निरवधिकः ।" — वही पृ0 92 ।

4 – " कूटस्थ नित्येषु पुरुषेषु बुद्ध्यादिपरिणामैरारोपमात्रकल्पितः क्रमो न वास्तव इति सर्वमवदातम् ।" — वही पृ0 92 ।

योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्त-चन्द्रिका

'क्रम' के स्वरूप का निर्वचन इस व्याख्या में 'मणिप्रभा' के ही सदृश किया गया है ।

भास्वती

'क्रम' क्षणों का प्रतियोगी है[1] अतः इसे क्षणसमूह पर आश्रित रहने वाला कहा गया है । क्रम का ज्ञान परिणामों के पौर्वापर्य्य से होता है[2] अर्थात् क्षणों में अविच्छिन्न परिणामधारा का नैरन्तर्य ही 'क्रम' है ।[3] किसी भी अनित्य नवीन पदार्थ में पुरातनता परिणामक्रम से ही देखी जाती है । परिणामक्रम नित्यपदार्थों में भी पाया जाता है । नित्य पदार्थ दो प्रकार के बताए गए हैं । (1) परिणामिनित्य (2) कूटस्थनित्य । परिणामिनित्य में परिणामों की अविरलधारा प्रवाहित होती रहती है अतः इसमें परिणामक्रम स्वाभाविक रूप से पाया जाता है । कूटस्थनित्य गुणों से परे है । यह शाश्वतनित्य सत्य है । इसमें क्रम का अनुमान कल्पना से किया जाता है ।

परिणामिनित्य का स्वरूप सत्व, रज और तमोगुणयुक्त होता है अर्थात् प्रकाश क्रिया और स्थितिशीलता ही गुणों का स्वभाव है । त्रिगुण सर्वदा परिणमनशील रहते हैं अतः इन्हें परिणामिनित्य कहा गया है । इनके स्वरूपगत परिणाम का कभी भी अन्त नहीं होता है अतः इनमें क्रम की समाप्ति नहीं देखी जाती है । 'कूटस्थनित्य' में परिणाम नहीं होता फिर भी कल्पना के आधार पर कूटस्थनित्य में भी क्रम के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है । चूंकि पुरुषतत्व कूटस्थनित्य है अतः इसमें कल्पनया आरोपित 'क्रम' का भी अन्त नहीं देखा जाता । पुरुष में शाब्दी-कल्पना के द्वारा आरोपित 'क्रम' से इसकी कूटस्थ-नित्यता को किञ्चिन्मात्र भी हानि नहीं होती ।

भक्षणपर्यवसान की व्याख्या भास्वतीकार ने उक्त व्याख्याकारों के भिन्न रूप में किया है । त्रिगुण नित्यतत्व हैं । उनका स्वरूप सत्व, रज और तमोगुणयुक्त है । सत्वगुण प्रकाश का द्योतक रजोगुण क्रियाशीलता का द्योतक और तमोगुण जड़ता का द्योतक है ।

- -

1 - " क्षणानां सततिमान् क्षणावसरव्यापीत्यर्थः ।" — भास्वती पृ० 449 ।

2 - " परिणामधाराविरलं प्रवाहः क्रम इत्यर्थः ।" — वही पृ० 450 ।

3 - " क्षणव्यापिनां परिणामधाराणां नैरन्तर्यमेव क्रम इत्यर्थः ।" — वही पृ० 450 ।

ये तीनों गुण कभी भी नष्ट नहीं होते । इनका परिणाम सदृश और विसदृश भेदों वाला होता है । विसदृश-परिणाम से ही सृष्टि की प्रक्रिया होती है । 'विसदृश' परिणाम का अन्त होने पर भी सदृशपरिणाम उनमें होता रहता है । अतः इन्हें परिणामिनित्य कहा गया है । पुरुषतत्त्व में भी प्रकाश, क्रिया और स्थिति का उत्कर्ष शाश्वत रूप से विद्यमान रहता है परन्तु पुरुषतत्त्व का यह स्वरूप त्रिगुणात्मक नहीं होता । पुरुष का यह स्वरूप अकृष्टसत्त्व-से युक्त होता है । अकृष्टसत्त्व के द्वारा पुरुषकी कूटस्थता में कोई बाधा नहीं पड़ती ।

स्वामिनारायणभाष्य

क्रम क्षणसमूह पर आश्रित होता है[1] । क्रम का ज्ञान हमें परिणामों के अन्त से होता है । एक परिणाम का अन्त होने पर तुरन्त नवीन परिणाम का आ जाना अर्थात् परिणामों की अविच्छिन्न धारा को ही क्रम कहा जाता है[2] । जिस प्रकार दीपक में अविच्छिन्न ज्योति अविच्छिन्नपरिणामधारा को प्रकट करती है उसी प्रकार नित्य पदार्थों में भी क्रम की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहती है । नित्यता दो प्रकार की होती है (1) कूटस्थनित्यता (2) परिणामिनित्यता । कूटस्थनित्यता पुरुष में व्याप्त है और परिणामि-नित्यता गुणों में तथा प्रधान में व्याप्त है ।

कूटस्थनित्य में स्वरूपास्तित्वता का ज्ञान क्रम से ही होता है । यहाँ क्रम का आरोप व्यावहारिक ज्ञान के लिए किया गया है । अर्थात् पुरुषतत्त्व गुणों से पृथक् सत्ता है । परिणामों की अविच्छिन्नधारा इसमें नहीं होती अतः इसमें क्रम का ग्रहण नहीं हो सकता परन्तु 'स्वरूपास्तिता' का ज्ञान क्रम से ही होता है अतः इस क्रमिक ज्ञान के कारण पुरुष तत्त्व में भी क्रम का आरोप किया जा सकता है । 'पुरुषतत्त्व' शाश्वत, नित्यसत्ता है अतः इसमें क्रम का भी अन्त नहीं देखा जा सकता है ।

अब परिणामिनित्य में क्रम का स्वरूप देखिये । गुणों को 'परिणामिनित्य' कहा गया है । गुणों का स्वभाव ही नित्यपरिणमनशील होते रहना है अतः गुणों को नित्य-परिणामी कहा गया है । नित्य होने के कारण इनमें भी क्रम की समाप्ति नहीं देखी जाती है । गुणों के विकार यथा - बुद्धि, इन्द्रिय, अहंकारादि तिरोभूत होते रहते हैं अतः इनमें परिणाम क्रम की समाप्ति देखी जाती है ।

- -

1 - "क्षणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ।" - स्वा०न०भा० पृ० 323

2 - " परिणामस्य क्रमो नाम - परिणामस्याविच्छिन्नक्रमिकधारा ।"
— वही पृ० 323 ।

कैवल्य का स्वरूप

व्यासभाष्य

पातंजलयोगदर्शन में 'कैवल्य' के स्वरूप का विवेचन चारों अध्यायों में प्राप्त होता है । प्रथम-अध्याय के तीसरे सूत्र के भाष्य में सबसे प्रथम विवेचन कैवल्य के संबन्ध में प्राप्त होता है । यहाँ पर भाष्यकार ने कैवल्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला है । कैवल्य की स्थिति में पुरुष अपने स्वरूप में स्थित रहता है । इस अवस्था में पुरुष को वृत्ति-सारूप्य नहीं होता है । इसी अध्याय के 51वें सूत्र के भाष्य में निर्बीजसमाधि के स्वरूप का उल्लेख किया गया है । निर्बीजसमाधि में चित्त में केवल निरोधसंस्कार शेष रह जाते हैं । ये निरोध-संस्कारयुक्त चित्त ही कैवल्य के योग्य है । कैवल्य प्राप्त योगी अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है । जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तथा केवल निरोध संस्कार ही शेष रह जाते हैं तब ये निरोध-संस्कार चित्त के साथ ही प्रकृति में लीन हो जाते हैं और तब चित्त को कैवल्य प्राप्त होता है अर्थात् चित्त मुक्त हो जाता है और इस अवस्था में पुरुष अपने आप में ही अवस्थित हो जाता है ।

द्वितीय-अध्याय के 22वें सूत्र के भाष्य में जीवनमुक्त तथा विदेह-मुक्त के विषय में विवेचन प्राप्त होता है । जीवनमुक्त तथा विदेहमुक्त का दृश्यरूप बुद्धि से संबन्ध नहीं रह जाता क्योंकि उक्त अधिकारी कैवल्य प्राप्त कर लेते हैं अतः बुद्धि का इनके साथ कोई संबन्ध नहीं रह जाता । 23वें सूत्र के भाष्य में भोग और अपवर्ग का उल्लेख किया गया है । द्रष्टा और दृश्य के संयोग की दशा का नाम भोग है। इसके विपरीत द्रष्टा जब अपने यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है तब अपवर्ग की स्थिति को प्राप्त करता है । इस प्रकार केवल अविद्या का न होना अर्थात् केवल दर्शन ही साक्षात मोक्ष का कारण नहीं है प्रत्युत अदर्शन का अभाव होने पर संयोग का अभाव हो जाना ही मोक्ष है ।

- -

1 - " तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।" — यो0सू0 1/3 ।

विवेकख्याति होने पर बन्धन के कारण अदर्शन का नाश होता है । अतः विवेकज्ञान को कैवल्य का कारण कहा गया है । 25वें सूत्र के भाष्य में कैवल्य का सर्वाङ्गीण विवेचन प्राप्त होता है । अविद्या का अभाव होने पर पुरुष और बुद्धि का संयोग जो अविद्याजन्य है, उसका आत्यन्तिक नाश हो जाता है अर्थात् त्रिकालों में कभी भी पुनः यह संयोग नहीं होता इसे ही हान कहा गया है । पुरुष का बुद्धि से अलगाव होने पर गुणों से युक्त बुद्धि का कैवल्य होता है । जब कारण ही समाप्त हो जाता है तब पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है । बुद्धि और पुरुष दो पृथक् पृथक् तत्त्व हैं । इन तत्त्वों का भेद ज्ञान ही विवेकख्याति है । विवेकख्याति प्राप्त योगी की प्रज्ञा शुद्ध तथा निर्मल होती है । निरन्तरविवेकख्याति होती रहने से कैवल्य प्राप्त होता है अतः अविप्लवा विवेकख्याति को हान का उपाय कहा गया है ।

द्वितीय-अध्याय के 18वें सूत्र के भाष्य में कैवल्य के लिए अपवर्ग शब्द आया है । अपवर्ग का विश्लेषण इस प्रकार किया है — भोक्तुः स्वरूपावधारणम् अपवर्गः, अर्थात् भोक्ता के स्वरूप का अनुभव ही अपवर्ग है । यहाँ पर बन्धन तथा 'मोक्ष' का विवेचन भी प्राप्त होता है । बुद्धि जब तक पुरुष के लिए भोग का संपादन करती रहती है तब तक पुरुष और बुद्धि बंधे रहते हैं । अतः इस अवस्था में पुरुष बद्ध रहता है, बुद्धि से संबद्ध रहता है और जब बुद्धि कृतकार्य हो जाती है तब पुरुष का बुद्धि से संयोग समाप्त हो जाता है और पुरुषमोक्ष प्राप्त करता है । इसी अध्याय के 27वें सूत्र के भाष्य में मुक्तपुरुष के संदर्भ में जीवन्मुक्त का विवेचन भी प्राप्त होता है । विवेकख्याति-प्राप्त योगी की प्रज्ञा उत्कृष्टतम अन्त वाली होती है । उस समय योगी की स्थिति केवल अनुभव करने वाली होती है । इस स्थिति में योगी की प्रज्ञा सात प्रकार की होती है, (1) हेय का अर्थात् त्याज्य का ज्ञान हो चुका है अब पुनः कुछ भी ज्ञेय नहीं रह गया । (2) अविद्या ही हेय है इस हेय के कारण का क्षय हो चुका है अतः पुनः कुछ भी क्षेतव्य नहीं है । (3) निरोध समाधि द्वारा हान रूप कैवल्य का साक्षात्कार हो चुका है । (4) विवेकख्यातिरूप हान के उपाय की भावना कर ली गई है । ये चार विमुक्तियाँ बुद्धि की कार्यविमुक्तियाँ हैं । बुद्धि इस समय कोई कार्य नहीं करती है केवल अनुभव करने की स्थिति में रहती है । कार्य विमुक्ति के पश्चात् चित्त विमुक्ति का वर्णन है । चित्तविमुक्ति तीन प्रकार की हैं । (5) बुद्धि का कार्य समाप्त हो चुका है, (6) अतः त्रिगुण अपने कारण में चित्त के साथ अस्त हो जाते हैं, (7) पुनः इन गुणों का प्रादुर्भाव नहीं होता क्योंकि गुणों का प्रयोजन भोग तथा अपवर्ग सिद्ध हो चुका है । इस अवस्था में

पुरुष का गुणों से कोई संबन्ध नहीं रह जाता है । वह केवली हो अपने ज्योति-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है ।

तृतीय-अध्याय के 18वें सूत्र के भाष्य में जैगीषव्य मुनि की उक्ति देते हुए मोक्ष में सबसे उत्तम सुख की कल्पना की है । विषय सुख की अपेक्षा संतोष अधिक श्रेष्ठ सुख है परन्तु मोक्ष में जो सुख मिलता है वह संतोषसुख से भी उत्तम है । अतः मोक्ष के अतिरिक्त जितने भी सुख हैं सब दुःख रूप ही हैं ।

26वें सूत्र के भाष्य में विदेह और प्रकृतिलय के स्वरूप का विवेचन किया है । इनकी न तो वस्तुतः मुक्तावस्था है और न सक्रिय लौकिक स्थिति ही होती है । ये चित्त से कैवल्यपद का सा अनुभव करते हुए भव-प्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि में लीन रहते हैं ।

50वें और 55वें सूत्र के भाष्य में विवेकख्याति रूपी अग्नि से क्लेशों का दाह हो जाने पर दग्ध-बीज तुल्य क्लेशों के बीज चित्त में रह जाते हैं जो अन्त में चित्त के साथ ही प्रकृति में लीन हो जाते हैं । चित्त जब प्रकृति में लीन हो जाता है तब पुरुष त्रिगुणात्मक बुद्धि से मुक्त हो जाता है । गुणों से पुरुष का आत्यन्तिक वियोग ही कैवल्य है । कैवल्य की अवस्था में पुरुष अपने स्वरूप में ही अवस्थित हो जाता है ।

चतुर्थ-अध्याय के 34वें सूत्र के भाष्य में कैवल्य का वर्णन आता है । महदादि प्रकृति के विकार हैं । ये सभी विकार त्रिगुणात्मक हैं । त्रिगुणों के परिणामक्रम की समाप्ति हो जाने पर ये प्रकृति में लीन हो जाते हैं । इस प्रकार गुण कृतार्थ हो जाते हैं । इससे पुरुष गुणों के सान्निध्य से रहित केवल अपने स्वरूप में स्थित होता है । पुरुष का अपने स्वरूप में स्थित रहना ही उसका कैवल्य है । पुरुष कैवल्य के लिए अपने आप कोई प्रयत्न नहीं करता । जब गुण कृतकार्य होकर प्रकृति में लीन हो जाते हैं तब वह स्वयमेव ही प्रतिष्ठित होता हुआ केवली हो जाता है । वस्तुतः वह कैवल्य प्राप्त नहीं करता और न ही इसके लिए कोई यत्न करता है क्योंकि वह तो स्वभाव से ही स्वरूपप्रतिष्ठित है । उपाधियों का तो आरोप मात्र उसपर किया जाता है। अतः जब उपाधियों से रहित हो जाता है तब वह अपने शाश्वत् केवली रूप में अवस्थित हो जाता है अतः कैवल्य की प्राप्ति गुणों को होती है । पुरुष के संदर्भ में कैवल्य का अर्थ बुद्धि आदि उपाधियों से रहित सर्वदा अपने स्वरूप में स्थित रहना है । इस प्रकार वास्तव में कैवल्य बुद्धिरूपिणी प्रकृति को होता है उसके बाद ही पुरुष अकेला रह जाता है अतः उसके लिए भी कैवल्य प्राप्त हुआ ऐसा कथन कर दिया जाता है ।

तत्त्ववैशारदी

चितिशक्ति शुद्ध तथा अनन्त है अतः सुख दुःख नामक बुद्धिवृत्तियाँ पुरुष में नहीं होती परन्तु जब बुद्धि के ऊपर चितिशक्ति का प्रतिबिम्ब होता है तब बुद्धि तत्-तत् विषय के आकार की हो जाती है। व्युत्थान दशा में बुद्धि के तदाकारापत्तित होने पर चितिशक्ति भी बुद्धि के संयोग द्वारा उसी रूप को दिखती है। पुरुषार्थवती बुद्धि ही पुरुष का विषय है। विवेकख्याति तथा विषय का भोग बुद्धि का पुरुषार्थ है। कैवल्य की अवस्था में दोनों का निरोध हो जाता है और पुरुष अपने अनौपाधिक चैतन्य-स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। पुरुष का कोई रूप नहीं होता। रूप तो उसके ऊपर आरोपित किया जाता है। आरोपित होने पर ही वह शान्त, घोर, मूढ़ आदि रूपों में देखा जाता है। जब कि यथार्थतः पुरुष का कोई भी रूप नहीं होता। वह अनौपाधिक तथा कूटस्थनित्य है। चितिशक्ति की स्थिरता निरोधकाल तथा व्युत्थानकाल दोनों में बनी रहती है परन्तु व्युत्थान काल में बुद्धि के सम्पर्क के कारण पुरुष को विषयों के रूप का ही भासित होता है। जब ज्ञानोपाय-रूप-विवेकख्याति उदित होती है तब संयोग का निरोध होता है और चितिशक्ति अपने शाश्वत् स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। चितिशक्ति की इसी दशा को कैवल्य कहा गया है।

प्रथम-पाद के 51वें सूत्र के भाष्य में कैवल्य निरूपण के प्रसंग में निर्बीज-समाधि का वर्णन किया गया है। निरोध-संस्कारों से प्रज्ञाकृत संस्कारों का भी निरोध हो जाता है। सभी प्रकार के ज्ञान संस्कारों का निरोध हो जाने पर निर्बीज-समाधि होती है। ज्ञान संस्कारों में ही ऋतम्भरा प्रज्ञा भी सम्मिलित है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा का भी निरोध हो जाने पर निर्बीज-समाधि होती है। यह निर्बीज-समाधि केवल समाधि-प्रज्ञा का ही निरोध नहीं करती अपितु उसके संस्कारों का भी निरोध करती है। समाधिजात् प्रज्ञा का अर्थ ऋतम्भरा प्रज्ञा किया गया है। निर्बीज-समाधि परवैराग्य के द्वारा निरोध का कार्य करती है। चित्त में निरोध-संस्कारों की स्थिति का ज्ञान अनुमान से प्राप्त होता है। निरोधजसंस्कार की अनुभूति योगी को निरोध के क्षण में होती है। निरोध की अवस्था में आपन्न चित्त में केवल निरोध-संस्कार शेष रह जाते हैं। सम्प्रज्ञात-समाधि से उत्पन्न संस्कारों का भी निर्बीज-समाधि में निरोध हो जाता है क्योंकि सम्प्रज्ञातसमाधि को निर्बीज की अपेक्षा व्युत्थान माना गया है अर्थात् कैवल्य की दृष्टि से निर्बीज-समाधि का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए भाष्यकार ने लिखा है कि —

'कैवल्य भागीया निरोधजाः संस्कारा इत्यर्थः '[1] ।

द्वितीय-पाद के 18वें सूत्र के भाष्य की व्याख्या में भोग और अपवर्ग के विषय में यह बताया गया है कि ये दोनों पुरुष में आरोपित किए जाते हैं पुरुष का इनसे कभी भी संबन्ध नहीं होता है । पुरुष न तो भोक्ता है और न ही वह मोक्ष प्राप्त करता है । वह तो सर्वथा ही मुक्त है अतः बन्धन और मोक्ष का उसमें व्यपदेश मात्र किया जाता है । बुद्धि का पुरुषार्थयुक्त रहना बन्धन है और प्रकृति और पुरुष का अलगाव जिसके द्वारा हो वही कैवल्य या अपवर्ग है । यथा —'अपवृज्यतेऽनेनेत्यपवर्गः'[2] ।

25वें सूत्र के भाष्य की व्याख्या करते हुए कैवल्य के विषय में यह बताया गया है कि कैवल्य के लिए अविद्या का अभाव होना परम आवश्यक है । अविद्या ही संयोग का कारण है अविद्या का अभाव होने पर संयोगाभाव होता है और यही हान अर्थात पुरुष का कैवल्य है । वैसे महाप्रलय में भी संयोगाभाव होता है परन्तु यह संयोगाभाव आत्यन्तिक नहीं है क्योंकि पुनः सृष्टि होने पर ये गुण प्रकट हो जाते हैं । कैवल्य की स्थिति में संयोग का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है । कैवल्य तथा महाप्रलयकाल के संयोगाभाव में यही अन्तर है । जीवन्मुक्त के स्वरूप का विवेचन तत्त्ववैशारदीकार ने भाष्यकार के ही सदृश किया है ।

चतुर्थपाद के 34वें सूत्र के भाष्य की व्याख्या में कैवल्य का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है । गुण जब अपना कार्य समाप्त कर चुकते हैं तब वे प्रधान में लीन हो जाते हैं । इस प्रक्रिया का प्रारम्भ इस प्रकार होता है । व्युत्थान-संस्कारों का निरोध हो जाने के उपरान्त चित्त में केवल निरोध संस्कार शेष रह जाते हैं । ये निरोध-संस्कार चित्त में ही विद्यमान रहते हैं और चित्त के साथ ही ये अव्यक्त में लीन हो जाते हैं । चित्त के लिए तत्त्ववैशारदीकार ने 'मन' शब्द का प्रयोग किया है । मन अस्मिता में लीन होता है, अस्मिता लिंग में और लिंग का पर्यवसान अलिंग में होता है । यही कैवल्य की प्रक्रिया है जिससे गुण कैवल्य प्राप्त करते हैं । इस दशा में प्रधान का पुरुष से अलगाव हो जाता है जिसे प्रधान का पुरुष के प्रति मोक्ष कहा गया है । पुरुष इस समय अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । स्वरूप-प्रतिष्ठित होना ही पुरुष का कैवल्य है । परन्तु महाप्रलयकाल में पुरुष का अकेले होना, स्वरूपप्रतिष्ठित होना, कैवल्य नहीं है । कारण महाप्रलय के पश्चात पुनः सृष्टि क्रिया के प्रारम्भ होने पर पुरुष बुद्धि से संबद्ध हो जाता है । कैवल्य प्राप्त पुरुष का पुनः गुणों से कोई सम्पर्क नहीं होता है वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है ।

---

1 - द्रष्टव्य - त0वै0 पृ0 133 ।
2 - द्रष्टव्य - वही - पृ0 193 ।

राजमार्तण्डवृत्ति

जब बुद्धि के परिणामों का अवसान हो जाता है तब चित्त कर्तृत्व के अभिमान से रहित हो जाता है । इस समय आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति होती है । आत्मा का स्वरूप में अवस्थित हो जाना ही कैवल्य है । कैवल्य के प्रसंग में निर्बीज-समाधि का महत्वपूर्णस्थान है । सम्प्रज्ञातसमाधि का भी निरोध हो जाने पर संस्कारमात्र वृत्ति रह जाती है पुनः संस्कार रूप वृत्ति का भी जब निरोध हो जाता है तब निर्बीज-समाधि होती है । निर्बीज-समाधि में निरोध की क्रिया पूर्ण हो चुकी रहती है और आत्मा अपने रूप में अवस्थित रह जाता है । इस समय आत्मा की स्थिति केवली-भाव की स्थिति होती है । आत्मा का केवली हो जाना ही कैवल्य है ।

विवेकख्याति द्वारा अविद्या का अभाव होने पर द्रष्टा और दृश्य का संयोगाभाव हो जाता है । संयोग का अभाव होना ही कैवल्य है । पुरुष नित्य केवली है परन्तु जब दृश्य के संयोग का अभाव हो जाता है तब कैवल्य का व्यपदेश नित्यमुक्तपुरुष में कर दिया जाता है । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि दृश्य का द्रष्टा से संयुक्त होकर रहना भोग है । यह भोग अविद्या के ही कारण है । अतः जब अविद्या का विनाश हो जाता है तभी कैवल्य की दशा आती है । कैवल्य की स्थिति विवेकख्याति द्वारा आती है । अतः विवेकख्याति को हान अथवा कैवल्य का परम उपाय स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है । विवेकख्याति के संदर्भ में यह बताया गया है कि अविप्लवा विवेकख्याति ही हान का उपाय बन सकती है । विप्लव का अर्थ व्युत्थान है । व्युत्थान रूपी विघ्न जिस विवेकख्याति में नहीं विद्यमान होते ऐसी विवेकख्याति ही अविप्लवा-विवेकख्याति कही गई है जो कैवल्य का उपाय है । राजमार्तण्ड वृत्तिकार ने भी जीवनमुक्त के स्वरूप का विवेचन भाष्यकारकेही समान किया है ।

तृतीय-पाद के 26वें सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने विदेह और प्रकृतिलीन साधकों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है परन्तु भोजवृत्तिकार ने अपनी व्याख्या में इन साधकों के स्वरूप का कोई उल्लेख नहीं किया है । इसी पाद के 50वें सूत्र की व्याख्या में आत्यन्तिकदुःखनिवृत्ति को कैवल्य कहा गया है । पुरुष के प्रति गुणों की कार्यसमाप्ति हो जाने पर पुरुष अकेला अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है । पुरुष की यह स्वरूपावस्थिति ही उसका कैवल्य है । 55वें सूत्र की व्याख्या में चित्त का अपने कारण प्रधान में प्रविष्ट हो जाने को कैवल्य कहा गया है । यहाँ चित्त अपने कार्य को समाप्त कर अपने कारण में लीन हो जाता है अतः चित्त को भी कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है और पुरुष

अकेला मात्र रहता है । पुरुष का यह अकेलापन ही उसके कैवल्य की स्थिति है ।

विवरण

चित्तवृत्तियों से निवृत्ति ही मुक्ति है ।[1] जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब वृत्तिशून्य चित्त ही समाधि के योग्य होता है और समाधिस्थ चित्त ही अन्त में मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त करता है । अतः मोक्षप्राप्ति के लिए चित्तवृत्तियों का निरोध ही सबसे प्रमुख तथा आवश्यक उपाय है । वृत्तियों का निरोध होने पर ही चित्त अवसिताधिकार होकर अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है और पुरुषतत्व स्वरूपावस्थिति को प्राप्त कर 'कैवल्य' की दशा का अनुभव करता है ।

पुरुष 'अपरिणामी' तथा शुद्ध है । वह अविद्यारूपी मल से आवृत हो जाने पर ही परिणामिक, अशुद्धियोंतथा तामसजन्य दोषों से युक्त विषयों में आसक्त रहता है परन्तु जब विवेकख्याति का उदय होता है तब उसे सम्यक्ज्ञान द्वारा सभी पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है । विवेकख्यातिप्राप्त पुरुष इन सभी दोष रूप बीजों का समूल विनाश करके केवल विवेकख्याति में ही निमग्न रहता है । वह विवेकख्याति से प्राप्त 'सर्वज्ञत्व' और सर्वभावाधिष्ठातृत्व आदि सिद्धियों के प्रति भी विरक्त चित्त होकर केवल विवेकख्याति में ही लीन रहता है जिसके परिणाम स्वरूप पुरुष का गुणों से आत्यन्तिक वियोग हो जाता है और गुणों से आत्यन्तिक वियोग प्राप्त कर पुरुष कैवल्य की स्थिति का लाभ प्राप्त करता है ।[2]

कैवल्य प्राप्त पुरुष गुणों से वियुक्त हो जाता है जिसे पुरुष का गुणों से 'अमिश्रीभाव' का होना कहा गया है ।[3] चितिशक्ति का बुद्धि तत्व से असंमिश्रित हो जाना ही उसका केवली हो जाना अथवा स्वरूप-प्रतिष्ठित हो जाना है ।[4] 'केवलीभाव' को प्राप्त हो जाना ही कैवल्य है । इस प्रकार पुरुष का केवलीरूप को प्राप्त हो जाना उसका कैवल्य है ।

- -

1 - "चित्तवृत्तिनिवृत्तिरेव मुक्तिः इति ।" — विवरण पृ0 119 ।

2 - "पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यम् । तथा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुषः ।" — वही पृ0 307 ।

3 - "तत् कैवल्यं पुरुषस्य केवलत्वं गुणैरमिश्रीभावस्तथा ।" — वही पृ0 369 ।

4 - "बुद्धि सत्त्वानभिसम्बन्धिनी या पुरुषस्य चितिशक्तिः अमिश्रा केवला तस्याः तथा तथैव अवस्थानं केवलायाः भावः कैवल्यम् ।"

— वही पृ0 369 ।

योगवार्तिक

वृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध होने पर पुरुष का आत्यन्तिक स्वरूपावस्थिति ही मोक्ष है । व्युत्थान-काल में चितिशक्ति को वृत्तिसारूप्य होता है परन्तु असम्प्रज्ञातकाल में तथा कैवल्य की अवस्था में चितिशक्ति वृत्तियों के सारूप्य से रहित केवल अपने आत्यन्तिक स्वरूप में ही अवस्थित रहती है । पुरुष की केवलता ही उसका कैवल्य है । त्रिगुण उपाधि है, इनसे अलग हो जाना ही कैवल्य है । कैवल्य के लिए मोक्ष तथा अपवर्ग नाम भी प्रयुक्त हुआ है । मोक्ष तथा अपवर्ग का अर्थ भी वही है जो कैवल्य का है । कैवल्य के संदर्भ में असम्प्रज्ञातयोग का महत्वपूर्ण स्थान है । चित्त के साथ वृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध असम्प्रज्ञातयोग में ही सम्भव है । असम्प्रज्ञातयोग काल में चित्तवृत्तियाँ के साथ अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है । चित्त तथा वृत्तियों का लीन होना उनका अत्यन्ताभाव को प्राप्त होना है । चित्त जब अत्यन्ताभाव को प्राप्त हो जाता है तब जो स्थिति पुरुष की होती है उसे ही मोक्ष नाम से अभिहित किया गया है ।

मोक्ष की दशा में यद्यपि गुणत्रय अत्यन्ताभाव को प्राप्त हो जाते हैं परन्तु वे नष्ट नहीं होते क्योंकि अभी अन्य सांसारिक पुरुष तो रहते ही हैं जिनके लिए उनकी उपस्थिति अनिवार्य है । सांख्ययोग में पुरुष-बहुत्व का सिद्धान्त मान्य है । इसीलिए यदि एक पुरुष मुक्त हो भी जाता है तो भी अन्य पुरुष अपनी उपाधियों से आबद्ध रहते हैं ।

पुरुष का स्वरूप वस्तुतः सदा से मुक्त है । वह मुक्त नहीं होता है । बद्ध होने तथा मुक्त होने का उस पर आरोप मात्र किया जाता है । यह आरोप भी अविद्या के कारण होता है । व्युत्थान-काल में भी पुरुष का अपना वही शुद्ध, मुक्त स्वरूप रहता है परन्तु अविद्या के कारण उस समय पुरुष का उपाधियों से संयोग दिखाई देता है जब कि उसका यथार्थस्वरूप सदा से मुक्त है ।

विज्ञानभिक्षु ने कैवल्य को परम-मोक्ष बताया है । क्योंकि इसी अवस्था में चित्तरूपी उपाधि की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है जिसके कारण दुःखादि की भी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है । जीवनमुक्ति की दशा का वर्णन करते हुए व्याख्याकार विज्ञानभिक्षु ने लिखा है कि जीवनमुक्ति की दशा में योगी के क्लेशादि नष्ट हो जाते हैं अतः नये भोग नहीं होते । परन्तु प्रारब्ध कर्माशयों के भोग होते रहते हैं । क्रियमाण कर्मों का विपाक नहीं होता और न ही नए कर्माशयसंस्कार बनते हैं । अतः जीवन्मुक्त की दशा में जो भोग होता है वह भोगाभास है वास्तविक भोग नहीं । निरन्तर विवेकख्याति होती रहने पर

धर्ममेघ-समाधि होती है । धर्ममेघ-समाधि में साधक की जो स्थिति होती है उसे ही जीवन्मुक्ति कहा गया है । इसके बाद पर-वैराग्य द्वारा धर्ममेघ-समाधि के प्रति भी वैराग्य हो जाने पर साधक को कैवल्य रूप परम,-श्रेष्ठ मुक्ति की दशा की प्राप्ति होती है ।

कैवल्य का साक्षात् उपाय असम्प्रज्ञातयोग है । असम्प्रज्ञातयोग से ही उपाधियों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है जिससे कैवल्य की प्राप्ति होती है । कैवल्य के संदर्भ में सम्प्रज्ञातयोग परम्परया सहायक होता है अतः सम्प्रज्ञातयोग को कैवल्य का साक्षात् उपाय नहीं माना जाता है ।

योगदीपिका, पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

इन व्याख्याओं में भी कैवल्य को परममुक्ति माना गया है जिसमें पुरुष के औपाधिक रूप की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है और पुरुष आत्यन्तिक स्वरूपावस्थिति को प्राप्त करता है । कैवल्य के लिए असम्प्रज्ञातसमाधि का बहुत महत्व है । असम्प्रज्ञात-समाधि को ही निर्बीज-समाधि भी कहा गया है । निर्बीज इस लिए क्योंकि इस समाधि में वृत्तियों के बीजरूप संस्कारों का भी निरोध हो जाता है और अन्त में चित्त निरोध संस्कारों के साथ प्रकृति में लीन हो जाता है । इस प्रकार सभी प्रकार की वृत्तियों का, संस्कारों तथा चित्त का भी निरोध हो जाने से इस समाधि का नाम निर्बीज समाधि पड़ा है । इस समाधि में स्थित पुरुष स्वरूपमात्र निष्ठ केवली होता है । इस प्रकार कैवल्य का अर्थ हुआ केवल स्वरूप मात्र में अवस्थित ।

इन व्याख्याओं में भोग और अपवर्ग का विश्लेषण बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है । त्रिगुण ही भोग और मोक्ष के प्रेरक हैं । त्रिगुण को ही दृश्य भी कहा गया है । अतः त्रिगुणों के प्रत्यक्ष सुख, दुःख इत्यादि का साक्षात्कार करना ही भोग है । संसार से छुटकारा पा जाना अपवर्ग है जिसे कैवल्य भी कहा गया है ।[1]

- -

1. " भोगः सुखदुःखाद्यन्तरसाक्षात्कारः । अपवर्गः संसारनिवृत्तिलक्षणकैवल्य तौ भोगाऽपवर्गावर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथाविधमित्यनेन प्रयोजनमप्युक्तम् । तदिदं गुणत्रयं प्रपंचकारणं भोगमोक्ष-प्रयोजनकं दृश्यपदार्थं इत्यर्थः । "

— पा०यो०सू०वृ० पृ० 63 ।

मणिप्रभा

चित्त की शान्त, घोर, और मूढ़ वृत्तियों का निरोध हो जाने पर द्रष्टा अपने स्वाभाविक रूप में स्थित हो जाता है । पुरुष का स्वाभाविक रूप चैतन्य है । वृत्तियों का निरोध हो जाने पर वह अपने चैतन्य रूप में ही स्थित होता है और पुरुष की यह स्वरूपावस्थिति ही कैवल्य है । कैवल्य की स्थिति के लिए निर्बीज-समाधि का बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है । निर्बीज-समाधि से सभी प्रकार के संस्कार रूपी बीजों का निरोध हो जाता है जिससे चित्त का कार्य समाप्त हो जाता है और चित्त प्रधान में लीन हो जाता है । चैतन्य-स्वरूप पुरुष अकेला तथा बुद्धि-वृत्तियों से मुक्त होकर अपने ही रूप में स्थित रहता है ।

पुरुष को द्रष्टा भी कहा गया है । द्रष्टा चेतन स्वरूप है और दृश्य अर्थात् बुद्धि जड़ है । चेतन पुरुष ही उसकी शक्ति है क्योंकि पुरुष में उसके चेतनस्वरूप के कारण ही द्रष्टृत्व की योग्यता है । बुद्धि शब्दादि के आकार से आकारित होती है उस बुद्ध्याकाराकारित वृत्ति पर चेतन पुरुष का सान्निध्य हो जाना ही पुरुष का भोग रूप है । पुरुष को जब अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब पुरुष की जो स्थिति होती है उसे ही अपवर्ग कहा गया है ।

बुद्धि और पुरुष के संयोग का कारण अविद्या है । अतः अविद्यात्मक हेय का हान ही मोक्ष है । अविद्या का अभाव ही संयोग रूप दुःख का नष्ट होना है । अभाव का अर्थ उन्होंने विनाश किया है । दुःख का कारण अविद्या ही है अतः उसका विनाश हो दृशि का कैवल्य है । दृशि नित्यमुक्त है । अविद्या के कारण वह दृश्य से संयुक्त सा प्रतीत होता है । अविद्या का विनाश होते ही वह अपने नित्यमुक्तस्वरूप में स्थित होजाता है ।

कैवल्य का उपाय अविप्लवा-विवेकख्याति है । अविप्लवाविवेकख्याति में परवैराग्य से सभी संस्कारों का तथा भावी दुःख का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है । दुःख का आत्यन्तिक विनाश ही मोक्ष का उपाय है । दुःख का आत्यन्तिक विनाश हो जाने पर ही साधक जीवनमुक्त हो जाता है । जीवन्मुक्त साधक का ज्ञान प्रकृष्ट प्रज्ञा वाला होता है ।

अन्त में कैवल्य की स्थिति को प्रतिपादन करते हुए मणिप्रभाकार ने यह लिखा है कि पुरुष का यथार्थ स्वरूप सर्वथा नित्यमुक्त है, अविद्यावशात् ही उसके ऊपर भोग आदि का आरोप ... करके उसे बद्ध और पुनः मुक्त कहा जाता है । अतः यह कहना ठीक ही है कि उसके ऊपर अविद्याजन्य बन्धन, दुःखों का उपचार मात्र है।

यथार्थतः वह नित्यमुक्त स्वभाव वाला है ।

योगसूत्रार्थबोधिनी

इस व्याख्या में प्रथम पाद के तृतीय-सूत्र की व्याख्या में कैवल्य नाम का कहीं भी निर्देश नहीं किया गया है । चित्तवृत्ति निरोध हो जाने पर पुरुष का क्या स्वरूप होता है इसी विषय का वर्णन यहाँ प्राप्त है । यह वर्णन इस प्रकार है :— वृत्तियों का निरोध हो जाने पर पुरुष अपने स्वाभाविक रूप में रह जाता है । चैतन्य मात्र ही पुरुष का स्वाभाविक रूप है । इसी अध्याय के 51वें सूत्र की व्याख्या में भी, कैवल्य के संबन्ध में कोई विवेचन नहीं प्राप्त होता है ।

द्वितीय-पाद के 24वें, 25वें सूत्र की व्याख्या में मोक्ष का वर्णन किया गया है । यथा — अविद्या का अभाव होने पर दुःख रूप संयोग का विनाश हो जाता है । संयोग का विनाश ही पुरुष का कैवल्य है । दृश्य और द्रष्टा में अभेद की भ्रान्ति ही संयोग का कारण है । जब यह भ्रान्ति दूर हो जाती है तब चित्त प्रधान में लीन हो जाता है और पुरुष अपने नित्यमुक्त स्वरूप में अवस्थित हो जाता है जिसे पुरुष का कैवल्य कहा गया है । मोक्ष का कारण अविप्लवविवेकख्याति है । इस सिद्धान्त को इस व्याख्या में भी स्वीकार किया गया है । अविप्लवविवेकख्यातिनिष्ठ साधक को जीवन्मुक्ति नामक सिद्धि प्राप्त होती है जिसके कारण वह जीवन्मुक्त हो जाता है ।

कैवल्य के संबन्ध में पूर्ण एवं पर्याप्त विवेचन चतुर्थपाद के 34वें सूत्र की व्याख्या में किया गया है । यहाँ बुद्धि तथा चितिशक्ति दोनों के कैवल्य का निरूपण भलीभाँति किया गया है । पुरुषार्थ शून्य हो जाने के पश्चात् चित्त तथा उसके विकारों का प्रधान में आत्यन्तिक लय ही बुद्धि का कैवल्य है । इसी को प्रधान का भी कैवल्य कहा जा सकता है क्योंकि उस समय प्रधान अपने नित्य अवस्था में रहता है । पुरुष से असंयुक्त हो जाने के कारण प्रधान का पुरुष के प्रति अलगाव हो जाता है । अलगाव की दशा को ही प्रधान का पुरुष के प्रति कैवल्य कहा गया है । बुद्धि जब अपने कारण में लीन हो जाती है तब पुरुष बुद्धि की उपाधि से रहित अपने आप में ही अवस्थित हो जाता है । पुरुष की यह स्वरूपावस्थिति ही पुरुष का कैवल्य है ।

कैवल्य की दशा में पुरुष में आरोप्यमाण-विविधता नहीं रह जाती। जब चित्त प्रधान में लीन हो जाता है तब निर्विकार चितिशक्ति अर्थात् पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। चितिशक्ति का निर्विकार स्वरूप व्युत्थानकाल में भी रहता है परन्तु वृत्तियों के सारूप्य कारण व्युत्थानकाल में पुरुष अपने स्वरूप से भिन्न ही प्रतीत होता है।

असम्प्रज्ञातसमाधि को 'कैवल्य-भागीय' कहा गया है। असम्प्रज्ञातसमाधि को ही 'निर्बीज-समाधि' भी कहते हैं। यह निर्बीजसमाधि ज्ञान तथा ज्ञानसंस्कारों का निरोध करती है। निरोध की क्रिया के फलस्वरूप चित्त में केवल निरोध-संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं। यह निरोध-संस्कार ज्ञान संस्कारों का निरोध कर पुनः ज्ञान तथा ज्ञानात्मक संस्कारों को उत्पन्न नहीं होने देते। परिणामतः चित्त जिसमें केवल निरोध-संस्कार ही शेष रह जाते हैं नित्य प्रकृति में लीन हो जाता है। इस समय पुरुष केवल अपने आप में स्थित रह जाता है। पुरुष का अपने स्वरूप में अवस्थित होना ही कैवल्य कहा गया है।

पुरुष का जब बुद्धि आदि प्रकृति के विकारों से आत्यन्तिक असंयोग हो जाता है तब पुरुष कैवली हो जाता है। पुरुष का एकाकीपन ही उसका कैवल्य है। कैवल्य का अर्थ भास्वतीकार ने एकैकहीनता की है। तृतीय-अध्याय के 55वें सूत्र के भाष्य की व्याख्या में इसी तरह का वर्णन कैवल्य के संबन्ध में किया गया है। चतुर्थ-पाद के चौंतीसवें सूत्र में प्राप्त वर्णन इस प्रकार है। गुणों के पुरुषार्थ कार्य का हमेशा के लिए प्रकृति में लीन हो जाना गुणों का कैवल्य है। पुरुष का बुद्धि से असम्बन्ध हो जाने पर उसका स्वरूप प्रतिष्ठित हो जाना ही पुरुष का कैवल्य है। इस समय पुरुष की स्थिति 'अद्वैत' रूप की होती है। अद्वैत का अर्थ यहाँ कैवल्य किया गया है। चूंकि पुरुष इस समय बुद्धिप्रभृति संबन्धों से रहित अकेला, केवली रहता [illegible] पुरुष की इस स्थिति को अद्वैत की स्थिति या कैवल्य कहा गया

इस व्याख्या में पुरुष की 'स्वरूपावस्थिति' को 'परमकैवल्य' की संज्ञा दी गई है । जब द्रष्टा पुरुष अपने निर्विषयक चैतन्यमात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तब वह परमकैवल्य को प्राप्त हो जाता है ।[1] 'परमकैवल्य' की प्राप्ति हेतु निरोध-समाधि सहायक होती है । जब परवैराग्य द्वारा सभी प्रकार की वृत्तियों एवं संस्कारों का निरोध हो जाता है तब असम्प्रज्ञात-समाधि का प्रादुर्भाव होता है । असम्प्रज्ञातसमाधि में केवल निरोध-संस्कार ही चित्त में अवशिष्ट रह जाते हैं, वे निरोध-संस्कार भी चित्त के साथ प्रकृति में लीन हो जाते हैं तब बुद्धि से वियुक्त पुरुष शीघ्र ही शरीर से भी वियुक्त होकर अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त रूप में स्थित होकर महामुक्ति को प्राप्त करता है ।[2]

द्वितीय पाद में कैवल्य का निरूपण करते हुए व्याख्याकार ने कैवल्य को 'परममुक्ति' कहा है । दुःख-त्रय का आत्यन्तिक अभाव ही कैवल्य है इस अवस्था में पुरुष को केवल अपने यथार्थ स्वरूप का अनुभव होता है, तत् पश्चात् ही पुरुष[3] परमेश्वर की उपासना के द्वारा परममुक्ति रूप कैवल्य की दशा को प्राप्त हो जाता है ।

- -

1 - " द्रष्टुः - चेतनस्य पुरुषस्य । स्वरूपे - निर्विषयचैतन्यमात्रे स्वात्मरूपे 'अवस्थानम् - प्रतिष्ठा - स्थितिः, विधत्ते, यथा परम् कैवल्य इति ।"

— स्वा०ना०भा०पृ० 21 ।

2 - " बुद्धिवियोगे च सति शरीरवियोगस्तु सुतरामेव । तथा च नित्यशुद्धबुद्ध मुक्त स्वभावः पुरुषः स्वात्मदर्शनपरः परमेश्वरदर्शनपरायणो वा महामुक्तो भवतीति ।"

— वही पृ० 159 ।

3 - " तत्त्वज्ञानिनो वैराग्यवतो योगिनः आध्यात्मिकदुःखत्रयात्यन्ताभाव एव कैवल्यमित्युक्तम्, इदं च कैवल्यं केवलस्वात्मस्वरूपमात्रानुभवरूपमिति, अतस्ततोऽप्यधिकं परमेश्वरोपासनया भगवच्चरण निवासरूपं कैवल्यं परमा मुक्तिरित्युच्यते ।"

— वही पृ० 220 ।

इस प्रकार पुरुष का गुणों से आत्यन्तिक वियोग हो जाना ही कैवल्य है ।[1] अतः जब गुण अपना पुरुषार्थ समाप्त कर अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाते हैं तब चित्त के अन्य संस्कार भी अपने कारण चित्त में लीन हो जाते हैं । चित्त या मन अस्मिता में लीन होते हैं और अस्मितामहत्तत्त्व में और महत्तत्त्व प्रकृति में लीन हो जाते हैं । इस प्रकार प्रकृति के जितने भी कार्य होते हैं सभी अपने कारण 'प्रधान' या 'प्रकृति' में लीन हो जाते हैं । 'प्रकृति' में गुणों का लीन हो जाना गुणों का कैवल्य कहा गया है । गुणों से वियुक्त चितिशक्ति सभी से विनिर्मुक्त होकर केवल स्वरूप-मात्र में प्रतिष्ठित हो जाती है । चितिशक्ति का स्वरूप प्रतिष्ठित हो जाना ही उसका मोक्ष है । इस अवस्था को ही योग का परमफल तथा परमकैवल्य तथा, परममुक्ति कहा गया है ।

---

1 - " तथा पुरुषस्य 'आत्यन्तिको गुणवियोगो' - कैवल्यमिति भवति ।"

भा०ना०भा०वृ० 30 3 ।

व्यापारों का प्रादेशिक महत्व

योग का लक्षण प्रतिपादित करने में सभी व्याख्याकारों ने भाष्य स्वीकृत अर्थ के साथ ही स्वारस्य प्रकट किया है । स्पष्टीकरण की प्रक्रिया और प्रतिपादन प्रकार में अवश्य थोड़ा बहुत अन्तर सभी व्याख्याओं में उपलब्ध होता है । अर्थ की दृष्टि से योग के लक्षण/संबन्ध में प्रायः सभी व्याख्याकार एक-मत हैं । 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' सूत्र के आधार पर सभी व्याख्याकारों ने चित्तवृत्तियों के निरोध को ही 'योग' स्वीकृत किया है । 'वृत्तिनिरोध' के संबन्ध में अवश्य कुछ मतभेद दिखाई पड़ता है । भाष्य में 'निरोध' का अर्थ 'रोकना' किया गया है[1] । जब कि तत्त्ववैशारदी के अनुसार 'निरोध' का अर्थ वृत्तियों का अभाव होना है[2] । राजमार्तण्डवृत्ति के अनुसार 'प्रतिलोमपरिणाम' द्वारा चित्त की वृत्तियों को उनके कारण में लीन कर देना 'निरोध' है[3] । विवरण-कार ने 'निरोध' शब्द का साक्षात् अर्थ नहीं किया है । वार्तिककार की दृष्टि में वृत्तियों का अपने अधिकरण में लीन हो जाना ही 'निरोध' है[4] । योगदीपिका के अनुसार वृत्तियों तथा तज्जन्य संस्कारों का अत्यन्ताभाव 'निरोध' है[5] । 'पातंजलयोगसूत्रवृत्ति' के अनुसार प्रज्ञा तथा प्रज्ञाकृत-संस्कारों का निःशेषदाह 'निरोध' है[6] । मणिप्रभा के अनुसार वृत्तियों का अवसितसाधिकार हो जाना ही निरोध का स्वरूप है । सूत्रार्थबोधिनी और योग-सिद्धान्तचन्द्रिका में मणिप्रभा के निरूपण को ही दुहराया गया है । भास्वतीकार ने निरोध के स्वरूप का निरूपण करने में राजमार्तण्डवृत्ति का अनुसरण किया है । स्वामिनारायणभाष्य में त्रिविध वृत्तियों के उनके कारण बुद्धितत्त्व में आत्यन्तिक लय को 'वृत्ति-निरोध' कहा गया है ।

इन अनेक व्याख्याओं में प्रतिपादित 'निरोध' के स्वरूप का वर्णन देखकर यह कहना उचित ही है कि 'निरोध' के स्वरूप का आकलन सभी ने किया है और किसी का विवेचन त्रुटिपूर्ण नहीं है । अब यहाँ यह देखना है कि निरोध संबन्धी उक्त व्याख्याओं में से कौन सी व्याख्या तर्क-संगत है ।

- -

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 1 32 ।
2 - द्रष्टव्य - त0वै0पृ0 10 ।
3 - द्रष्टव्य - रा0मा0वृ0 पृ0 8 ।
4 - द्रष्टव्य - यो0वा0पृ0 7 ।
5 - द्रष्टव्य - योगदीपिका पृ0 33 ।
6 - द्रष्टव्य - पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ0 34 ।

'निरोध' के स्वरूप के संबन्ध में विचार करते समय भाष्यकार स्पष्टतः से मौन हैं । तत्ववैशारदीकार ने वृत्तियों के अभाव को ही निरोध माना है । तत्ववैशारदीकार का निरोध विषयक यह लक्षण अध्येताओं के लिए भ्रामिककारक हो सकता है । इस लक्षण से विषय का स्वरूप स्पष्ट होने के स्थान पर अस्पष्ट ही रह जाता है । यदि 'निरोध' का अर्थ अभाव मान लिया जाये तो संप्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों प्रकार की समाधियों का निषेध हो जायेगा । अतः 'निरोध' की यह व्याख्या समुचित नहीं है । इसी तरह विवरणकार द्वारा प्रस्तुत की गई व्याख्या भी 'निरोध' के सही अर्थ का प्रतिपादन नहीं करती है । विवरणकार ने ज्ञान तथा तत्प्रभूत-संस्कारों के आत्यन्तिक लय को निरोध कहा है । यह परिभाषा 'निरोध' की न होकर 'कैवल्य' की हो सकती है क्योंकि कैवल्य में ही सभी प्रकार के ज्ञान तथा ज्ञानसंस्कारों का आत्यन्तिक लय हो जाता है और पुरुष स्वस्वरूपावस्था में अवस्थित हो जाता है । अतः विवरणकार का 'निरोध' विषयक विवेचन अपने विषय से हट कर अन्य विषय का प्रतिपादन करता है । इसी तरह स्वामिनारायण-भाष्य में भी निरोध का विवेचन करते समय व्याख्याकार ने अन्यान्य अप्रासंगिक बातों का विस्तृत विवेचन किया है । मणिप्रभा, राजमार्तण्डवृत्ति, योगदीपिका और योगसिद्धान्तचन्द्रिका आदि सभी का वर्णन पढ़ने के उपरान्त केवल योगवार्तिक में प्रतिपादित 'निरोध' का स्वरूप ही काफी हद तक विषय को स्पष्ट करने में सहायक है ।

वार्तिककेअनुसार वृत्तियों का अपने अधिकरण में लीन हो जाना ही 'निरोध' है । अधिकरण में लीन होने के कारण वृत्तियाँ अत्यन्ताभाव को नहीं प्राप्त होतीं अपितु अपने कारणरूप बुद्धि या चित्त में मौजूद रहती हैं । इस विवेचन के आधार पर सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात दोनों प्रकार के योग में किए गए वृत्तिनिरोध पर प्रकाश पड़ता है ।

व्युत्थानकालिक 'वृत्तिसारूप्य' के वर्णन में भी इन सभी व्याख्याओं में पर्याप्त अन्तर है । भाष्य के अनुसार पुरुष का प्रतिबिम्ब ही बुद्धिवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त करता है और चेतनरूप चितिशक्ति अपरिणामिनी तथा अप्रतिसंक्रमा होती हुई भी बुद्धिवृत्ति में जब प्रतिबिम्बित होती है तब वह बुद्धिवृत्ति से अभिन्नाकार होती हुई ज्ञान रूपी वृत्ति वाली कही जाती है । तत्ववैशारदीकार ने इस संबन्ध में एकबिम्बवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । यथा — पुरुष अपरिणामी है, उसको ज्ञान के लिए तदाकाराकारित नहीं होना पड़ता है । वह तो अपने प्रतिबिम्बमात्र से ही बुद्धिवृत्ति को देखता है तथा

- -

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 18

उसको ज्ञान का भोक्ता बनता है । इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र ने एक प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया है ।[1] इस संबन्ध में आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत उक्त दोनों व्याख्याकारों से भिन्न है । विज्ञानभिक्षु ने द्विप्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त को सिद्धान्तित किया है ।[2] इस सिद्धान्त के अनुसार पहले पुरुष का प्रतिबिम्ब जड़ - बुद्धि में पड़ता है जिससे बुद्धि चेतनवत् होती है । चेतनवत् बुद्धि विषय के आकार से आकारित होती है । इस विषयाकाराकारित बुद्धि का प्रतिबिम्ब जब पुरुष में पड़ता है तब पुरुष बुद्धिगत ज्ञान का ज्ञाता, भोक्ता अथवा द्रष्टा बनता है । इस प्रकार विज्ञानभिक्षु ने पुरुषप्रतिबिम्ब और बुद्धिप्रतिबिम्ब को स्वीकार कर द्विप्रतिबिम्बवाद की स्थापना की है ।

राजमार्तण्ड वृत्ति में वाचस्पति के ही सिद्धान्तों का अनुमोदन किया गया है । विवरण के अनुसार 'वृत्तिसारूप्य' व्युत्थानकाल में पुरुष के ऊपर आरोपित की जाती है ।[3] 'योगदीपिका' में इस विषय के संबन्ध में कुछ विशेष उल्लेख नहीं किया गया है । 'पातंजलयोगसूत्रवृत्ति' में विज्ञानभिक्षु के ही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । 'मणिप्रभा' में 'वृत्तिसारूप्य' के विषय में लिखा गया है कि वृत्तिसारूप्य होने पर ही पुरुष द्रष्टा होता है ।[4] परन्तु वृत्तिसारूप्य से पुरुष के यथार्थ स्वरूप पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता । 'सूत्रार्थबोधिनी' और 'योगसिद्धान्तचन्द्रिका' में 'मणिप्रभा' में व्याख्यात मत का ही उद्घाटन किया गया है । 'भास्वतीकार' के अनुसार व्युत्थानकाल में बुद्धिवृत्तियों से संयोग होने पर पुरुष उन्हीं वृत्तियों के रूप का भासित होता है ।[5] 'स्वामिनारायणभाष्य' के अनुसार बुद्धि और पुरुष का संयोग होने पर ही वृत्तिसारूप्य होता है । इस संबन्ध में बिम्बप्रतिबिम्बभाव को इन्होंने भी स्वीकृत किया है । पुरुष में बुद्धि का बिम्ब पड़ने पर वह बिम्ब से असम्बद्ध होने पर भी उसका भोक्ता बनता है ।[6]

'वृत्तिसारूप्य' के संबन्ध में वर्णित सभी व्याख्याओं का अनुशीलन करने पर

---

1 - द्रष्टव्य - तत्त्ववै० पृ० 20 ।
2 - द्रष्टव्य - योगवा० पृ० 21 ।
3 - द्रष्टव्य - विवरण पृ० 14 ।
4 - द्रष्टव्य - मणिप्रभा पृ० 4 ।
5 - द्रष्टव्य - भास्वती पृ० 19 ।
6 - द्रष्टव्य - स्वा०नारायण भाष्य पृ० 46 ।

उन व्याख्याओं के पारस्परिक भेद तथा साम्य का ज्ञान प्राप्त होता है । प्रस्तुत विषय को लेकर तत्त्ववैशारदीकार और योगवार्त्तिककार के मध्य तीव्र मतभेद हैं । तत्त्ववैशारदीकार ने 'वृत्तिसारूप्य' के संबन्ध में 'एक प्रतिबिम्बवाद' के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है । इसके अनुसार चितिच्छायापत्ति के कारण ही जड़ बुद्धि चेतनवत् होती है चेतनवत बुद्धि ही विषयाकाराकारित होकर यथार्थ-ज्ञान से युक्त होती है । इस समय पुरुष प्रतिबिम्ब उस बुद्धिवृत्ति का द्रष्टा या भोक्ता बनता है । यहाँ पर केवल चिति-च्छायापत्ति रूप एक प्रतिबिम्ब ही स्वीकार किया गया है जिसे 'एकप्रतिबिम्बवाद' का सिद्धान्त कहा गया है ।

इसके विपरीत योगवार्त्तिककार ने द्विप्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त को माना है । इसके अनुसार चितिच्छायापत्ति के उपरान्त बुद्धिवृत्ति बनने के बाद सम्मिलित पुरुषतत्त्व में बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्बन होता है तब पुरुष उस ज्ञान का भोक्ता बनता है । भाष्यकार व्यास का इस सिद्धान्त के संबन्ध में विचार उक्त दोनों व्याख्याकारों से भिन्न है । भाष्यकार ने चित्त की उपमा चुम्बक से देकर 'वृत्तिसारूप्य' को समझाने का प्रयास किया है । जिस प्रकार चुम्बक में लोहे के प्रति आकर्षण होता है जिसके कारण लोहे का सान्निध्य होने पर चुम्बक स्वतः लोहे को अपनी तरफ खींचता है उसी प्रकार बुद्धितत्त्व भी सन्निधिमात्र होने पर ही पुरुष का प्रतिबिम्बन करता है । फलतः पुरुष बुद्धिवृत्तियों का ज्ञाता, भोक्ता, बनता है ।

उक्त तीनों व्याख्याकारों तथा अन्य भी व्याख्याकारों की वृत्तिसारूप्य विषयक व्याख्या को देखने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विज्ञानभिक्षु का प्रतिपादित सिद्धान्त अधिक तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक है । क्योंकि यह तो सर्वथा सिद्ध है कि बुद्धि जड़ है वह अपने आप कुछ नहीं कर सकती । जब पुरुष प्रतिबिम्ब बुद्धि पर पड़ता है तभी वह चेतनवत् होती है और चेतनवत् होने पर ही वह विषय का साकार ग्रहण कर विषयाकाराकारित होती है । ऐसी बुद्धि का प्रतिबिम्ब जब पुरुष में पड़ता है तब पुरुष उस बुद्धियुक्त ज्ञान का भोक्ता बनता है । विज्ञानभिक्षु ने बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ बोधभेद बोध की प्रक्रिया को समझाया है । इतना सूक्ष्म विश्लेषण अन्य किसी भी व्याख्या में नहीं किया गया है । अतः 'वृत्तिसारूप्य' का विवेचन विज्ञानभिक्षु का ही अधिक मान्य ठहराया गया है ।

समाहित-चित्त वाले साधक के लिए योग प्राप्ति के दो उपायों का निर्देश मिलता है । इन उपायों की व्याख्या लगभग सभी व्याख्याकारों ने समान रूप से किया है । कहीं

कोई मतभेद नहीं दृष्टिगोचर होता है । हाँ योग के दो भेदों का उल्लेख करते हुए सम्प्रज्ञातयोग के चौथे भेद 'अस्मितानुगत' सम्प्रज्ञातसमाधि के विषय में कुछ मतभेद दृष्टिगोचर होता है । यथा – भाष्यकार ने पुरुषप्रतिबिम्बयुक्त बुद्धि को ही 'अस्मितातत्त्व' माना है ।[1] साधक को जब 'अस्मितातत्त्व' का ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता रहता है तब अस्मितानुगत – सम्प्रज्ञातसमाधि होती है । तत्त्ववैशारदीकार ने बुद्धि में उपस्थित पुरुष प्रतिबिम्ब ही को 'अस्मितातत्त्व' माना है ।[2] योगवार्तिककार ने बुद्धि और पुरुष की एकरूपता को 'अस्मिता' माना है ।[3] बुद्धि और पुरुष की एकरूपता भी तभी होती है जब कि वह पुरुष प्रतिबिम्ब से युक्त होती है । उक्त विवेचन में यद्यपि कथन का प्रकार भिन्न है । परन्तु तीनों व्याख्याकारों ने मान्यता एक ही सिद्धान्त को दी है । 'राजमार्तण्डवृत्ति' का इस विषय के संबन्ध में सबसे भिन्न मत है । इन्होंने 'महत्-तत्त्व' को 'अस्मिता' माना है ।[4] जब चित्त में केवल महत्-तत्त्व की ही सत्ता आलम्बन रूप में रह जाती है तब अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि होती है ।

मणिप्रभाकार का इस संबन्ध में विचार राजमार्तण्डवृत्ति से बिल्कुल भिन्न है । इन्होंने गृहीतापुरुष के साथ एकीभूता बुद्धि के साक्षात्कार को 'अस्मिता' माना है ।[5] इनका यह विचार तत्त्ववैशारदी से मिलता जुलता है । योगसूत्रदीपिका में भी 'अस्मिता' का वर्णन भिन्न रूप में किया गया है । इन्होंने एक आलम्बन को ही ध्येय रूप में स्वीकार कर उसमें वितर्कानुगत, विचारानुगतादि चारों समाधियों का वर्णन किया है । जब ध्येय रूप आलम्बन में जीवेश्वर रूप पुरुष का साक्षात्कार होता है तब अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि होती है । पातंजलयोगसूत्रवृत्ति में भी भिन्न ही विवेचन इस संबन्ध में प्राप्त होता है । उन्होंने पुरुष के अपने यथार्थरूप के आकार से आकारित हो जाना रूप को 'अस्मिता' माना है । 'अस्मितानुगत[6]' को ही धर्ममेघसमाधि की पराकाष्ठा कहा गया है । स्वामिनारायण-भाष्य में पुरुष और बुद्धि के संयोग की स्थिति में अभेद वाली स्थिति को ही अस्मिता माना गया है । इस स्थिति की पूर्ण साक्षात्कार को ही 'सास्मित' सम्प्रज्ञातसमाधि माना गया है ।[7]

- -

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 54 ।
2 - द्रष्टव्य - त0वै0 पृ0 59 ।
3 - द्रष्टव्य - यो0वा0 पृ0 57 ।
4 - द्रष्टव्य - रा0मा0वृ0 पृ0 41 ।
5 - द्रष्टव्य - मणिप्रभा पृ0 9 ।
6 - द्रष्टव्य - पा0यो0सू0वृ0पृ0 15 ।
7 - द्रष्टव्य - स्वा0ना0भा0पृ0 85 ।

इन्होंने अस्मितानुगत के स्थान पर 'अस्मिता' शब्द का प्रयोग किया है । विवरणकार ने चारों समाधियों के साथ "रूप" शब्द को संयुक्त किया है । यथा वितर्करूपानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि, विचाररूपानुगत, आनन्दरूपानुगत और अस्मितारूपानुगत । यहाँ रूप शब्द मात्रा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । विवरणकार ने अस्मिता शब्द को अहंकार के अर्थ में लिया है । जब अहंकार मात्र ही चित्त में भासित होता है तब 'अस्मितारूपानुगत' सम्प्रज्ञातसमाधि होती है ।[1] भास्वतीकार ने सभी योगिप्रवृत्तियों में अहम् के आरोप को 'अस्मिता' माना है चित्त का अहम् वृत्ति के साथ परिपूर्ण रूप से तदाकाराकारित होना अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि है ।[2]

'अस्मितानुगत' सम्प्रज्ञातसमाधि की व्याख्या सभी व्याख्याकारों ने कियाहै । इस संबन्ध में भाष्यकार की व्याख्या अतिसंक्षिप्त है । 'एकात्मिकासंविदस्मिता' केवल इतनी ही व्याख्या देकर भाष्यकार ने इस विषय का विवेचन समाप्त कर दिया है । इतनी संक्षिप्त व्याख्या से विषय का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है । भाष्य के अतिरिक्त अन्य सभी व्याख्याओं का पर्यालोचन करने के उपरान्त इस विषय पर सर्वोपरि व्याख्या वार्तिककार की ही सिद्ध होती है । इनके अनुसार अस्मितानुगतसमाधि में ध्येय रूप में एक आत्मा ही रहता है । इस समय का अनुभव अस्मिताकारक होता है । इस समाधि में ही कूटस्थ चिद्बिम्बमात्ररूप आत्मा का साक्षात्कार होता है । इस समाधि में चित्त अभीष्ट पुरुष के आकार से आकारित होता है ।[3]

इसी तरह असम्प्रज्ञात योग के दो भेदों में से किसी ने दोनों को योग माना है और किसी व्याख्याकार ने केवल 'उपायप्रत्ययअसम्प्रज्ञात' को ही योग माना है । यथा — भाष्यकार ने 'भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञात' को 'योग' नहीं माना है । तत्त्ववैशारदीकार और राजमार्तण्डवृत्तिकार ने भी 'भवप्रत्ययासम्प्रज्ञातसमाधि' को योगाभास माना है योग नहीं'। मणिप्रभाकार ने भी इस समाधि को योग प्राप्त करने के इच्छुक योगियों के लिए त्याज्य बतलाया है । योगसूत्रार्थबोधिनी और योगसिद्धान्तचन्द्रिका दोनों में इस समाधि को अविद्या-मय माना गया है । भावागणेश ने अपनी योगदीपिका में इस विषय पर कोई स्पष्ट विवेचन

- -

1 - द्रष्टव्य - विवरण पृ0 47 ।

2 - द्रष्टव्य - भास्वती पृ0 54 ।

3 - " एक एवात्माऽयं विषयत्वेनास्ति यस्यैकात्मिका तथा योगम् । एकात्म्यमेव वा चित्तस्य केवलपुरुषाकारता संविद् साक्षात्कारोऽस्मि इत्येतावन्मात्राकारत्वादस्मितेत्यर्थः सा च जीवात्मविषया परमात्मविषया चेति द्विविधा भवति, तेनानुगतो युक्तो निरोधोऽस्मिता अनुगतनामा योग इति भावः । "

— यो0वा0पृ0 57 ।

नहीं किया है । पातंजलयोगसूत्रवृत्तिकार नागोजीभट्ट के अनुसार भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि जन्मकारणक है । अतः यह समाधि 'योग' नहीं हो सकती ।[1] भास्वती में भी इस समाधि को कैवल्य के लिए उपयोगी नहीं माना गया है ।[2] केवल योगवार्तिककार ने ही इस समाधि को भी 'योग' माना है ।[3] इस सम्बन्ध में वार्तिककार ने यह तर्क दिया है कि विदेह और प्रकृतिलीन उपासक भी प्रारब्ध-भोग के पश्चात् मुक्त हो जाते हैं अतः इस समाधि को भी 'योग' के अन्तर्गत ही स्वीकार करना चाहिए ।

अन्य व्याख्याओं तथा योगवार्तिक में यहाँ भेद स्पष्ट ही परिलक्षित हो जाता है । अन्य व्याख्याओं के अनुसार प्रारब्ध-भोग के पश्चात् विदेह तथा प्रकृतिलीन पुनः जन्म लेते हैं अतः भव-प्रत्यय असंप्रज्ञात समाधि योग नहीं है । योगवार्तिककार के अनुसार प्रारब्ध-भोग के प्रमुक्त्वा पश्चात् वे उपासक मुक्त हो जाते हैं । इस सम्बन्ध में स्वामि-नारायणभाष्य का विवेचन कुछ अस्पष्ट तथा अपूर्ण है । इसके विवेचन से भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि के स्वरूप का तनिक भी स्पष्टीकरण नहीं होता है । स्वामिनारायणभाष्य के अनुसार भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि विदेहों और प्रकृतिलीनों को प्राप्त होती है क्योंकि उन्हें जन्म से ही असम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि प्राप्त होती है । इसके लिए उन्हें किसी साधन की अपेक्षा नहीं रहती है ।[4]

उक्त विवेचन से सभी व्याख्याकारों का 'भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि' विषयक मत स्पष्ट हो गया । असम्प्रज्ञातयोग चित्त की संस्कारशेषावस्था का नाम है । इस समाधि में निष्ठ योगी कैवल्य प्राप्त करता है । भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि विदेहों और प्रकृतिलीन साधकों को होती है । ये साधक प्रारब्ध-भोग के समय कैवल्य के समान मुक्ति की सी स्थिति का अनुभव करते हैं और ज्योंहि प्रारब्ध-भोग समाप्त होता है पुनः वे संसार में जन्म ले लेते हैं । इन साधकों की इस स्थिति को देखकर इनकी समाधि को 'योग' नहीं कहा जाना चाहिए । अतः इस सम्बन्ध में व्यासभाष्य, तत्त्ववैशारदी, राजमार्तण्डवृत्ति मणिप्रभा, स्वामिनारायणभाष्य और विज्ञानभिक्षु के सिद्धान्त ही मान्य ठहराये जा सकते हैं । इस विषय से संबन्धित योगवार्तिक का विवेचन उचित तथा सही नहीं दृष्टिगोचर होता है । 'उपायप्रत्यय' असम्प्रज्ञातसमाधि के संबन्ध में सभी व्याख्याकार एकमत हैं ।

- -

1 - द्रष्टव्य - पा०यो०सू०वृ० पृ० 16 ।
2 - द्रष्टव्य - भास्वती पृ० 57 ।
3 - द्रष्टव्य - यो०वा० पृ० 61 ।
4 - द्रष्टव्य - स्वा०ना०भा० पृ० 86 ।

ईश्वर के स्वरूप के संबन्ध में सभी व्याख्याकारों के मत कुछ न कुछ नवीनता लिये विभिन्नताएँ लिए हुए हैं । "क्लेशकर्मविपाकाशयैः" से अपरामृष्ट पुरुष विशेष 'ईश्वर' है ।[1] ईश्वर संबन्धी इस विशेषता को तो सभी मानते हैं । परन्तु ईश्वर के स्वरूप के विषय में किन्हीं विशिष्ट बातों का उल्लेख भी प्राप्त होता है । यथा -- योगवार्त्तिककार ने ईश्वर को जगत का स्रष्टा और संहार-कर्त्ता माना है । राजमार्तण्डवृत्ति में भी ईश्वर को सृष्टि और संहारकर्त्ता के रूप में स्वीकार किया गया है । मणिप्रभाकार ने ईश्वर को प्रकृति का प्रयोजक भी मान लिया है । ईश्वर के अन्दर इस प्रकार के गुण का विवेचन केवल मणिप्रभा में ही किया गया है । स्वामिनारायणभाष्य में भी ईश्वर के स्वरूप का वर्णन कुछ नवीनता लिए हुए है । इन्होंने ईश्वर को 'अनन्तमय' माना है । ईश्वर के लिए 'परमेश्वर' शब्द का प्रयोग भी इस व्याख्या में किया गया है । ईश्वर के अन्दर 'सर्वज्ञत्वता' सर्वनियन्तृत्वता और सर्वान्तर्यामित्वता इत्यादि विशेष गुणों का आधान कर इन्होंने ईश्वर को 'परमात्मा', परमेश्वर और 'उत्तमपुरुष' माना है । विवरणकार ने ईश्वर की विशेषता का निरूपण सबसे भिन्न तरीके से किया है । इनके अनुसार सातिशयता से विनिर्मुक्त, प्रधान/और पुरुष से अतिरिक्त पुरुषविशेष 'ईश्वर' है ।[2] ईश्वर को इस जगत का पालक, निर्माता और संहारकारक भी माना गया है । योगदीपिका तथा पातंजलयोगसूत्रवृत्ति में योगवार्त्तिक की हो भाँति ईश्वर के स्वरूप का निर्वचन किया गया है । भास्वती में ईश्वर का स्वरूप वर्णन भाष्य के ही सदृश किया गया है ।

ईश्वर के स्वरूप संबन्धी सभी व्याख्याकारों की व्याख्या को पढ़ने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि योग में प्रतिपादित ईश्वर के स्वरूप का वर्णन भाष्यकार ने ही किया है । तत्त्ववैशारदीकार, योगवार्त्तिककार, मणिप्रभाकार, राजमार्तण्डवृत्तिकार और विवरणकार आदि ने ईश्वर के स्वरूप का जो वर्णन किया है वह योग के अतिरिक्त वेदान्तादि दर्शनों से प्रभावित है । अतः यदि यह प्रश्न किया जाये कि योगदर्शन के अनुसार ईश्वर का स्वरूपवर्णन किस व्याख्या में प्राप्त है तो इसका सरल उत्तर यह है कि व्यासभाष्य में प्रतिपादित ईश्वर का स्वरूप ही योगसम्मत है ।

- -

1 - द्रष्टव्य - स्वा0भा0 पृ0 97 ।

2 - द्रष्टव्य - विवरण पृ0 54 ।

समापत्ति के संबन्ध में भाष्यकार ने स्पष्टतः सवितर्कादि चार प्रकार की समापत्तियों का वर्णन किया है । तत्ववैशारदीकार के अनुसार 8 प्रकार की समापत्तियाँ मानी जानी चाहिए । योगवार्त्तिककार ने वाचस्पतिमिश्र के समापत्तिविषयकभेदनिरूपण का जबरदस्त खण्डन किया है और योगवार्त्तिक में 5 प्रकार की समापत्तियों का उल्लेख किया गया है । समापत्तियों के पाँच प्रकारों का उल्लेख करते हुए वार्त्तिककार का कहना है कि ग्रहण और ग्राह्य का अन्तर्भाव सवितर्का, निर्वितर्का और सविचारा, निर्विचारा में हो जाता है । परन्तु ग्रहीतृ का अन्तर्भाव इन स्थूल, सूक्ष्मभूतों में नहीं हो सकता अतः इसके लिए ग्रहीतृविषयक समापत्ति की मान्यता अनिवार्य है । राजमार्तण्डवृत्ति/में भी समापत्ति के चार ही भेदों का उल्लेख किया गया है । मणिप्रभा, योगसिद्धान्तचन्द्रिका, भास्वती, विवरण और स्वामिनारायणभाष्य में भी भाष्याभिमत समापत्ति के चार भेदों का ही वर्णन किया गया है ।

सैद्धान्तिक दृष्टि से भी समापत्ति के चार भेद ही अधिक तर्क-संगत तथा उचित हैं । अवान्तरभेदों की कल्पना भी इन्हीं चारों में समाहित है । अतः मूलतः चार भेद ही तर्क-संगत है और इसीलिए समापत्ति के संबन्ध में भाष्यकार का निर्णय ही अधिक उचित जान पड़ता है ।

साधनपाद में वर्णित विषयों में क्रियायोग का वर्णन ही प्रारम्भिक वर्णन है । भाष्यकार तथा अन्य सभी व्याख्याकारों ने क्रियायोग के संबन्ध में यह स्पष्ट कहा है कि क्रियायोग का आचरण व्युत्थित-चित्त वालों के लिए अभिप्रेत है । 'क्रियायोग' से प्राप्त होने वाली उपलब्धियों के विषय में सभी व्याख्याकार एक मत हैं । सभी ने यह स्वीकृत किया है कि क्रियायोग से क्लेशादि तनूकृत किए जाते हैं । क्रियायोग के संदर्भ में वार्त्तिककार ने साधकों को श्रेणीबद्ध किया है । इन्होंने उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन प्रकार के साधकों की श्रेणियों का उल्लेख किया है । अभ्यास और वैराग्य उत्तम या समाहितचित्त वाले साधकों का साधन है । मध्यमश्रेणी वाले साधक प्रथमतः क्रिया-योग का आचरण करते हैं तत्पश्चात् अभ्यास और वैराग्य द्वारा योग प्राप्त करते हैं । अधमाधिकारी को योग के आठ अंगों के साथ क्रियायोग तथा इसके पश्चात् अभ्यास और वैराग्य का आचरण करना अनिवार्य होता है । साधकों के बीच इस प्रकार का वर्गीकरण विज्ञानभिक्षु के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्याख्याकार ने नहीं किया है । दो प्रकार का वर्गीकरण तो सभी की व्याख्याओं में उपलब्ध है और वह है समाहितचित्त वाले साधक दूसरा व्युत्थित-चित्त वाले साधक । इन दोनों साधकों के लिए उक्त साधनों का वर्णन सभी व्याख्याओं में प्राप्त है ।

योग के साधनों का पूरा वर्णन देखते हुए साधकों को मोक्षसुलभता का लाभ प्राप्त होना अनिवार्य सा लगता है । इस दृष्टि से विज्ञानभिक्षु का वर्णन अधिक संतोषप्रद है ।

'कर्मसिद्धान्त' के विवेचन में यद्यपि सभी व्याख्याकारों ने पृथक्-पृथक् शैली में विवेचन प्रस्तुत किया है परन्तु विषय का स्वरूप नहीं परिवर्तित हुआ है । इस संबन्ध में भाष्यकार का विवेचन पर्याप्त है । शैली की सरलता के कारण भाष्य में उल्लिखित विवेचन सुगम तथा सुबोध बन पड़ा है । भाष्यकार ने कर्मफलसिद्धान्त के संबन्ध में अदृष्टजन्म-वेदनीय-नियतविपाक-कर्माशय को एक जन्म वाला फल देने वाला माना है ।

द्वितीय-पाद के 15वें सूत्र में स्थित 'गुणवृत्त्यविरोधात्' पद को लेकर व्याख्याओं में मतभेद मिलता है । भाष्यकार के अनुसार विषयसुख त्रिगुणात्मक हैं अतः यद्यपि भोग के समय सुख की अनुभूति होती है परन्तु यथार्थतः सभी विषय सुख दुःख रूप ही हैं । जब विषय सुख प्रदान करते हैं उस समय भी तीनों 'गुण' वर्तमान रहते हैं । जब विषय दुःख देते हैं उस समय भी तीनों 'गुण' वर्तमान रहते हैं । केवल 'गुणों' में 'प्रधानभाव' और 'गौणभाव' का अन्तर होता है । तीनों गुण सामूहिक साथ रहते हैं इसी आधार पर भाष्यकार ने 'गुणवृत्त्यविरोधात्' पाठ को स्वीकृत किया है । तत्त्ववैशारदीकार ने भी 'गुणों' में 'अविरोध' के सिद्धान्त को ही स्वीकृत किया है । योगवार्त्तिककार भी इसी मत से सहमत होकर 'गुणों' में अविरोध के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं और उन्होंने 'गुणवृत्त्यविरोधात्' पाठ को प्रामाणिक पाठ कहा है ।

राजमार्तण्ड-वृत्ति में उक्त व्याख्याओं के विपरीत पाठ को स्वीकृत किया गया है । इनके अनुसार सत्त्व, रज और तमोगुण से उत्पन्न वृत्तियाँ परस्पर विरोधी होती हैं । अतः 'गुणों' में 'विरोधवृत्ति' को ही स्वीकार करना चाहिए । इसी आधार पर राजमार्तण्ड-वृत्तिकार ने अपनी व्याख्या में 'गुणवृत्तिविरोधात्' पाठ को स्वीकार किया है । मणिप्रभा-कार ने राजमार्तण्डवृत्ति की ही भाँति इस विषय का प्रतिपादन किया है । चन्द्रिकाकार और योगसिद्धान्तचन्द्रिकाकार ने भाष्य के ही समान गुणों में 'अविरोध' के सिद्धान्त को स्वीकार किया है । स्वामिनारायण-भाष्य में 'गुणवृत्तिविरोधाच्च' पाठ स्वीकृत किया गया है

इस संबन्ध में इस व्याख्या में यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कार दुःख तीनों ही परस्पर भिन्न-भिन्न हैं । अतः इन भिन्न-भिन्न भावों का अनुभव जिन कारणों से होता है वे कारण भी परस्पर भिन्न ही होंगे । अतः 'गुणों' में 'विरोध' भाव ही स्वीकार्य होना चाहिए ।

उक्त विवेचन के आधार पर 'गुणवृत्त्यविरोधात्' पाठ ही अधिक तर्कसंगत जान पड़ता है अतः यही पाठ स्वीकृत भी होना चाहिए ।

दृश्य पदार्थों के संबन्ध में सभी व्याख्याकारों ने गुणों को ही दृश्य माना है । 'दृश्य' के लिए 'बुद्धिसत्त्व' शब्द का भी उपयोग किया गया है । सभी व्याख्याओं में 'दृश्य' तत्व का विवेचन लगभग समान रूप से ही किया गया है । योगवार्तिक में अवश्य कुछ विशेष उल्लेख प्राप्त होता है यथा — 'गुण' तो 'दृश्य' हैं ही साथ में उनके विकार भी 'दृश्य' ही हैं क्योंकि जिस प्रकार 'ईख' के 'पर्व' वाला भाग भी 'ईख' ही कहलाता है उसी प्रकार गुणों का विकार भी गुणों से पृथक्[1] कुछ भी नहीं प्रत्युत गुण के ही विकार हैं अतः उन्हें भी दृश्य कहा जाना चाहिए ।

'प्रान्तभूमि' प्रज्ञा का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने लिखा है — अविप्लव-विवेकख्याति से युक्त योगी की प्रज्ञा प्रत्ययान्तरों को उत्पन्न न करने वाली होने के कारण प्रकृष्ट कही गई है । उसकी उत्कृष्टता सात-प्रकार की होती है । जिसका उल्लेख भाष्यकार, तत्त्ववैशारदीकार, योगवार्तिककार, राजमार्तण्डवृत्तिकार, विवरणकार, भास्वतीकार मणिप्रभाकार तथा अन्यान्य व्याख्याकारों ने समान भाव से किया है । सभी व्याख्याओं का अध्ययन करने के उपरान्त यह निश्चित किया जाता है कि मणिप्रभाकार ने अन्य सभी व्याख्याओं की अपेक्षा इस विषय का विवेचन उपयुक्त स्पष्ट तथा व्युत्पत्तिनिमित्तक किया है । सर्वप्रथम इस व्याख्या में 'प्रान्त' शब्द की व्याख्या की गई है — यथा प्रकृष्ट अवसान-रूप अन्त वाली जो है वह 'प्रान्त' अथवा 'चरम' है । 'भूमि' शब्द का अर्थ 'अवस्था' किया गया है । 'अविप्लवविवेकख्याति' का अर्थ 'स्थिर-आत्मख्याति' किया गया है । इस प्रकार पूरे पद की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए मणिप्रभाकार ने इस पद का अर्थ इन शब्दों में किया है । "स्थिरआत्मख्याति होने पर योगी की प्रज्ञा सात-प्रकार की प्रकृष्ट अन्तों से युक्त चरमभूमियों वाली होती है ।[2]" इस विषय के संबन्ध में शेष वर्णन भाष्य के ही सदृश है ।

- -

1 - द्रष्टव्य - यो०वा०पृ० 194 ।

2 - द्रष्टव्य - मणिप्रभा पृ० 38, 39 ।

योगाङ्गों के स्वरूप और उनकी उपयोगिता के संबन्ध में सभी व्याख्याकार बहुत अंशों में एकमत हैं और भाष्य के शब्दों का यथावत् उपयोग भी करते हैं । किन्तु 'आसन' और 'प्राणायाम' के स्वरूप एवं उनके भेदों के संबन्ध में पर्याप्त मत-भेद देखने को मिलता है । भाष्यकार के अनुसार स्थायी सुख देने वाली शरीर की स्थिति विशेष ही "आसन" है । "यथासुखं" शब्द में कर्मधारय-समास निहित है जिसका अर्थ है — जिसमें सुख का अतिक्रमण न होने पाये वह अनतिक्रम सुख ही "स्थिर-सुख" है ।[1] तत्ववैशारदीकार ने 'स्थिर' शब्द को बहुव्रीहि-समास के अर्थ में प्रयुक्त किया है यथा — 'स्थिरं सुखं येन तत् ।' जिसका अर्थ इस प्रकार है । निश्चल सुख देने वाले प्रकार का आसन "स्थिर-सुख" है ।[2] राजमार्तण्डवृत्ति में भी बैठने के प्रकार को ही 'आसन' कहा गया है । जिस प्रकार बैठने में 'स्थिरसुख' की प्राप्ति होती है उस बैठने के प्रकार को 'स्थिरसुखमासन' कहा गया है ।[3] मणिप्रभा में राजमार्तण्डवृत्ति के ही सदृश व्याख्या की गई है । अन्य व्याख्याओं यथा योगदीपिका, पातंजलयोगसूत्रवृत्ति, योगसूत्रार्थबोधिनी, भास्वती और स्वामि-नारायण-भाष्य में 'बैठने के प्रकार' को 'आसन' कहा गया है । विवरण में इन व्याख्याओं से किंचित् भिन्न रूप में वर्णन प्रस्तुत किया गया है यथा — जिस प्रकार के आसन में मन तथा शरीर के अंग स्थिर रहते हैं अर्थात् मन और शरीर दोनों में व्यग्रता आती हो तथा जो सुखदायक हो उसी प्रकार के आसन का अभ्यास करना चाहिए और इसी प्रकार के बैठने को 'आसन' कहा गया है ।[4]

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो भाष्यकार और योगवार्तिककार ने इस विषय का वर्णन समान रूप से किया है । किन्तु तत्ववैशारदीकार का वर्णन इस विषय को स्पष्ट करने में अधिक सहायक बन पड़ा है ।

'प्राणायाम' की सामान्य परिभाषा देने में सभी व्याख्याकार एकमत हैं । उसके प्रत्यन्तरस्थ तत्वों की व्याख्या में अवश्य कुछ न कुछ भिन्न विचार मिलते हैं । यथा — प्राणायाम के संदर्भ में आए हुए 'उद्घात' शब्द की व्याख्या भाष्यकार ने नहीं की गई है । तत्ववैशारदीकार ने भी 'उद्घात' के विषय में कोई विवेचन नहीं किया है ।

- -

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 261 ।
2 - द्रष्टव्य - त0वै0 पृ0 261 ।
3 - द्रष्टव्य - रा0मा0वृ0पृ0 255 ।
4 - द्रष्टव्य - विवरण पृ0 285 ।

योगवार्त्तिककार ने 'उद्घात' शब्द का अर्थ इस प्रकार से किया है — वायु का ऊपर टकराना 'उद्घात' है । इन्होंने 'पूरक' को ही 'प्रथम-उद्घात' माना है । 'कुम्भक' को 'द्वितीय-उद्घात' माना है तथा 'रेचक' को 'तृतीय-उद्घात' माना है । निमेषोन्मेषण रूप मात्रा नामक पदार्थ द्वारा 16 बार श्वास का प्रवेश 'पूरक-उद्घात' है और 64 बार 'कुम्भक' को 'द्वितीय-उद्घात' कहा गया है । 32 मात्रा में 'रेचक' को 'तृतीय-उद्घात' कहा गया है । भाष्यकार व्यास ने मात्राओं की संख्या को नहीं दिया है । केवल इतना लिखा है कि कम मात्रा तक के उद्घात को 'मृदुउद्घात' कहते हैं, उससे अधिक मात्रा वाले को 'मध्यम-उद्घात' और सबसे अधिक मात्रा वाले को 'तीव्र-उद्घात' कहते हैं । तत्त्ववैशारदीकार ने 36 बार श्वास, प्रश्वास की टकराहट को 'प्रथम-उद्घात' कहा है, 72 बार की टकराहट को 'द्वितीय-उद्घात' और 108 बार को 'तृतीय-उद्घात' कहा है । राजमार्तण्डवृत्ति में भी केवल 'उद्घात' शब्द की व्याख्या की गई है । उद्घातविषयक मात्राओं का उल्लेख नहीं किया गया है । 'उद्घात' शब्द की व्याख्या इन शब्दों में की गई है । 'नाभि के मूल से प्रेरित वायु का सिर से टकराना 'उद्घात' है ।' जितनी बार वायु सिर से टकराती है, उतने ही 'उद्घात' बनते हैं ।[2]

मणिप्रभा में 'उद्घात' शब्द का नामोल्लेख भी नहीं किया गया है । भास्वतीकार ने भी 'उद्घात' शब्द की व्याख्या नहीं की है किन्तु तीनों उद्घातों की मात्राओं का उल्लेख किया है । इन्होंने 12 मात्रा तक को प्रथम या मृदुउद्घात, 24 मात्रा तक को द्वितीय या मध्य-उद्घात और 36 मात्रा तक को तृतीय या तीव्र-उद्घात कहा है ।[3] विवरणकार ने मात्राओं के द्वारा परीक्षित करने पर इतनी संख्या तक श्वास, प्रश्वास की क्रिया करने पर प्रथम-उद्घात होता है जिसको 'मृदुउद्घातनाम' दिया है । इसी तरह द्वितीय-उद्घात या मध्यम-उद्घात और तृतीय या तीव्र-उद्घातों से प्राणायामों की मन्द स्थिति, मध्यम स्थिति तथा तीव्र स्थिति का पता चलता है ।

प्राणायामों के वैदिक सन्दर्भ में पूर्व के तीन प्राणायामों को सभी व्याख्याकारों ने सूत्र को ही भाँति स्वीकार किया है । चौथे प्राणायाम के विवेचन में थोड़ा बहुत अन्तर दिखाई पड़ता है । भाष्यकार ने चतुर्थप्राणायाम का कोई नाम नहीं दिया है । इसके सम्बन्ध में केवल इतना कहा है कि बाह्य तथा आभ्यन्तर प्राणायामों का अतिक्रमण करने वाला चतुर्थ-प्राणायाम होता है । 'रेचक' और 'पूरक' की भूमियों के सिद्ध होने पर दोनों का पूर्ण निरोध ही चतुर्थ-प्राणायाम है । स्तम्भ-प्राणायाम यानी तृतीय-प्राणायाम और चतुर्थप्राणायाम में भेद यह है कि तृतीय में आलोचन प्रवृत्त रहता है और चतुर्थ प्राणायाम में आलोचन हो चुका होता है ।

1 - द्रष्टव्य - यो०वा०पृ० 262 ।
2 - द्रष्टव्य - रा०म०पृ० पृ० 261 ।
3 - द्रष्टव्य - भास्वती पृ० 269 ।

तत्ववैशारदीकार ने चतुर्थप्राणायाम का विवेचन भाष्यकार की ही भाँति किया है । तृतीय और चतुर्थ-प्राणायाम का वैशिष्ट्य बताते हुए लिखते हैं — तृतीय में देश कालादि द्वारा देखे बिना एकबार के ही प्रयत्न से श्वास और प्रश्वास की गति को अवरुद्ध किया जाता है । चतुर्थप्राणायाम में आलोचन पूर्वक अधिक प्रयत्न से रेचक, पूरक का पूर्ण-निरोध होता है । योगवार्त्तिक में स्तम्भवृत्तिक-प्राणायाम को 'कुम्भक' नाम दिया गया है । रेचक, पूरक और स्तम्भ-प्राणायामों का वर्णन भाष्यकार से मिलता जुलता है परन्तु 'कुम्भक' के बारे में कुछ विशेष वर्णन किया गया है जो अन्य व्याख्याओं में अनुपलब्ध है । 'कुम्भक' के बारे में वार्त्तिककार ने लिखा है कि — यह रेचक, पूरक का अतिक्रमण कर स्वयमेव रहता है इस प्रकार का प्राणायाम ही चतुर्थप्राणायाम है जिसे 'केवल-कुम्भक' नाम दिया गया है । यह नाम 'वशिष्ठ-संहिता' से लिया गया है । केवल-कुम्भक-प्राणायाम बहुत व्यापक है क्योंकि यह 'रेचक' और 'पूरक' की भाँति न तो देश से परिच्छिन्न है न काल से परिच्छिन्न है और न ही संख्या से परिच्छिन्न है । प्रत्युत अपनी इच्छा से यह मास वर्ष और संवत्सर तक रहता है । तृतीय-प्राणायाम जिसका नाम इन्होंने 'मितकुम्भक' दिया है इससे चतुर्थ-प्राणायाम में भेद का निरूपण भाष्य से मिलता जुलता है ।

राजमार्तण्डवृत्ति में भी प्राणायाम के चार भेदों का उल्लेख किया गया है । इन्होंने प्रत्येक भेद के साथ 'वृत्ति' शब्द को संयुक्त किया है । यथा 'रेचक-वृत्ति' 'पूरक-वृत्ति,' 'कुम्भकवृत्ति' और 'केवलकुम्भकवृत्ति' । मणिप्रभा में भी प्राणायामों के नाम के साथ 'वृत्ति' शब्द संयुक्त है परन्तु प्राणायामों का नाम राजमार्तण्डवृत्ति से भिन्न है । यथा — 'बाह्यवृत्ति,' 'आभ्यन्तरवृत्ति,' 'स्तम्भवृत्ति' और 'चतुर्थप्राणायाम' । योगसूत्रार्थबोधिनी और योगसिद्धान्तचन्द्रिका में मणिप्रभा के ही सदृश वर्णन किया गया है । स्वामिनारायणभाष्य में 'रेचक', 'पूरक,' 'स्तम्भवृत्ति' और 'केवल-कुम्भक' के भेद से चार भेद प्राणायाम के किये गए हैं । विवरणकार ने भी प्राणायामों का नाम मणिप्रभा की ही भाँति दिया है । चतुर्थ-प्राणायाम के वर्णन में भेद का निरूपण सभी व्याख्याकारों के अनुसार इस प्रकार है -- भाष्यकार ने प्राण की गति के पूर्ण-निरोध को 'चतुर्थप्राणायाम' माना है । तत्ववैशारदीकार ने अधिक प्रयत्न से रेचक और पूरक के पूर्ण-निरोध को 'चतुर्थ-प्राणायाम' माना है और राजमार्तण्डवृत्तिकार ने रेचक, पूरक के सहसा निरोध को 'चतुर्थ-प्राणायाम' माना है । तीनों व्याख्याओं में निरोध के प्रयत्न में अन्तर स्पष्टतः परिलक्षित होता है । योगवार्त्तिककार ने इस प्राणायाम का वर्णन भिन्न ही शैली में किया है । इन्होंने 'रेचक' और 'पूरक' के अतिक्रमण को 'चतुर्थ-प्राणायाम' कहा है ।

भास्वतीकार ने दोनों प्राणायामों के क्रम-पूर्वक अभाव को 'चतुर्थ-प्राणायाम' स्वीकृत किया है । इन्होंने 'चतुर्थ-प्राणायाम' को 'समावृत्तिविशेष-रूप-प्राणायाम' भी कहा है । विवरणकार ने भाष्य की ही भाँति विवेचन किया है । उक्त सभी व्याख्याकारों की व्याख्या का परीक्षण करने के उपरान्त योगवार्तिक में व्याख्यात विवेचन ही अधिक पूर्ण तथा समुचित है । वैसे विषय का निरूपण सभी व्याख्याओं में ठीक ही किया गया है परन्तु विषय का विश्लेषणात्मक निरूपण योगवार्तिक में ही प्राप्त होता है । इस व्याख्या में सर्वप्रथम प्राणायाम की परिभाषा दी गई है तत् पश्चात् प्राणायाम का वर्गीकरण और उसके पश्चात् उनका यथोचित विवेचन किया गया है । तृतीय प्राणायाम को 'स्तम्भवृत्ति' नाम दिया गया है । यह नाम इस व्याख्या में ही उपलब्ध है अन्यत्र नहीं है ।

कुछ दृष्टियों से अन्य व्याख्यायें भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं । यथा – राजमार्तण्डवृत्ति में 'उद्घात' शब्द की व्याख्या की गई है जब कि योगवार्तिक, व्यासभाष्य, भास्वती, विवरण, स्वामिनारायणभाष्य, योगदीपिकादि में 'उद्घात' की परिभाषा नहीं दी गई है । मात्राओं का निरूपण अवश्य भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से किया है । तत्ववैशारदी और मणिप्रभा में उद्घात की परिभाषा दी गई है । अतः केवल योगवार्तिक को ही इस विषय के निरूपण के संबन्ध में सबसे ऊँचा स्थान नहीं दिया जा सकता है क्योंकि प्रत्येक व्याख्याओं में कुछ न कुछ नयी व्याख्या प्राप्त है जिसके द्वारा सूत्र में निर्दिष्ट प्राणायाम का स्वरूप स्पष्ट होता है ।

धारणादि-त्रय को सभी व्याख्याओं में सम्प्रज्ञात का 'अन्तरंग' और असम्प्रज्ञात का 'बहिरंग' माना गया है । 'अन्तरंग' शब्द का अर्थ अवश्य कुछ व्याख्याओं में भिन्न-भिन्न रूप में किया गया है । भाष्यकार ने 'अन्तरंग' शब्द की व्याख्या नहीं की है । तत्ववैशारदीकार ने धारणादित्रय को सम्प्रज्ञातसमाधि का 'अन्तरंग' 'समानविषयत्व' प्रयोजक के रूप में स्वीकार किया है ।[1] राजमार्तण्ड वृत्ति के अनुसार 'अन्तरंग' शब्द स्वरूप का निष्पादक के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।[2] योगवार्तिक के अनुसार 'अन्तरंग' का तात्पर्य है 'साक्षात्कारक' अर्थात् धारणादित्रय सम्प्रज्ञातसमाधि के साक्षात्कारक हैं ।[3] मणिप्रभाकार ने तत्ववैशारदी के ही मत का अनुसरण किया है । भास्वतीकार ने भाष्य के अनुसार ही व्याख्या की है । अतः भास्वती में तो 'अन्तरंग' शब्द का विवेचन नहीं किया गया है । योग-सिद्धान्तचन्द्रिका में

- -

1 - द्रष्टव्य - त०वै०पृ० 264 ।

2 - द्रष्टव्य - रा०मा०वृ०पृ० 286 ।

3 - द्रष्टव्य - या०वा० पृ० 284 ।

'अन्तरंग' का अर्थ साक्षात्-रूप से सहायक या उपकारक माना गया है।[1] योगसिद्धान्तचन्द्रिका और पातंजलयोगसूत्रवृत्ति के अनुसार धारणात्रिक सम्प्रज्ञातसमाधि में सर्वदा विद्यमान रहने के कारण ही सम्प्रज्ञातसमाधि के 'अन्तरंग' कहे गए हैं।[2] स्वामिनारायणभाष्य के अनुसार साक्षात्सम्पादक के अर्थ में 'अन्तरंग' शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] धारणादि सम्प्रज्ञातसमाधि का साक्षात्-रूप से सम्पादन करते हैं इसी लिए इन्हें सम्प्रज्ञातसमाधि का 'अन्तरंग' कहा गया है। धारणादि सम्प्रज्ञातसमाधि के 'अन्तरंग' हैं इस विषय का समुचित विवेचन योगवार्त्तिक में ही प्राप्त होता है। योगवार्त्तिक में धारणात्रिक को सम्प्रज्ञातसमाधि का 'बीज' कहा गया है। धारणात्रिक के द्वारा ही सम्प्रज्ञातसमाधि की स्थिति होती है। बिना इनके सम्प्रज्ञातसमाधि नहीं हो सकती। अतः इन्हें सम्प्रज्ञातसमाधि का 'मूलकारण' अथवा 'बीज' कहा गया है। ये ही धारणात्रिक असम्प्रज्ञातसमाधि के 'बहिरंग' हैं क्योंकि असम्प्रज्ञातसमाधि 'निर्बीज' होती है। यह समाधि ध्येयशून्य-समाधि है अतः धारणादि-त्रय असम्प्रज्ञातयोग के 'बीज' अथवा 'अन्तरंग' नहीं हो सकते। ये धारणात्रिक परम्परया असम्प्रज्ञातसमाधि की प्राप्ति में सहायक होते हैं अतः असम्प्रज्ञातसमाधि के 'बहिरंग' हुए।[4]

योगसाधनाकाल में होने वाले चित्त के परिणामों के वर्णन के प्रसंग में भी व्याख्याकारों में मतभेद है। 'निरोध-परिणाम' को अधिकांश व्याख्याकारों ने असम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तर्गत स्वीकार किया है। 'समाधि-परिणाम' और 'एकाग्रतापरिणाम' के विषय में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। भाष्यकार व्यास ने 'समाधि-परिणाम' को 'अंगभूतसमाधि' में और 'एकाग्रता परिणाम' को 'सम्प्रज्ञातसमाधि' के अन्तर्गत स्वीकार किया है। तत्त्ववैशारदीकार ने 'समाधि-परिणाम' को 'समाधानकाल' में अथवा 'योग' के प्रारम्भिक काल में और 'एकाग्रता-परिणाम' को 'परिनिष्ठित-सम्प्रज्ञातसमाधि' में स्वीकृत किया है।[5] राजमार्तण्डवृत्ति के अनुसार तीनों परिणाम एकाग्रचित्त-निरुद्धचित्त में ही होते हैं। इन तीनों परिणामों की स्थिति सम्प्रज्ञातसमाधि में होती है। राजमार्तण्डवृत्तिकार का मत यहाँ सभी से पृथक तथा भिन्न है इन्होंने तीनों परिणामों को सम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तर्गत ही स्वीकार कर लिया है।

- -

1 - द्रष्टव्य - यो०सि०च० पृ० 109।
2 - द्रष्टव्य - पा०यो०सू०वृ० पृ० 62।
3 - द्रष्टव्य - स्वा०ना०भा०पृ० पृ० 269।
4 - द्रष्टव्य - यो०वा०पृ० 286।
5 - द्रष्टव्य - त०वै०पृ० 287।

योगवार्तिक के अनुसार असम्प्रज्ञात और सम्प्रज्ञात दोनों समाधियों में 'निरोध-परिणाम' होता है।[1] 'समाधिपरिणाम' को 'योगाङ्गभूत-समाधि' की प्रारम्भिक अवस्था में स्वीकार किया गया है। 'परिनिष्ठित-योगाङ्गसमाधि' में 'एकाग्रता-परिणाम' को स्वीकृत किया गया है।[2] मणिप्रभाकार ने 'निर्बीज-रूप' 'असम्प्रज्ञातसमाधि' में 'निरोधपरिणाम' को स्वीकार किया है और 'समाधिपरिणाम' को 'सम्प्रज्ञातसमाधि' के अन्तर्गत स्वीकृत किया है। 'एकाग्रतापरिणाम' को भी 'सम्प्रज्ञातसमाधि' में ही स्वीकृत किया गया है। योगदीपिकाकार ने 'निरोधपरिणाम' को 'असम्प्रज्ञातसमाधि' में स्वीकृत किया है और 'समाधिपरिणाम' को 'अंगसमाधि' की अवस्था का परिणाम माना है। एकाग्रतापरिणाम को अंगसमाधि का उत्तर कालीन परिणाम माना है। पातंजलयोगसूत्रवृत्ति में योगवार्तिक की ही भांति विवेचन किया गया है। स्वामिनारायणभाष्य में 'निरोधपरिणाम' 'असम्प्रज्ञातसमाधि' में स्वीकार किया गया है और 'समाधिपरिणाम' 'सम्प्रज्ञातसमाधि' में तथा 'एकाग्रतापरिणाम' को भी 'सम्प्रज्ञातसमाधि' में ही स्वीकृत किया गया है।

सूत्रार्थबोधिनी के अनुसार 'निरोध-परिणाम' 'असम्प्रज्ञातकालीन' अथवा 'निर्बीज-समाधि' का परिणाम है। 'समाधि-परिणाम' और 'एकाग्रतापरिणाम' को 'सम्प्रज्ञातसमाधि' के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। योगसिद्धान्तचन्द्रिका के अनुसार 'समाधिपरिणाम' 'योगाङ्ग समाधि' का परिणाम है और 'एकाग्रतापरिणाम' 'अंगसमाधि' की परिनिष्ठित अवस्था का परिणाम है। विवरण के अनुसार 'निरोध-परिणाम' संस्कार-शेषावस्था का परिणाम है। 'समाधिपरिणाम' 'सम्प्रज्ञातसमाधि' का परिणाम है और 'एकाग्रतापरिणाम' भी समाधिस्थचित्त का ही परिणाम है।

उक्त विवेचन का अनुशीलन करनेके उपरान्त निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि चित्त के परिणामों की स्थिति के सम्बन्ध में सभी व्याख्याओं में निहित विचार उचित हैं परन्तु योगवार्तिक के अतिरिक्त अन्य सभी व्याख्याओं में कुछ कमी रह जाती है। वह यह है कि सूत्र 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के आधार पर निरोध-परिणाम की स्थिति सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातसमाधि दोनों में ही होनी चाहिए। क्योंकि वृत्तियों का निरोध तो दोनों ही समाधियों में होता है। इस आधार पर केवल योगवार्तिककार का ही निरूपण सूत्रानुकूल है बाकी किसी और व्याख्याकार का नहीं। सूत्रानुकूल होने के कारण

- -

1 - द्रष्टव्य - यो०वा० पृ० 289 ।

2 - द्रष्टव्य - -वही पृ० 290 ।

योगवार्तिककार का निरूपण अधिक सही प्रतीत होता है । यों सही तो सभी का मत है परन्तु दृष्टिकोण में किंचित् कमी रह गयी है जिसकी पूर्ति केवल योगवार्तिक से ही होती है ।

अब अन्त में चतुर्थपाद में वर्णित विषयों के संबन्ध में विचार किया जा रहा है ।--'निर्माणकाय' और 'निर्माणचित्त' के वर्णन के संबन्ध में सभी व्याख्याकारों का यहाँ तक एकमत है कि योगी तथा सिद्ध चैत्तविध-सिद्धियों से पाँच प्रकार के निर्माणकाय बनाते हैं। यहाँ तत्ववैशारदीकार का मत औरों से भिन्न है । तत्ववैशारदीकार ने जन्म से ही सिद्धि प्राप्त देवादिदेह को 'निर्माणकाय' नहीं माना है । वे 'निर्माणकाय' और 'निर्माणचित्त' चार प्रकार का मानते हैं । 'निर्माणकाय' और 'निर्माणचित्त' के संदर्भ में विज्ञानभिक्षु का विचार विशिष्टतापूर्ण है । जात्यन्तरपरिणाम गज, तुरंग या अन्य प्रकार के वेष से भी संबन्धित हो सकता है अर्थात् सिद्ध लोग अपनी सिद्धियों के द्वारा जब जैसे शरीर का निर्माण करना चाहते हैं कर लेते हैं । प्रत्येक निर्माणकाय, सचित्त होते हैं । 'निर्माण-चित्तों' को इन्होंने 'निर्माणमन' भी कहा है । "मन" कहने से अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता है । निर्माणमन की रचना के साथ ही 'बुद्धि' और 'अहंकार' का भी निर्माण हो जाता है । संक्षेप में यही वार्तिककार का इस विषय से संबन्धित विशेष विवेचन है । यह विवेचन केवल योगवार्तिक में ही उपलब्ध है अतः भाष्यकार, तत्ववैशारदीकार तथा राजमार्तण्ड वृत्तिकार की व्याख्याओं की तुलना में इनकी व्याख्या का विवेचन विशिष्टतापूर्ण है और उचित भी है क्योंकि 'निर्माणकाय' और 'निर्माण-मन' की रचना होने पर बाकी अवान्तर-तत्वों की भी रचना आवश्यक है । इस दृष्टि से इनकी व्याख्या अन्य व्याख्याओं की तुलना में अधिक उचित तथा सार्थक है । निर्माण-चित्तों के संदर्भ में एक 'नायक-चित्त' की स्थिति को सभी व्याख्याकारों ने स्वीकार किया है ।

धर्ममेघ-समाधि का विवेचन भाष्यकार व्यास ने अतिसंक्षिप्त किन्तु स्पष्ट रूप में किया है । भाष्यकार की व्याख्या को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए योगवार्तिक तत्ववैशारदी और भास्वती नामक व्याख्याओं का परिशीलन एवम् अनुशीलन आवश्यक है । 'धर्ममेघसमाधि' के संदर्भ में आये हुए 'अकुसीद' शब्द के अर्थ का सम्यक्-ज्ञान उक्त व्याख्याओं से ही प्राप्त होता है । निरन्तरविवेकख्याति होने के उपरान्त 'सर्वज्ञातृत्व' तथा 'सर्वभावाधिष्ठातृत्व' रूप उपलब्धियों की प्राप्ति होती है किन्तु जब योगी इन सिद्धियों के प्रति अनासक्त भाव को (अकुसीद) होकर केवल विवेकख्याति में ही लीन रहता

---

1 - द्रष्टव्य - यो०वा० पृ० 401 ।

है तभी धर्ममेघ-समाधि होती है । 'धर्ममेघ-समाधि' सम्प्रज्ञातयोग की पराकाष्ठा है ।
इस विषय का प्रतिपादन सभी व्याख्याकारों ने उचित तथा पर्याप्त किया है । अतः यह निश्चित करना कि कौन सी व्याख्या इस विषय के संबंध में सबसे अच्छी है कदाचित् बहुत दुष्कर कार्य है ।

क्रम के स्वरूप का वर्णन यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो विषयस्पष्टीकरण की दृष्टि से कई व्याख्यायें उचित जान पड़ती हैं । भाष्यकार ने इस विषय का बहुत सुन्दर तथा समुचित वर्णन किया है । भाष्य को पढ़ लेने के पश्चात् इस विषय का कोई भी अंश अस्पष्ट नहीं रह जाता है । अतः अन्य वृत्तियों की सहायता की आवश्यकता ही नहीं रह जाती । सभी वृत्तियों का अवलोकन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भाष्यकार के अतिरिक्त मणिप्रभाकार ने भी प्रस्तुत विषय का वर्णन अत्यन्तसूक्ष्मता के साथ किया है । मणिप्रभा में वर्णन की शैली बड़ी ही प्रभावपूर्ण तथा बोधगम्य है ।

अन्त में कैवल्य के स्वरूप का विवेचन किया गया है । भाष्यकार ने सूत्र के आधार पर कैवल्य का विवेचन चारों-पादों में किया है । समाधिपाद में कैवल्य के स्वरूप का तथा उसके साधन का वर्णन किया गया है । साधनपाद में प्रकृति, पुरुष के संयोगाभाव को कैवल्य माना गया है । तृतीय अर्थात् विभूतिपाद में कैवल्य की स्थिति का निरूपण किया गया है और चतुर्थपाद में कैवल्य का परिपूर्ण प्रतिपादन किया गया है । चतुर्थपाद में गुणों की दृष्टि से कैवल्य का वर्णन किया गया है और यह बताया गया है कि किस प्रकार 'गुण' अपने कारण 'प्रकृति' में लीन हो जाते हैं । गुणों के प्रकृति में लीन हो जाने के उपरान्त गुणों से वियुक्त पुरुष ही 'कैवल्य' की स्थिति का लाभ प्राप्त करता है । इस प्रकार चतुर्थपाद में ही 'कैवल्य' का पूर्ण वर्णन प्राप्त होता है । भाष्यकार की ही तरह अन्य व्याख्याकारों ने भी चारों पादों में कैवल्य विषयक निरूपण प्रस्तुत किया है ।

अन्त में 'सांख्य-योग' दर्शन का संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन अभिप्रेत है । 'सांख्य' और 'योग' में वस्तुतः कोई भेद नहीं है । अतः 'सांख्य' और 'योग' को अलग - अलग मानना भ्रान्तिपूर्ण तथा अविवेकपूर्ण है । इस संबन्ध में ही यह कहा गया है -- 'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।' योगदर्शन को कपिल के सांख्य का 'उत्तरवर्ती' या 'उत्तरसांख्य' कहा जाये तो अनुचित न होगा । 'सांख्य - दर्शन' के 25 तत्त्वों को योगदर्शन में भी माना गया है । एक विशिष्टता और जुड़ गई है और वह है 'ईश्वर' रूप 26वें तत्त्व को भी मान लेना । 'योग' दर्शन में 'ईश्वर' को भी

माना गया है जिसके लिए 'पुरुष-विशेष' 'ईश' का प्रयोग किया गया है । इस प्रकार 'सांख्य' और 'योग' दोनों शास्त्र समान हैं ।

'सांख्य' और 'योग' दोनों ही परिणामवादी दर्शन हैं । इन दर्शनों के अनुसार उत्पत्ति और विनाश नहीं होता । योगदर्शन के अनुसार पुरुष में ज्ञान, प्रयत्न, सुख, दुःख धर्म और अधर्मादि कुछ भी नहीं होते । पुरुष शुद्ध होता है परन्तु प्रकृति के साथ तादात्म्यभ्रम के कारण वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर बुद्धिवृत्तियों के रूप का प्रतिभासित होता है । जब विवेकख्याति द्वारा पुरुष को प्रकृति और पुरुष का विभिन्न ज्ञान प्राप्त होता है तब चित्त की समस्त वृत्तियाँ दग्धबीज-भावापन्न हो जाती हैं जिससे चित्त निवृत्तिक अथवा वृत्तिशून्य हो जाता है और तब दुःखात्मक भोगों से वियुक्त पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित होकर मोक्ष प्राप्त करता है । 'मोक्ष' संबन्धी यही विवेचन योगदर्शन में अभिप्रेत है ।

--- x ---

सहायक ग्रन्थों की सूची

1 - आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान । ले0 डा0सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव । लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद - 1969 ई

2 - दर्शन-संग्रह । ले0 दीवानचन्द । प्रकाशन शाखा - सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश 1958 ई

3 - दर्शन-दिग्दर्शन । ले0 राहुल सांकृत्यायन । मुद्रक - जे0के0शर्मा, इलाहाबाद ला जर्नलप्रेस, इलाहाबाद 1947 ई

4 - न्यायसिद्धान्तमुक्तावली - ले0 पं0 श्रीकृष्णवल्लभाचार्य । ज्योतिष प्रकाश प्रेस विश्वेश्वरगंज, बनारस सिटी सन् 1940 में प्रकाशित ।

5 - पातंजलयोगसूत्रम् - सम्पादक, रामशंकरभट्टाचार्य । भारतीय विद्या-भवन से 1969 में प्रकाशित ।

6 - पातंजलयोगदर्शनम् - व्याख्याकार स्वामी श्री ब्रह्मलीनमुनि । प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ । वाराणसी ।

7 - पातंजलयोगसूत्रों की वृत्ति-'योगालोक' - व्याख्याकार, विद्यानन्द विदेह । अजमेर से 1969 में प्रकाशित ।

8 - पातंजलयोगसूत्रविवरणम् - ले0 शंकरभगवत्पादप्रणीतम् । मद्रास से 1952 में प्रकाशित ।

9 - पातंजलयोगदर्शनम् - वाचस्पतिमिश्र विरचित - तत्त्ववैशारदी - विज्ञानभिक्षुकृत योगवार्तिकविभूषित - व्यासभाष्यसमेतम् । भारतीय विद्याभवन प्रकाशन । वाराणसी से 1971 में प्रकाशित ।

10- पातंजलयोगदर्शनम् - भोजदेव प्रणीत राजमार्तण्डवृत्तिसहित । सम्पादक स्वर्गीय पं0 रुद्रदत्त शर्मा । प्रकाशक सुरेन्द्र कुमार शर्मा । 1960 ई

11- पातंजलयोगदर्शनम् - महर्षि व्यासदेव प्रणीत भाष्य तथा राजर्षि भोजदेव प्रणीत वृत्ति सहित । प्रकाशक श्री मदनलाल लक्ष्मीनिवास चाण्डक । सन् 1961 में अजमेर से प्रकाशित ।

12- ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव-भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन । ले0 रामकृष्ण । 1960 में प्रकाशित ।

13- भारतीय तत्वचिन्तन - ले0 जगदीश चन्द्र जैन, प्रकाशक राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड । बम्बई ।

14- भारतीय दर्शन । ले0 वाचस्पति गैरोला । लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

15- भारतीय दर्शन भाग-1 - ले0 डा0 राधाकृष्णन अनुवादक श्री0 नन्दकिशोर गोभिल । 1969 में देहली से मुद्रित ।

16- भारतीयदर्शन, ले0 बी0के0लाल । भारतीभवन, इलाहाबाद । 1961 में प्रकाशित ।

17- भारतीय दर्शन की भूमिका - ले0 रामचन्द्रपाण्डेय । प्रकाशक - मोतीलाल बनारसीदास सन् 1969 ई

18- भारतीय विचारधारा, ले0 मधुकर । भारतीय ज्ञानपीठ काशी ।

19- भारतीयदर्शन - ले0 आचार्य पं0 बलदेव उपाध्याय । मुद्रक - सुदर्शन ।

20- भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप । ले0 डा0 श्री कृष्ण सक्सेना । चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी ।

21- मीमांसा - ले0 रामानन्दयति । दामोदरलाल गोस्वामी द्वारा सन् 1903 में चौखम्बा संस्कृत सीरीज से प्रकाशित ।

22- योगसूत्रभाष्यविवृतिः । व्याख्याकार डा0 सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव । प्रकाशक संयित्सूत्र ग्रन्थ - 1971 ई इलाहाबाद ।

23- योग दर्शन - सम्पादक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ । प्रकाशक पं0 श्रीरामशर्मा आचार्य प्रथम संस्करण - 1964 ई

24- योगदर्शनम् - योगसूत्रार्थबोधिनी और योगसिद्धान्तचन्द्रिका नामक व्याख्याओं से संवलित । ले0 नारायणतीर्थ - प्रकाशक चौखम्बा सीरीज बनारस से - 1911

25- योगदर्शनम् - भाषागणेशीय - नागोजी भट्टीयवृत्तिसहित । निर्णयसागर बम्बई तुकाराम जावजी द्वारा प्रकाशित - 1917 ई

26- योगसूत्र - भाष्य - भोज, ले0 भगवानदास - 1938 ।

27- योगदर्शनम् सवैदिक वृत्तिकम् - पं0स्वामि हरिप्रसाद परमहंस ।

28- लौकिक संस्कृत साहित्य - ए0बी0कीथ - अनुवादक श्री धारभक्त शास्त्री - चौखम्बा सं0 सीरीज बनारस - 1967 ।

29- वात्स्यायन भाष्य सहितम् - न्यायदर्शनम् - ले0 स्वामी द्वारिकादास शास्त्री ।

30- सांख्ययोगदर्शन - गोस्वामी दामोदर शास्त्री द्वारा वे0सं0 1991 बसन्त पंचमी में प्रकाशित ।

31- स्वामिनारायणभाष्य - ले0 आचार्य कृष्णवल्लभाचार्य - ज्योतिषप्रकाश प्रेस विश्वेश्वरगंज बनारस सिटी से सन् 1939 में प्रकाशित ।

32- सांख्यकारिका - ले0 ईश्वरकृष्ण ।

33- सांख्ययोगदर्शन का जीर्णोद्धार - ले0आचार्य हरिशंकर जोशी । प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी ।

सांख्यकारिका - चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी ।
34- ~~सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा - लेखक डा0 आद्याप्रसाद मिश्र~~

35- सरस्वतीकण्ठाभरण - भोजदेवप्रणीत

36- सांख्यदर्शन - सम्पादक - वेदमूर्ति तपोनिष्ठ - पं0श्रीरामशर्मा आचार्य - प्रकाशक संस्कृति संस्थान बरेली - 1964 ।

37- सांख्यदर्शन का इतिहास - ले0 विद्याभास्कर वेदरत्न, श्री पं0उदयवीरशास्त्री न्यायतीर्थ, सांख्ययोगतीर्थ, वेदान्ताचार्य । मुद्रक - श्री पं0 [illegible] बी0ए0, संचालक - सार्वदेशिक प्रेस, पाटौदी हाउस, दरियागंज, देहली ।

38 - सांख्यतत्त्वकौमुदी - प्रभा की हिन्दी व्याख्या । व्याख्याकार - डा0आद्याप्रसाद मिश्र । प्रकाशक - सत्य प्रकाशन - बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद - 1966 ।

39- सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा । डा0आद्याप्रसाद मिश्र । प्रकाशक सत्य प्रकाशन, इलाहाबाद - 1967 ।

40. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - ले० रामजी उपाध्याय, एम०ए० डीफिल । प्रकाशक - रामनारायनलाल बेनीमाधव ।

41. पूर्णयोग - श्री नलिनीकान्त गुप्त - जून 1946 ।

42. पातंजलयोगदर्शन - भारतीविद्या प्रकाशन - 1969 ।

43. लौकिक संस्कृत साहित्य - ले० ए०बी०कीथ - अनुवादक - श्री चारुचन्द्र शास्त्री चौखम्बा संस्कृत सीरीज - 1967 ।

44. 'मित्र वाणी' (वाचस्पति विशेषांक) अंधराठाढ़ी दरभंगा ।

*

45. A Study of Yoga. By Jajneshar Ghosh. Published 1933.

46. A History of Indian Philosophy By S.N.Das Gupta V.I

47. A Dictionary of Philsophy . Published in 1967.

48. A History of theSanskrit Literature. By Dr. V. Vardachari,Publisher Ram Narain Lal Beni Prasad. 1960.

49. An Introduction to Indian Philosophy by Satishchandra Chatterjee, and Dhirendra Mohan Datta. Published By Sibendranath. Calcutta University Press. May 1960.

50. Biographies and Philosophies of a few eminent Philosophers. Gauhati.

51. Bases of Yoga. By Sri Aurobindo. Publication- Arya Publishing House 1941.

52. Bibliography of Encyclopedia of Indian Philosophy. Moti Lal Banarsi Das Publication Vol. I, 1961.

53. Classical Samkhya. By Anima Sen Gupta. Published Lucknow, 1961.

54. History of India and Philosophy. Vol. II P.U. Mishra.

55. History of Poetics Vol. I. By S.K.De.

56. History of Philosophy Eastern and Western Vol. I Editorial Board Sarva Palli Radhakrishanan, 1952.

57. Indian Epistemology By Jwala Prasad.

58. Indian Philosophy Vol. II. By Dr. Radha Krishnan.

59. Indian Literature. By Winternitz.

60. Introduction to Indian Philosophy. By, Dutta Chaterjee.

61. Indian Philosophy. (A popular introduction) with a Foreword By Walter Ruben. Writer Debi Prasad Chattopadhyaya. May 1964

62. Lectures on Patanjali's Mahabhasya Vol. I By P.S. Subramanyam.

63. Lectures on Yoga and Vedanta. By. Sivanand. Publication The Sivanand Publication League. 1942.

64. Out Lines of Indian Philosophy By Hiriyanna.

65. Preface to the Samkhya Sutra Writti. By Garve.

66. Philosophy of India. By Heinrich Zimmer. Printed in 1951, 1953.

67. Secrets of Patanjali Yogas. Published from Farrukhabad in 1969.

68. Sanskrit And Maha Rashtria . Asymposium, Edited by R.N. Danekar. Poona , 1972.

69. Samkhya System By A.B.Keith

70. Studies in Indian Literary History Vol. I,By P.K.Gode. Published Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1953

71. Sarva Darshna Samgraha. By Sayana- Madhava. Published By, The Bhandarkarkar Oriental Research Institute, Poona, 1951.

72. Samkhya Aphorism of Kapila. Translated by James R. Ballantyne.

73. The Yoga Aphorisms of Patanjali, By R.Mitra. Published by the Asiatic Society of Bengal Calcutta, 1883.

74. The Yoga Sutras of Patanjali By M.N.Dvivedi, Published from Madras, 1934.

75. The Six Systems of Indian Philosophy by Max Muller Re-print, 1962.

76. The Nature of Mind. By G.P. Shukla.

77. The History and Culture of the Indian People. General Editor R.C. Majumdar. Published Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay.

78. The Bhojas By B. Western Deccan.

79. The Aufrecht Catalogus Catalogorum Part I.

80. Discriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts Madras.Printed by Madras Government Press , 1927.

81. Raja Yoga By Yogi Ramacharaka.By Yogi Publication Society.

82. The Essentials of Indian Philosophy. By M.Hiriyana.

83. The Study and Practice of Yoga. By Harvey Day.

84. Yoga System of Patanjali. By Woods. Moti Lal Banarsi Das Publication 1820.

85. Yoga Philosophy, By S.N.Das Gupta, Published by The University of Calcutta, 1930.

86. Yoga Uniting East and West. By Yesudian and Haich.

87. Yoga Yajnavalkya. Edited by Sri Prahlad C. Divanji, Bombay, 1954.

88. Patanjal Yoga Sutra By Bangali Baba.

LIST OF JOURNALS:

89. Ganga Nath Jha Institute Journal.

90. Calcutta University Journal.

91. The Poona Orientalist.

92. The Journal of the Bihar, Darbhanga.

93. Journal of Oriental Research, Madras.
